MAPH-106
भारतीय दर्शन का परिचय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 1

सांख्य दर्शन एवं योग दर्शन

इकाई – 1 3–10

सत्कार्यवाद का सिद्धान्त

इकाई – 2 11–20

प्रकृति और पुरूष

इकाई – 3 21–30

विकासवाद

इकाई – 4 31–46

योग दर्शन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

एम.ए.पी.एच.–106(MAPH-106)

सरंक्षक मार्गदर्शक

प्रो.के.एन. सिंह – कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

विशेषज्ञ समिति

डॉ.आर.पी.एस. यादव – निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

प्रो. रामलाल सिंह (से.नि.) – दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

प्रो.दीप नारायण यादव – दर्शनशास्त्र विभाग, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

प्रो. द्वारिका – विभागाध्यक्ष, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

प्रो. सभाजीत यादव – दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मागांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

लेखक

प्रो. सुरेन्द्र वर्मा – सेवानिवृत्त, 10 एचआईजी / 1 सर्कुलर रोड, प्रयागराज।

डॉ. श्यामकान्त – असिस्टेंट प्रोफेसर, आर्यकन्या डिग्री कालेज, इला0 वि.वि. प्रयागराज।

डॉ. अतुल कुमार मिश्र – शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

सम्पादक

प्रो. जटाशंकर – पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

परिमापक

प्रो. आर.पी.एस. यादव – निदेशक मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

समन्वयक

डॉ. अतुल कुमार मिश्र – शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

2023 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021

ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि अण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ें आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज– 211021

प्रकाशक – कुलसचिव, विनय कुमार, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज –2023

मुद्रक – के0 सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स , पंचवटी, मथुरा – 281003.

इकाई–1

सत्कार्यवाद का सिद्धांत

<u>इकाई की रूपरेखा</u>

1.0 उद्देश्य

1.1 प्राक्कथन

1.2 सांख्य दर्शन का सामान्य परिचय

1.3 कार्य कारण सिद्धांत

1.4 सत्कार्यवाद के पक्ष में युक्तियाँ

1.5 आविर्भाव और तिरोभाव

1.6 सारांश

1.7 प्रश्नावली

1.8 शब्दावली

1.9 पाठ्य पुस्तकें

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य पाठक को सांख्य दर्शन का सामान्य परिचय देना और विशेषकर उसके कारणता के सिद्धांत को स्पष्ट करना है। इस इकाई को पढ़कर पाठक यह जान सकेगा कि–

1. सांख्य का अर्थ क्या है और सांख्य दर्शन के कर्ता और व्याख्याता कौन हैं।
2. सांख्य दर्शन कितने प्रकार के कारण मानता है।
3. सत्कार्यवाद का सिद्धांत क्या है और वह असत्कार्य्वाद से किस तरह भिन्न है।
4. परिणामवाद क्या है और वह विवर्तवाद से किस प्रकार भिन्न है।
5. आविर्भाव और तिरोभाव का क्या अर्थ है।

1.1 प्राक्कथन

सांख्य दर्शन भारत के छः आस्तिक दर्शनों में से एक है। किन्तु यह पूरी तरह से वेदों पर निर्भर नहीं है। इसमें स्वतन्त्र विवेक से भी काम लिया गया है। इस दर्शन के मुख्य सिद्धांतों में इसका द्वैतवाद ,इसका विकास का सिद्धांत और सत्कार्यवाद जो इसका कारणता का सिद्धांत है, विशेष उल्लेखनीय हैं। इस इकाई में हमारा प्रयत्न यह होगा की हम इसके कारणता के सिद्धांत को, जिसे सत्कार्वाद कहा गया है, प्रस्तुत करें। इसके साथ ही साथ सत्कार्यवाद से सम्बंधित धारणाओं

को भी स्पष्ट कर दें। जैसे सत्कार्यवाद केवल दो कारणों को ही मानता है, उपादान और निमित्त कारणय यह परिणामवाद को स्वीकार करता है और किसी भी कार्य की, जिसका आविर्भाव हुआ है, (उसका तिरोभाव भले हो जाए,) की परिसमाप्ति में विश्वास नही करता।

1.2 सांख्य दर्शन का सामान्य परिचय

'सांख्य' शब्द का एक अर्थ 'सम्यक ख्यानम' अर्थात, सम्यक विचार है। इसको विवेक–बुद्धि भी कहा गया है। सांख्य दर्शन भावनाओं में बहता नहीं बल्कि विवेक–बुद्धि से ही काम लेता है। यह एक 'वैदिक' दर्शन है। वेदों को प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है। लेकिन ईश्वर की सत्ता को नकारता है। इस अर्थ में इसे नास्तिक दर्शन भी कहा जा सकता है। किन्तु कयोंकि वेद इसे मान्य हैं अतरू इसकी गणना "आस्तिक' दर्शनों में भी की गई है। सामान्य अर्थ में तो नहीं किन्तु पारिभाषिक अर्थ में यह आस्तिक दर्श न माना गया है। भारतीय दर्शन में वे सारे सम्प्रदाय जो वेदों को प्रमाण मानते हैं पारिभाषिक रूप से आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। निरीश्वरवादी सांख्य और ईश्वरवादी, किन्तु द्वैतवादी, योग दर्शन दृ ये दोनों ही उपनिषदों की दार्शनिक प्रवृत्ति से मेल नहीं खाते। शायद इसीलिए बाद्नारायण, जिन्होंने "वेदान्त सूत्र" की रचना की, बार बार यह प्रश्न करते हैं कि क्या सांख्य, उपनिषदों की शिक्षा से उत्पन्न एक दार्शनिक प्रणाली है? वे इसका नकारात्मक उत्तर देते हैं। लेकिन इससे यह भी सिद्ध होता है कि उस समय कुछ दार्शनिक ऐसे जरूर रहे होंगे जिन्होंने सांख्य दर्शन को उपनिषदों पर आधारित माना होगा और हो सकता है तब सांख्य दर्शन दैतवादी न होकर ईश्वर की एक निरपेक्ष सत्ता में विश्वास करता हो। बाद में जैन और बौद्ध दर्शनों के प्रभाव से आरंभिक सांख्य सम्प्रदाय ने ईश्वरवादी एकत्ववाद को अस्वीकार कर निरीश्वरवाद में ही संतोष कर लिया हो।

कपिल मुनि को सांख्य दर्शन का प्रणेता माना गया है। कपिल मुनि का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। कहा गया है कि वे ब्रह्मा के पुत्र हैं, विष्णु के अवतार हैं, इत्यादि। इन किंवदंतियों पर यदि हम ध्यान न भी दें तो भी यह तो मानना ही पडेगा कि कपिल एक ऐतिहासिक पुरुष तो अवश्य रहे हैं और वे सांख्य दर्शन के प्रवर्तक हैं। सांख्य दर्शन का आधार कपिल द्वारा रचित ग्रन्थ सांख्य सूत्र ही है। कपिल का समय बुद्ध से एक शताब्दी पहले का माना गया है।

सांख्य दर्शन पर बाद में लिखी गई ईश्वर कृष्ण की सांख्य कारिका आज सांख्य दर्शन का एक अतंत महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। इसके अतिरिक्त गौडपाद की सांख्यकारिका–भाष्य, वाचस्पति मिश्र की तत्व–कौमुदी तथा विज्ञानभिक्षु का सांख्य–प्रवचन भाष्य आदि, ग्रन्थ सांख्य दर्शन की अच्छी टीकाओं में से हैं।

1.3 कार्य कारण सिद्धांत

सांख्य दर्शन में कारण दो प्रकार के माने गए हैं – (1) उपादान कारण और (2) निमित्त कारण। उपादान वह द्रव्य है जिससे कोई वस्तु बनती है। यह कार्य रूप प्राप्त करने वाला कारण है। निमित्त कारण साधन–भूत कारण है, हेतु है – जैसे घट के निर्माण में कुम्हार। कुम्हार निमित्त कारण है और मिट्टी जिससे घट बना है, घट का उपादान कारण है। सांख्य दर्शन उपादान कारण को तो "कार्य" का एक रूप ही मानता है जो उसमें (अर्थात, उपादान कारण में) छिपा हुआ है।

मिट्टी घट में ही है और कार्य रूप में निमित्त कारण की सहायता से घट की तरह प्रकट होती है। निमित्त कारण जब उपादान कारण को बाहर से प्रभावित करता है तब उपादान कारण कारण में निहित "कार्य" व्यक्त कर पाता है। कुम्हार जब मिट्टी को बाहर से प्रभावित करता है तब उपादान कारण, मिट्टी में निहित "घट" व्यक्त हो पाता है। घड़े का उपादान कारण मिट्टी है, घडा मिट्टी में निहित है, अव्यक्त है, छिपा हुआ है। कुम्हार उसे व्यक्त करता है। मिट्टी में से घडा निकालता है। कुम्हार इस प्रकार निमित्त कारण हुआ जिसने मिट्टी में से घडा निकाल लिया। स्वयं कुम्हार मिट्टी के बाहर है। लेकिन वह बाहर से ही मिट्टी में छिपे घड़े को अभिव्यक्त कर देता है। इस कार्य के लिए कुम्हार कुछ अन्य सहायक वस्तुओं का भी प्रयोग करता है, जैसे, चक्का और डंडा जिससे चक्का घुमाया जाता है। कुछ अन्य अवस्थाओं से भी किसान बंधा हुआ है जैसे स्थान, काल (या समय) और वस्तु का स्वरूप। ये तीनों अवस्थाएं अनुकूल हों तभी उपादान कारण (मिट्टी) से कार्य (घट) को बाहर लाया जा सकता है।

सत्कार्यवाद बनाम असत–कार्यवाद–कारणता के सिद्धांत का मूल प्रश्न यह है कि क्या कारण में कार्य उत्पन्न होने से पहले वि।मान होता है? जो दार्शनिक इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक देते हैं, अर्थात यह कहते हैं कि कारण में कार्य पहले से निहित नहीं होता वे "असत्कार्यवाद" को मानने वाले कहे जाते हैं । इसके विपरीत जो दार्शनिक इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक देते हैं, अर्थात जो यह कहते हैं कि कारण में कार्य पहले से ही अव्यक्त रूप से निहित है वे "सत्कार्यवाद" को मानने वाले होते हैं। वैशेषिक दर्शन असद्कार्यवाद को मानता है। इसे "आरम्भ्वाद" भी कहा गया है। किन्तु सांख्य दर्शन "सतकार्यवाद" को स्वीकार करता है।

सत्कार्यवाद की परिभाषा–भगवद्गीता में सांख्य के सत्कार्यवाद को एक पंक्ति में कुछ इस प्रकार व्यक्त किया गया है– "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतरू" अर्थात, असत का भाव नहीं होता और अभाव में सत नहीं होता। दूसरे शब्दों में कार्य अव्यक्त रूप से कारण में रहता है तभी यह व्यक्त हो पाता है। उसका व्यक्त होना ही कार्य होना है। कारण से कार्य की उत्पत्ति का अर्थ "अव्यक्त से व्यक्त" होना है। कारण और कार्य में केवल स्वरूप भेद है ।कार्य अपने कारण में ही रहता है।

परिणामवाद – सांख्य यह भी मानता है कि कारण का कार्य के रूप में परिवर्तित होना अवास्तविकता नहीं बल्कि वास्तविक होता है। मिट्टी का घड़े के रूप में परिवर्तित होना, या, दूध का दही में बदल जाना केवल प्रतीत नहीं होता बल्कि यह परिवर्तन वस्तुतरू हो जाता है। मिट्टी घडा बन जाती है और दूध दही बन जाता है। सांख्य दर्शन इस प्रकार न केवल सत्कार्यवाद को मानता है बल्कि "परिणामवाद" भी स्वीकार करता है। परिणामवाद के अनुसार कारण का कार्य में परिवर्तन वास्तविक है। जो दार्शनिक इस बात को वास्तविक नहीं मानते, जैसे शंकराचार्य, वे "विवर्तवादी" कहे जाते हैं। इनके अनुसार कार्य में कारण का रूपान्तरण वास्तविक नहीं केवल आभास मात्र है।

धर्म परिणाम और लक्षण परिणाम–सांख्य के अनुसार परिणाम दो तरह के होते हैं। जब गुण का परिवर्तन होता है तो वह "धर्म–परिणाम" कहलाता है। लेकिन जब गुण में परिवर्तन नहीं होता केवल बाहरी रूप में परिवर्तन होता है तो इसे "लक्षण–परिणाम" कहते हैं। दूध का मलाई में बदल जाना लक्षण परिणाम है दृ ढूढ़ और मलाई के गुण एक से ही हैं। पचाए गए भू जन का जब खून बनाता है तो इसे धर्म–परिवर्तन कहा जाएगा। क्योंकि खून और भोजन के स्वरूप में ही अंतर

है। पर यहाँ ध्यान देने की बात यह भी है कि इन दोनों उदाहरणों में जो भी परिवर्तन है वह वास्तविक है। परिवर्तन का आभास मात्र नहीं है।

1.4 सत्कार्यवाद के पक्ष में युक्तियाँ

सांख्यकारिका में ईश्वरकृष्ण ने सत्कार्यवाद को सिद्ध करने के लिए पांच युक्तियाँ दी हैं।

1. असद्करणात अर्थात जो नहीं है, असत है, उसमें उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है (अकरण)। असत में कारण व्यापार नहीं हो सकता। अभाव से भाव का उदय भला कैसे हो सकता है! अतरू यदि कार्य कारण में पहले से ही मौजूद न हो तो आकाश कुसुम अथवा खरगोश के सींग की तरह हो जाता है जो कभी कुछ पैदा नहीं कर सकता। उत्पत्ति असंभव हो जाती है।

2. उपादानग्रहणात दृकार्य की उत्पत्ति के लिए एक विशेष कारण (उपादान की आवश्यकता है, यदि उपादान कारण में कार्य विद्यमान न हो तो उससे कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसलिए कार्य वास्तव में उपादान कारण की अभिव्यक्ति है। उपादान कारण के ग्रहण में कार्योत्पत्ति का भाव स्वतरू ही निहित है, वह उससे अनिवार्य रूप से सम्बंधित है।

3. सर्वसंभवाभावात – यदि उपादान कारण का कार्य से संबंध न होता तो किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो सकता था। परन्तु ऐसा अनुभव में नहीं आता। अतरू कार्य कारण में उत्पत्ति से पहले मौजूद होता ही है।

4. शक्तस्यशक्यकरणात – उत्पत्ति का अर्थ है अव्यक्त शक्ति को व्यक्त करना। अतरू जिस कारण में जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति होगी उससे वही कार्य उत्पन्न हो सकता है। यदि ऐसा न होता तो बालू से तेल निकल सकता था। लेकिन तेल तिल से ही निकलता है, बालू से नहीं। अतरू यह कहना बिलकुल सही है कि कार्य अव्यक्त रूप से कारण में पहले से निहित रहता है।

5. कारणभावात– कारण और कार्य में अभेद अथवा तादात्म्य है। अभिव्यक्ति के मार्ग से बाधाओं को हटा देने से कारण से कार्य आविर्भूत हो जाता है। अंतर केवल इतना ही है कि कारण कार्य की अव्यक्त अवस्था है और कार्य व्यक्त अवस्था है । कार्य उत्पत्ति से पहले कार्य में अवस्थित रहता ही है।

उपरोक्त युक्तियों को वर्णित करता हुआ पूरा श्लोक इस प्रकार है,

"असदाकरणादुपादानग्रह्णात सर्वसंभवाभावात।

शकतस्य शक्यकरणात कारणभावाच्वसत्कार्यम ।।

1.5 आविर्भाव और तिरोभाव

सांख्य दर्शन के अनुसार वे वस्तुएं जो पूरी तरह से विपरीत स्वभाव की हैं उनमें किसी प्रकार का कारणता का सम्बन्ध नहीं हो सकता। छिपे हुए को प्रकाश में लाना ही विकास है। विकास अव्यक्त को व्यक्त करना है। कारण की सुप्त शक्ति (Potentiality–पोटेन्शिएलिटी) को संचारित करना है। अव्यक्त से व्यक्त में

पारागमन ही विकास है। जिसे हम उत्पत्ति कहते हैं वह वस्तुतरू छिपी हुई शक्ति का "आविर्भाव" है, विकास है। सारी उत्पत्ति उद्भव के रूप में ही विकास है।

सत्कार्यवाद का सिद्धांत

इसका अर्थ यह भी हुआ कि समस्त विनाश अनुद्भव है, कारण का विकास का लुप्त हो जाना है। घड़ा टूटकर मिट्टी में मिल जाता है, यह घड़े का विनाश है। परिसमाप्ति कभी नहीं होती। सांख्य दर्शन इस प्रकार आविर्भाव और तिरोभाव् का सिद्धांत अपनाता है। तथाकथित उत्पत्ति, वस्तुतरू उद्भव और विकास ही है। इसी तरह तथातथित परिसमाप्ति, कार्य का कारण में तिरोभाव है। सामान्य अर्थ में न तो उत्पत्ति होती है और नही परिसमाप्ति। बस आविर्भाव और तिरोभाव होता है।

1.6 सारांश

सांख्य दर्शन यद्यपि वेदाश्रित दर्शन माना गया है किन्तु इसमें हमें स्वतन्त्र चितन की झलक मिलती है। यह निरीश्वरवादी हैय एकात्मवाद की बजाय इसमें द्वैतवाद को स्वीकार किया गया है। साथ ही बहुवाद की अराजकता से मुक्त है। हो सकता है, सम्यक ख्यानम (विचार) होने की वजह से यह सांख्य कहलाया हो । सांख्य दर्शन के प्रणेता कपिल मुनि हैं किन्तु ईश्वर कृष्ण की सांख्य–कारिका भी सांख्य दर्शन को व्याख्यायित करने एक बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

जहां तक कारणता के सिद्धांत का प्रश्न है सांख्य दर्शन केवल दो प्रकार के कारण मानता है, उपादान और निमित्त। सत्कार्यवाद को स्वीकार करता है। इसके अनुसार कारण में कार्य पहले से वि।मान रहता है। असत्कार्य्वाद इसे मान्य नहीं है। सांख्य के अनुसार कारण में कार्य अवयक्त रूप से रहता है। तभी वह व्यक्त हो पाता है। गीता में कहा गया है, "नासतो वि।ते भावो नाभावि।ते सत"। असत से सत की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ईश्वरचन्द्र ने सांख्य के सत्कार्यवाद के समर्थन में कई युक्तियाँ दी हैं।

सांख्य दर्शन कारणता के सन्दर्भ में परिणामवाद भी स्वीकार करता है। अर्थात वह मानता है कि कारण का कार्य रूप में परिवर्तित हो जाना वास्तविक है। कुछ दार्शनिक, जैसे शंकराचार्य, इसे वास्तविक नहीं मानते। वे विवर्तवाद का समर्थन करते हैं जिसके अनुसार परिवर्तन वास्तविक न होकर केवल आभासी है।

1.7 प्रश्नावली

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सांख्य दर्शन का एक सामान्य परिचय संक्षेप में दीजिए।
2. सांख्य सत्कार्यवाद की विवेचना किस प्रकार करता है? व्याख्या कीगिए।
3. ईश्वरचंद्र ने सत्कार्यवाद के सम्बन्ध में जो युक्तियाँ दी हैं उन्हे समझाइए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए

1. सांख्य का अर्थ

2. उपादान और निमित्त कारण
3. नास्तो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत
4. परिणामवाद
5. आविर्भाव और तिरोभाव

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सांख्य के प्रणेता का नाम बताइए।
2. सांख्यकारिका किसका लिखा हुआ ग्रन्थ है ?

निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत, चिह्नित कीजिए

1. सांख्य दर्शन विवर्तवाद का समर्थन करता है। (सही/गलत)
2. सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य व्यक्त रूप से कारण में रहता है। (सही गलत)
3. उपादान के अलावा सांख्य निमित्त कारण को भी स्वीकार करता है।

1.8 शब्दावली

1. सांख्य – संख्या संबंधी। विचार/विवेक करने वाला। 6 आस्तिक दार्शनिक सम्प्रदायों में से एक।
2. कपिल – सांख्य दर्शन के कर्ता ऋषि/मुनि। सांख्य–सूत्र के रचयिता।
3. ईश्वरचन्द्र – सांख्य दर्शन के मुख्य व्याख्याता। सांख्यकारिका के रचायेता।
4. उपादान – वह द्रव्य जिससे कोई वास्तु बने। कार्य–रूप प्राप्त करने वाला कारण।
5. निमित्त – साधन भूत कारण।
6. सत्कार्यवाद – वह सिद्धान्य जो कार्य को कारण में पहले से प्रसुप्त रूप नें निहित मानता है।
7. परिणामवाद – परिवर्तन को आभास या भ्रम न मानने वाला बल्कि वास्तविक मानने वाला सिद्धांत।
8. आविर्भाव – अभिव्यक्ति, वस्तु–धर्म।
9. तिरोभाव – तिरोधान, अन्तर्हित – लुप्त। परिसमाप्ति नहीं
10. धर्म–परिणाम – वस्तु के गुण में परिवर्तन आ जाना।
11. लक्षण परिणाम – वस्तु के केवल रूप में परिवर्तन आना।

1.9 पाठ्य पुस्तकें

1. Sharma, C D, Critical Survey of Indian Philosophy (Hindi version available)

2. Hiriyanna, M, Outlines of Indian Philosophy (Hindi version available)

3. Das Gupta S N, A History of Indian Philosophy (Hindi version available)

****

इकाई–2

प्रकृति और पुरुष

<u>इकाई की रूपरेखा</u>

2.0 उद्देश्य

2.1 प्राक्कथन

2.2 सांख्य का द्वैतवाद दृसामान्य परिचय

2.3 प्रकृति का स्वरूप

2.4 प्रकृति की त्रिगुणात्मकता

2.5 पुरुष का स्वभाव

2.6 द्वैतवाद की समालोचना

2.7 सारांश

2.8 शब्दावली

2.9 प्रश्नावली

2.10 पाठ्य पुस्तकें

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य पाठकों को सांख्य के द्वैतवाद से अवगत कराना है। इसमें हम निम्नलिखित विषयों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

(1) द्वैतवाद क्या है, सांख्य के द्वैतवाद में वे दो तत्व कौन से हैं जिन्हें मूल तत्व मानता है? (2) प्रकृति के स्वरूप और उसकी त्रिगुणात्मकताय सत, रज और तम से बने उसके अस्तित्व, को समझ सकेंगे। (3) पुरुष के स्वभाव, उसके चौतन्य स्वरूप को और उसके अनेकत्व को जान सकेंगे तथा (4) सांख्य की समीक्षात्मक विवेचना कर सकेंगे। 2.1–प्राक्कथन सांख्य दर्शन भारत के आस्तिक दर्शनों में एकमात्र ऐसा दर्शन है जिसने द्वैतवाद को स्वीकार किया है। द्वैतवाद वह दार्शनिक सिद्धांत है जिसके अनुसार सत्ता न एक है न अनेक। द्वैतवाद सत्ता के मूल तत्व दो निश्चित करता है। (यहाँ यह ध्यातव्य है की संस्कृत व्याकरण में एक वचन और बहुवचन के अलावा द्व–वचन भी होता है। जो बहुत कम भाषाओं में पाया जाता है। क्या पता द्वैतवाद का यह विचार सांख्य चिंतकों को संस्कृत व्याकरण से ही आया हो!) ये मूल तत्व पुरुष और प्रकृति के नाम से पुकारे गए है। किन्तु इन संज्ञाओं को सामान्य भाषा में हम जिसे पुरुष और प्रकृति कहते हैं उससे घपला नहीं करना चाहिए। सामान्य भाषा में पुरुष मनुष्य है। और इसी प्रकार सामान्य भाषा में प्रकृति में फूल पौधे इत्यादि आते हैं। किन्तु सांख्य दर्शन में ये दोनों पारिभाषिक पद है जो जगत की दार्शनिक व्याख्या के लिए मुख्य तत्व हैं।

सांख्य दर्शन का पुरुष चौतन्य स्वरूप है। अद्वैतवाद का ब्रह्म भी ऐसा ही है। किन्तु सांख्य दर्शन में पुरुष को अनेक कहकर उसे जीवात्माओं की कोटि में रख दिया। इसी तरह विचित्रसृजन करने वाली प्रकृति को सांख्य दर्शन में माया भी कहा है। माया का विस्तृत स्वरूप हमें अद्वैत दर्शन में ही मिलता है। किन्तु सांख्य दर्शन के ये सूत्र हमें इतना तो स्पष्ट करते ही हैं कि वेदान्त में इनकी समीक्षा ने अद्वैत दर्शन को वैचारिक विकास के लिए जगह दी है। अतः इसके महत्त्व को किसी तरह कम नहीं आंका जा सकता। यदि जैन दर्शन को अपवाद मान लिया जाए तो सांख्य द्वैतवाद भारत का एक अकेला दार्शनिक सम्प्रदाय है जिसमे जगत की दार्शनिक व्याख्या के लिए दो मूल तत्वों, पुरुष और प्रकृति, को, स्वीकार किया है।

2.2 सांख्य का द्वैतवाद–सामान्य परिचय

सांख्य शब्द का शब्दार्थ, 'संख्या संबंधी' है। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में दार्शनिक चर्चा का यह खासा विषय रहा कि अंतिम सत्ता एक है या अनेक। वेदान्त में इसे एक माना गया है जब कि वैशेषिक दर्शन अनेकत्ववादी है। एकत्ववाद संसार के अनेक तत्वों की अवहेलना करता प्रतीत होता है, जबकि बहुवाद अनेक तत्वों की वास्तविकता को स्वीकार कर एक प्रकार की दार्शनिक अराजकता को जन्म देता सा लगता है। इस अराजक स्थिति से उबरने के लिए और साथ ही एकत्व से उत्पन्न वस्तुओं की पहचान तक लुप्त होने से उन्हें बचाने के लिए, सांख्य दर्शन ने बीच का रास्ता अपनाकर मूल तत्वों की संख्या 'एक' अस्वीकार कर और 'अनेक' न मान कर "दो" पर्याप्त मानी। और इसे ही निश्चित किया। मूल तत्वों की इस प्रकार संख्या तय करने की वजह से ही शायद इस दार्शनिक सम्प्रदाय का नाम सांख्य पडा।

सांख्य दर्शन दो सत्ताए मानता है। वैशेषिक दर्शन अनेक सत्ताओं को मानता है। वेदांत दर्शन, खासतौर पर शांकर–वेदान्त, एक ही सत्ता को स्वीकार कर उसे अद्वैत कहता है। सांख्य दर्शन इन सभी से भिन्न द्वैतवादी है। यहाँ यह भी ध्यातव्य ही भारतीय आस्तिक दर्शनों में सांख्य दर्शन कदाचित द्वैतवाद का एक अकेला उदाहरण है जो पुरुष और प्रकृति में भेद करने वाली विवेक बुद्धि देता है। सांख्य बेशक एक संख्या संबंधी पद तो है ही किन्तु अपने नाम के अनुसार यह सम्यक "ख्यानम" विचार या विवेक बुद्धि से दार्शनिक चेतना को समृद्ध करने वाला सम्प्रदाय भी है।

सांख्य दर्शन का द्वैवाद अत्यंत प्राचीन दार्शनिक सिद्धांतों में से एक है। महाभारत काल में तो सांख्य मत, ऐसा प्रतीत होता है बहुत प्रभावशाली रहा होगा । गीता और महाभारत में इसका उल्लेख बार बार आता है, इसके समर्थन में भी काफी कुछ कहा गया है। बाद में इसकी ख्याति थोड़ी कम हो गई लेकिन फिर भी शंकराचार्य ने सांख्य दर्शन को ही वेदान्त का प्रमुख प्रतिद्वंदी, प्रधानमल्ल, माना है।

सांख्य के अनुसार ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि ज्ञाता और ज्ञेय में भेद किया जाए । हम विश्व के यदि सारे पदार्थों का– जीव–अजीव, सभी का – वर्गीकरण करें तो हम देखेंगे की वे सभी दो सत्ताओं के अंतर्गत आ जाते हैं – विषयी और विषय। वे सभी पदार्थ जो ज्ञान का विषय होते हैं, ज्ञेय हैं ओर वह सत्ता जो इन ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करती है, ज्ञाता है। ज्ञाता कभी ज्ञेय नहीं बन सकता और ज्ञेय कभी ज्ञाता नहीं होता। ये दोनों एक दूसरे के बिलकुल पृथक, नितांत विरोधी हैं। अतः मूल सत्ताएं केवल दो ही हुईं। सांख्य दर्शन ज्ञेय के लिए

प्रकृति और ज्ञाता के लिए पुरुष शब्द का उपयोग करता है। पुरुष और प्रकृति से बाहर कुछ नहीं है। इन दोनों का एकाकार भी नहीं हो सकता। इसी कारण सांख्य द्वैतवाद को स्वीकार करता है।

कुल मिलाकर सांख्य दर्शन में प्रकृति जड़ पदार्थ है, त्रिगुणात्मक है, देशकाल में स्थित सकिय और एक है, भोग्या है। अविद्या है और यही बंधन का कारण है। दूरारी ओर पुरुष चेतन और विषयी है, तीनों गुणों से परे, तटस्थ है। देशकाल से परे, निष्क्रिय और अनेक है। भोक्ता, मुक्त और ज्ञानस्वरूप है।

अब हम इन दोनों के स्वभाव की विस्तृत चर्चा करेंगे।

——

——

——

2.3 प्रकृति का स्वरूप

सांख्य दर्शन में 'प्रकृति' से आशय उससे नहीं है जिसे हम सामान्य बोलचाल की भाषा में प्रकृति कहते हैं। प्रकृति को यहाँ एक पारिभाषिक अर्थ में लिया गया है और उसे, जैसा कि ऊपर देख आए हैं, पुरुष के ठीक विपरीत स्वभाव का निरूपित किया गया है। यह जगत का मूल कारण है। आदि कारण है। यह सृष्टि से पूर्व (अ़कृति) है। जगत का प्रथम तत्व है। अतः यह 'प्रधान' कहलाती है। विकारों को उत्पन्न करने के कारण "प्रकृति' कहलाती है। "प्रकृति इति उच्यते विकारोत्पादकत्वात"। यह अविद्या कहलाती है क्योंकि यह ज्ञान की विरोधी है। "अविद्या ज्ञानविरोधित्वात"। यह माया कहलाती है क्योंकि यह विचित्र सृष्टि उत्पन्न करती है। "माया विचित्रसृष्टिकरत्वात"। अचेतन होने के कारण इसे जड़ कहा गया है। क्रियाशीलता की इसमें असीमित शक्ति होने के कारण इसे "शक्ति" भी कहा गया है।

प्रकृति का अनुमान—प्रकृति को हम देख नहीं सकते लेकिन इसका अनुमान लगा सकारे हैं। सत्कार्यवाद के अनुसार यदि कार्य उत्पन्न होने से पहले वह किसी कारण में रहता है तो विश्व के सभी पदार्थ किसी कारण में ही रहेंगे। कारण का कार्य में वास्तविक रूपांतरण होता है। तो वह कौन सा कारण है जिसका वास्तविक रूपांतरण विश्व के पदार्थों में होता है? पुनः विश्व के पदार्थों के कुछ कारण हैं— उन कारणों के कुछ कारण हैं। इस क्रम को हम कब तक बढावेंगे? अनावस्था दोष से बचने के लिए कहीं तो रुकना ही पडेगा। वह मूल कारण जिसके आगे हम बढ़ नहीं सकते, जो सभी पदार्थों का कारण है, और जिसका अपना कोई कारण नहीं है— प्रकृति है। वह स्वतन्त्र है। निरपेक्ष है। एक और शाश्वत है। उत्पत्ति और विकास के परे है। अतीन्द्रिय है। अव्यक्त है। कार्य तो कारणों पर अधीन है पर प्रकृ ति किसी पर अधीन नहीं है। प्रकृति नित्य है। उसकी न उत्पत्ति होती है और न विनाश होता है।

सांख्यकारिका में प्रकृति के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित पांच युक्तियाँ दी गईं हैं—

1. भेदानाम परिमाणात दृ जगत के सभी पदार्थ सापेक्ष और संत हैं, सीमित हैं। और जो स्वयं सीमित है विश्व को उत्पन्न करने वाला हो ही नहीं सकता। हम सांत से अनंत की ओर, सीमित से असीमित की ओर, अनेक

से एकत्व की ओर अभिमुख होकर अनंत असीमित प्रकृति की ओर पहुंचाते हैं जो सारे विश्व का स्रोत है।

2. भेदानाम समन्वयात – विश्व की वस्तुएं भिन्न भिन्न हैं। पर उनमें कुछ कुछ एक सामान भी होती हैं। इन्हीं सामान गुणों के कारण वे सुख–दुःख, उदासीनता आदि, के भाव उत्पन्न करती हैं। अतः, एक सूत्र में बांधने वाला एक ऐसा सामान्य कारण होना चाहिए जिसमें ये सारे गुण हों। प्रकृति ही सत रजस और तमस – सारे गुणों का स्रोत है ।

3. शक्तितः प्रवृतेश्च – सभी कार्य शक्ति संपन्न कारणों से ही संपन्न होते हैं। विकास का अर्थ ही अव्यक्त का व्यक्त होना है। क्रिया जो विकास का प्रवर्तन करती है विश्व कारण में निहित होना चाहिए। यह प्रकृति है।

4. कारणकार्यविभागात – विश्व में जितने भी कारण और कार्य हैं वे एक दूसरे से सम्बंधित हैं। विकास अंध नहीं होता, व्यवस्थित होता है। इस व्यवस्था का कोई न कोई आधार होना चाहिए। प्रकृति वह आधार देती है।

5. अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य – समस्त विश्व में एकत्व और अविभाग प्रतीत होता है। अनेक होते हुए भी विश्व के पदार्थों में एक प्रकार का सिलसिला और सातत्य दिखाई देता है, विश्व के इस संगठन के लिए भी हमें एक कारण मानना होगा और वह प्रकृति है।

2.4 प्रकृति की त्रिगुणात्मकता

प्रकृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण लक्षण उसका त्रिगुणात्मक होना है। सत, रज और तम उसके तीन गुण हैं। विश्व की हर वस्तु हममें सुख, दुःख या उदासीनता का भाव उत्पन्न करती है। इन तीनों भावों का आधार क्या है? यह प्रकृ ति ही है। प्रकृति के गुणों का हम प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, किन्तु वस्तुओं के प्रत्यक्ष से उत्पन्न अपने भावो से अनुमान तो लगा ही सकते हैं ।

सांख्य दर्शन के अनुसार सत, रज और तम की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं । प्रकृति के ये गुण वस्तुतरू गुण–धर्म न होकर द्रव्य हैं सांख्य में इन्हें पारिभाषिक रूप से "गुण" कहां गया है। जो सम्बन्ध एक रंगीन कपडे और उसके धागे में होता है वही सम्बन्ध प्रकृति और उसके गुणों में है। प्रकृति अपने गुणों से ही मानो बुनी हुई है । गुण ही प्रकृति और प्रकृति ही गुण हैं। वह इन गुणों से ही बंटी एक रस्सी के मानिद है।

सत गुण सुख, उत्साह और संतोष का द्योतक है। प्रकाश और ज्ञान सत की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। वस्तुओं की ऊर्ध्वमुखी गति भी सत से ही है। सफेद, धवल रंग भी सत का ही प्रतीक माना गया है। सत का अर्थ है, वास्तविक, अस्तित्ववान। सत बीज रूप चेतना है। यही कारण है कि सत गुण चेतन पुरुष के सबसे निकट माना गया है। प्रेम और आनंद सत से ही है। एक अन्य अर्थ में सत पूर्णता के लिए भी प्रयुक्त होता है। इसे 'सुखप्रकाशलाघव' भी कहा गया है ।

रजो गुण गति का सिद्धांत है। वायु में गति रजस के कारण आती है। रज से ही सत और तमस में गति आती है। यह दुःख का प्रवर्तक भी है। बेचौनी और

उत्तेजना का वाहक है। सतोगुण श्वेत है तो रजोगुण रक्तिम (लाल) हैं, सतो गुण शान्ति प्रदान करने वाला है तो रजोगुण उत्तेजना देने वाला है।

रजत गति का वाहक है तो तमस गति का अवरोधक है। यह क्रियाशीलता का विरोधी है। उदासीनता का पोषक है। अज्ञान और आलस्य का प्रवर्तक है। मोह इसी के कारण होता है। भार का प्रतीक है— मोह्गुरुत्व अवर्णो। इसका रंग काला है। अवर्ण है। इसी से बुद्धि, तेज, आदि, का प्रकाश फींका पड़ जाता है। अज्ञान उत्पन्न होता है। मनुष्य प्रमाद, आलस्य और निद्रा के वश में हो जाता है।

सरसरी तौर पर देखने पर ये तीनों गुण एक दूसरे के विरोधी लगते हैं किन्तु ये सदैव साथ कहते हैं। इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। प्रत्येक वस्तु में ये तीनों गुण बने रहते हैं। यह बात दूसरी है कि प्रत्येक गुण सह्योगी होने के साथ साथ साथ एक दूसरे को दबाने की कोशिश में भी रहता है। जिस किसी में जो गुण प्रबल हो जाता है वैसा ही उसका स्वभाव बन जाता है। लेकिन प्रबल गुण के साथ अन्य गुण भी गौड़ रूप से बने रहते हैं। जिसे हम सात्विक व्यक्ति कहते हैं, उसमें भी प्रायरू रजस और तमस गुण मिल जावेंगे। इन गुणों के कारण ही संसार की समस्त वस्तुओं को इष्ट, अनिष्ट और तटस्थ वर्गों में बांटा गया है। ये तीनों गुण निरंतर परिवर्तनशील हैं। एक क्षण के लिए भी अविकृत नहीं रह सकते। विकार इनके स्वभाव में है।

आरम्भ में ये तीनों गुण प्रकृति में "साम्यावस्था" में रहते है। उस समय इनमें कोई विरोध नहीं रहता। गुणों का एक प्रधान लक्षण है कि ये क्रियाशील हैं। इनमें सदा क्रिया होती रहती है। यह क्रिया प्रकृति की साम्यावस्था में भी चलती रहती है। पर साम्यावस्था में इसी क्रिया से प्रकृति में कोई गड़बड़ी पैदा नहीं होती। एक तनाव की अवस्था रहती है जो न क्रियाशील कही जा सकती है और न ही निष्क्रिय। वस्तुतरू साम्यावस्था कोई ऐसी समन्वयात्मक अवस्था नहीं होती कि यह सभी गुणों में परस्पर मेल की स्थिति का निर्माण करे।

प्रकृति स्वयं को व्यक्त कर सके इसलिए यह आवश्यक है कि सृष्टि के पूर्व की प्रकृति की इस तथा–कथित साम्यावस्था को तोड़ा जाए, किन्तु प्रकृति स्वयं यह कार्य नहीं कर सकती क्योंकि वह स्वयं अचेतन और अव्यक्त है। वह खुद ही व्यक्त होने का निर्णय नहीं ले सकती। प्रकृति को विचलित करने के लिए चेतन तत्व की उपस्थिति आवश्यक है जो उसकी सहायता कर सके। विकास में पुरुष की भूमिका बस यहीं पर है। प्रकृति यदि अचेतन है तो पुरुष चेतन तत्व है।

2.5 पुरुष का स्वभाव

सांख्य दर्शन के द्वैतवाद में यदि एक तत्व प्रकृति है तो दूसरा पुरुष है। इनमें किसका वर्चस्व अधिक है, कहना मुश्किल है। सृष्टि के लिए किसी की भी भूमिका को कमतर नहीं माना जा सकता। यों सरसरी तौर पर देखने से दोनों एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं। पुरुष चेतन है तो प्रकृति जड़ है, पुरुष विषयी है तो प्रकृति विषय है, पुरुष तटस्थ है तो प्रकृति त्रिगुणात्मक है, इत्यादि। किन्तु सृष्टि के विकास के लिए दोनों एक दूसरे के सहायक हैं, पूरक हैं। विरोधी नहीं हैं।

पुरुष को चेतन कहा गया है पर वह कोई ऐसा द्रव्य नहीं है की चेतना जिसका गुण हो। वह स्वयं शुद्ध चौतन्य है। चेतना ही पुरुष है। चार्वाक दर्शन में भौतिक पदार्थों के मेल से चेतना का आविर्भाव होता है और जैन दर्शन में चेतना

को जीव का गुण माना गया है, पर सांख्य स्वयं चेतना को ही पुरुष (आत्मा) मानता है। वह भौतिक पदार्थों से प्रभावित कोई वस्तु नहीं है। वह स्वतन्त्र है, मुक्त है। विषय न होकर विषयी है। ज्ञेय न होकर ज्ञाता है वह ज्ञान–स्वरूप है। पुरुष को प्रकाश स्वरूप भी कहा गया है। उसी के प्रकाश से सभी ज्ञेय वस्तुएं प्रकाशित होती हैं, चेतना में आती हैं। उसके बिना ज्ञान अंधा है। उसे प्रकाशित करनेवाला कोई नहीं है।

पुरुष साक्षी है, दृष्टा है। वह नाटक का पात्र न होकर केवल दर्शक है। सभी परिवर्तनों और क्रियाओं से तटस्थ, देश–काल से परे, अनुभवातीत है। सांख्य दर्शन में उसे "साक्षी, केवल (मात्र) मध्यस्थ, दृष्टा और अकर्ता" कहा गया है।

- सांख्य दर्शन में पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित पांच तर्क दी गए हैं

(1) संघात परार्थत्वात – विश्व में जितने भी पदार्थ और पदार्थ से बने संघात हैं वे स्वयं अचेतन वस्तुओं के लिए न होकर किसी न किसी अन्य, दूसरे प्रयोजनशील और चेतन प्राणी के लिए होते हैं। वे परार्थ हैं। इसी तरह भौतिक जगत जो चेतन नहीं है एक चेतन तत्व की अपेक्षा करता है। विषय विषयी की ओर संकेत करता है। पुरुष ही वह चेतन तत्व है। सारे विश्व का आयोजन पुरुष के लिए ही हुआ है। पुरुष के अस्तित्व के लिए इसे हम रचना या आयोजन–युक्ति (आर्ग्युमेंट फ्रॉम डिजाइन) कह सकते हैं।

(2) त्रिगुणादिविपर्ययात – विश्व के सभी पदार्थ तीन गुणों से भिन्न भिन्न अनुपात में युक्त हैं। ये पदार्थ एक ऐसे तत्व की ओर संकेत करते हैं जो इन गुणों से परे हो और इनका साक्षी हो, ज्ञाता हो। त्रिगुणों में निस्त्रै–गुण्य (गुणों का विपर्यय) की अवधारणा निहित है। गुण हैं तो कुछ न कुछ गुणातीत भी होगा। यह "तार्किक दृयुक्ति" (लोजिकल आर्ग्युमेंट) कहा जा सकता है।

(3) अधिष्ठानात – हमारे जागतिक अनुभवों का कुछ न कुछ अधिष्ठान होना चाहिए जो स्वयं अनुभव का विषय न होकर अनभव से परे हो – अनुभव की पूर्वमान्यता हो। पुरुष इसी मान्यता की ओर संकेत करता है। इसे हम "प्रत्यय–सत्ता युक्ति" (औनटोलोजिकल आर्गुमेंट) कहा सकते हैं।

(4) भोक्तऋभावात – विश्व के सभी पदार्थ भोग्य हैं। उन सभी में भोग्यता का भाव निहित है। ऐसे में उनका कोई भोक्ता भी होना चाहिए। यह भोगने वाला पुरुष ही है। वस्तुएं स्वयं अपना उपभोग नहीं करतीं। इस युक्ति को नैतिक युक्ति कहा जा सकता है

(5) केवाल्यार्थ प्रवृते – संसार में अनेक लोग मुक्ति या मोक्ष या केवली के आकांक्षी होते हैं। वे सुख दुःख से परे हो जाना चाहते हैं। इस तरह आकांक्षी होना पुरुष की सत्ता, जो स्वयं त्रिगुणातीत है, के बिना संभव नहीं है। इसे धार्मिक युक्ति कहा जा सकता है।

उपरोक्त सभी तर्क आलोचना से परे नहीं हैं। यों कहने के लिए वे "पुरुष" की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए दिए गए हैं किन्तु वे वस्तुतः जीवात्मा की सत्ता को प्रमाणित करते हैं न कि उस पुरुष की सत्ता को जो द्वैतवाद के दो तत्वों

में से एक है । सांख्य दर्शन में जीवात्मा और पुरुष की सत्ता में जबरदस्त घपला हुआ है ।

- सांख्य दर्शन में 'पुरुष' की अनेकता

सांख्य दर्शन पुरुष को एक न मानकर अनेक मानता है। यह पुरुष के अनेकत्व में ठीक उसी तरह विश्वास करता है जैसे जैन मत जीव की अनेकता स्वीकार करता है। अनेकता के प्रमाण में सांख्य दर्शन में अनेक तर्क दिए गए हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं

(1) सभी मनुष्यों के जन्म और मरण में अंतर होता है, इन्द्रियों के व्यापार भी भिन्न भिन्न रूप से नियंत्रित होते है। इन्द्रियों की संरचना भी अलग अलग होती है। इससे पता चलता है कि पुरुष एक नहीं है। यदि एक होता तो मनुष्यों की इन्द्रियाँ और उनके सारे व्यापार एक से होते।

(2) सभी मनुष्यों की प्रवृत्तियाँ भी सामान नहीं होतीं। सबकी अलग अलग विषयों में दिलचस्पी होती है। कुछ लोगों में शुरू से ही विषयों के प्रति निवृत्ति होती है। यदि पुरुष एक होता तो सभी में एक समान ही प्रवृत्ति या निवृत्ति होती, लेकिन ऐसा नहीं है। अतः पुरुष की अनेकता।

(3) सभी मनुष्यों में त्रिगुण (सत, रज और तम) तो पाए जाते हैं लेकिन किसी भी मनुष्य में वे समान रूप से उपस्थित नहीं होते। किसी में सत प्रधान है तो किसी में रज या तम प्रधान है। यदि एक ही पुरुष होता तो सभी में गुणों का समान वितरण होता।

2.6 द्वैतवाद की समालोचना

सांख्य दर्शन का दार्शनिक दृष्टिकोण जिसमें प्रकृति और पुरुष को दो विरोधी मूल तत्व मानकर द्वैतवाद की स्थापना की गई है और साथ ही निस्सीम पुरुष की अनेकता को स्वीकार किया गया है, दर्शन की मुख्य समस्या का संतोषजनक समाधान प्रस्तुत नहीं करता।

सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति हमारे अनुभव पर आधारित अनुमान द्वारा निर्मित सिद्धांत हैं। वे तथ्य नहीं हैं। तथ्यों से परे वे तथ्यों की व्याख्या करने वाले नियम हैं। पुरुष गुणातीत है। शुद्ध चेतना है। इसे जीवात्मा से अलग समझा जाना चाहिए। जीवात्मा प्रकृति पर आधारित है। इसीलिए हम उसको निश्चित गुणों से विभूषित कर सकते हैं। जीवात्मा के संदर्भ में अनेकता विवादित मुद्दा नहीं है। लेकिन सांख्यदर्शन में हम पुरुष और जीवात्मा के बीच निरंतर एक भ्रम की स्थिति पाते हैं। विभिन्न, परिवर्तन और क्रियाशीलता से परे "पुरुष" अनेक नहीं हो सकता। सारे के सारे तथाकथित तर्क जो पुरुष की अनेकता के लिए दिए गए हैं वस्तुतः जीवात्माओं की अनेकता सिद्ध करते हैं।

सांख्य दर्शन में प्रकृति की अवधारणा भी दोष रहित नहीं है। यह भी हमारे अनुभव पर अनुमान द्वारा निर्मित सिद्दांत है। इसे अव्यक्त कहा गया है। अव्यक्त प्रकृ ति में तीनों गुण, सत, रज और तम, साम्या– वस्था में है। लेकिन ये तीनों ही गुण एक दूसरे के विरोधी हैं। वे साम्यावस्था में रह ही नहीं सकते। उनमें किसी प्रकार का समन्वय संभव नहीं है। अतरू यह अवस्था वस्तुतरू तनाव की अवस्था है। जिसमें प्रकृति न तो क्रियाशील है और न ही निष्क्रिय। प्रकृति की इस अवस्था को तोड़ने के लिए ताकि अव्यक्त प्रकृति व्यक्त हो सके किसी चेतन तत्व की

आवश्यकता है जो स्पष्ट ही पुरुष है। लेकिन पुरुष स्वयं ही प्रकृति का विरोधी तत्व है। अतरू ये दोनों परस्पर संपर्क में आ ही नहीं सकते। उनके बीच संपर्क के लिए सांख्य दर्शन में जितनी भी उपमाएं दी गईं हैं वे सभी आनुभविक जगत से ली गईं हैं। वे प्रकृति और पुरुष के संपर्क के लिए सही नहीं बैठतीं क्योंकि पुरुष और प्रकृति दोनों ही अनुभवातीत हैं।

द्वैतवाद की कठिनाइयां तब तक दूर नहीं हो सकतीं जब तक कि सांख्य दर्शन यह स्वीकार न कर ले कि पुरुष और प्रकृति से उच्चतर एक इकाई है जिसके ये दोनों पक्ष हैं। किन्तु ऐसा करने पर उसे अपनी द्वैतवादी प्रतिज्ञा से हटना पडेगा। वैसे यदि ध्यान से देखें तो सांख्य–योग में पुरुष की अवधारणा शंकर वेदान्त में आत्मन की परिकल्पना से बहुत निकट है। दोनों ही व्यावहारिक जगत से परे हैं।

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में देकार्त भी एक द्वैतवादी दार्शनिक हैं। उन्होंने ने मन और शरीर का द्वैत निर्मित किया जो बहुत कुछ पुरुष और प्रकृति की तरह ही है। दोनों एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। लेकिन देकार्त इन दोनों को द्रव्य मानता है। सांख्य का पुरुष द्रव्य नहीं है, क्योंकि द्रव्य होना ज्ञेय होना है, जब कि पुरुष शुद्ध चेतना है, ज्ञाता है।

2.7 सारांश

सांख्य एक द्वैतवादी दर्शन है जो समस्त व्याख्या के लिए दो तत्वों को स्वीकार करता है। पुरुष और प्रकृति। प्रकृति जड़ पदार्थ है, त्रिगुणात्मक है, देश काल में स्थित सक्रीय और एक है। भोग्या, अविद्या है और यही बंधन का कारण है। दूसरी और पुरुष चेतन और विषयी है, तीनों गुणों से परे तटस्थ है। देश–काल से परे निष्क्रिय और अनेक है।

प्रकृति जगत का मूल कारण होने से "प्रधान" कहलाती है। किसी समय इसकी क्योंकि रचना नहीं हुई अतः "अ़कृति" कहलाती है। विकारों को उत्पन्न करने वाली है। ज्ञान विरोधी "अविद्या" है। विचित्र सृष्टि करने वाली "माया" है। असीमित क्रियाशील होने से "शक्ति" है।

प्रकृति अनुमान का विषय है। सांख्यकारिका में इसके लिए पांच प्रमाण दिए गए हैं। सत, रज और गुणों से बुनी गई प्रकृति त्रिगुणात्मक है। सत प्रकाश का, रज ऐश्वर्य का और तम अन्धकार का प्रतीक है। हर व्यक्ति में ये तीनों ही गुण होते है किन्तु इनकी प्रबलता और मात्रा भिन्न भिन्न होती है। प्रकृति में ये गुण साम्यावस्था में रहते हैं। प्रकृति स्वयं इनकी साम्यावस्था को तोड़ नहीं सकती। चेतन पुरुष इस साम्यावस्था को तोड़ता है और तभी सृष्टि संभव हो पाती है।

संख्य के द्वैतवाद में दूसरा तत्व पुरुष है। पुरुष शुद्ध चौतन्य है। साक्षी, दृ ष्टा और अकर्ता है। पुरुष भी अनुमान का ही विषय है और इसके लिए भी पांच प्रमाण दिए गए हैं। सांख्य दर्शन में पुरुष अनेक बताए गए हैं और उसकी अनेकता को सिद्ध करने के लिए एकाधिक तर्क भी दिए गए हैं। पुरुष को अनेक बताने में सांख्य पुरुष और जीवात्मा में जबरदस्त घपला करता है। वह वस्तुतरू जीवात्मा की अनेकता पुरुष पर आरोपित कर देता है।

सांख्य का द्वैतवाद अपने ही विरोधाभासों से टिक नहीं पाता। शुद्ध चौतन्य होते हुए भी पुरुष अनेक चेतन व्यक्तियों में अपने अस्तित्व को खोजता है। विरोधी

गुणों से बिनी गई प्रकृति साम्यावस्था में रहती है, और उसकी साम्यावस्था वह पुरुष तोड़ता है जो स्वयं निष्क्रिय है

2.8 शब्दावली

(1) प्रकृति – सांख्य दर्शन का एक पारिभाषिक पद जो उसके द्वैतवाद के दो मूल तत्वों में से एक है। इसे त्रिगुणात्मक माना गया है

(2) पुरुष – सांख्य दर्शन के दो मूल तत्वों मे से यह भी एक तत्व है जो चेतन्य स्वरूप है। सामान्य भाषा में जिसे हम पुरुष कहते हैं उससे भ्रमित नहीं होना चाहिए।

(3) साम्यावस्था – त्रिगुणात्मक प्रकृति की सृजन–पूर्व अवस्था जिसमे उसके सत, रज और तम अविचलित स्थिति में रहते हैं}

(4) त्रिगुण दृ सत, रज और तम, प्रकृति के तीन गुण। प्रकृति का पूरा ताना–बाना इन्हीं से बुना हुआ है।

(5) द्वैतवाद दृ दर्शन का वह सिद्धांत जिसमे मूल सत्ता में दो तत्वों को स्वीकार किया गया है।

2.9 प्रश्नावली

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) सांख्य दर्शन का सामान्य परिचय देते हुए, बताइए कि यह सम्प्रदाय अन्य वैदिक सम्प्रदायों से किस प्रकार भिन्न है।

(2) सांख्य दर्शन के द्वैतवाद को स्पष्ट करते हुए इसकी समीक्षा कीजिए।

(3) सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसके गुणों की व्याख्या कीजिए। उसके त्रिगुणात्मक स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

(4) पुरुष के स्वभाव को स्पष्ट कीजिए। उसको प्रमाणित करने के लिए सांख्य दर्शन में दी गई युक्तियों की समीक्षा कीजिए।

(5) सांख्य दर्शन में पुरुष की अनेकता को प्रमाणित करने के लिए क्या तर्क दिए गए है? ये तर्क कहां तक संतोषप्रद हैं?

(6) सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष और प्रकृति के स्वभाव की तुलनात्मक व्याख्या कीजिए। क्या इन दोनों के बीच कोई सहयोग ध्सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है ?

लघु उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए

(1) पुरुष का अनेकत्व

(2) प्रकृति की त्रिगुणात्मकता

(3) साम्यावस्था

(4) क्या सांख्य दर्शन का शुमार निरीश्वरवादी दर्शनों में किया जा सकता है? अपने उत्तर की पुष्टि कीजिए ।

(5) सांख्य दर्शन में प्रकृति को "अकृति" "माया' और 'प्रधान" क्यों कहा गया है ?

2.10 पाठ्य पुस्तकें

(1) Sharma, C.D, A Critical Survey of Indian Philosophy (Hindi version available)

(2) Hiriyanna M, Outlines of Indian Philosophy (Hindi version available)

(3) Das Gupta, A History of Indian Philosophy (Hindi version available)

****

इकाई–3

विकासवाद

<u>इकाई की रूपरेखा</u>

3.0 उद्देश्य
3.1 प्राक्कथन
3.2 विकास की प्रक्रिया
3.3 विकास का क्रम
3.4 विकासवाद की कठिनाइयां
3.5 सारांश
3.6 शब्दावली
3.7 प्रश्नावली
3.8 पाठ्य पुस्तकें

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य पाठको को सांख्य दर्शन के अनुसार विश्व के विकास के बारे में बताना है। सांख्य विकास का उपादान और निमित्त कारण "प्रकृति" को मानता है किन्तु प्रकृति अकेले स्वयं को अभिव्यक्त नही कर सकती। इसके लिए उसे 'पुरुष' से सहायता लेनी पड़ती है। यह सहायता उसे कैसे मिलती है, प्रकृति की साम्यावस्था टूटने के बाद प्रथम विकासज क्या है? बाद में विकास का क्रम किस तरह आगे बढ़ता है, आदि, प्रश्नों का समाधान किया गया है। विकास यांत्रिक होता है या यह प्रयोजनात्मक है, विकासज विकास के परिणाम होते हैं या आविर्भाव हैं, इन प्रश्नों से जूझते हुए सांख्य के विकासवाद की समालोचना भी की गई है।

3.1 प्राक्कथन

सांख्य दर्शन भारत का एक मात्र द्वैतवादी और पारिभाषिक अर्थ में आस्तिक दर्शन है जो प्रकृति को विकास का कारण मानता है। वह अपने सत्कार्यवाद के सिद्धांत के अनुसार प्रकृति में ही विश्व को अवक्त रूप से निहित मानता है। विश्व का विकास प्रकृति की अभिव्यक्ति मात्र है। किन्तु प्रकृति को इस अभिव्यक्ति के लिए चौतन्य पुरुष की सहायता लेनी पड़ती है। पुरुष के सहयोग से ही प्रकृति की साम्यावस्था विचलित होती है और पहला विकासज "महत" पैदा होता है। सारे विकास–क्रम के मूल में महत, अर्थात बुद्धि–तत्व की उपस्थिति बनी रहती है और विकास पूर्णतरू यांत्रिक होने से बच जाता है। विहासज परिणाम मात्र नही रहते बल्कि उनका आविर्भाव होता है। सारे विकास का प्रयोजन पुरुष के हित के लिए

है। विकास पुरुष के उपभोग की सामग्री जुटाता है और साथ ही उसे मोक्ष का रास्ता भी सुझाता है। विकास का यह सिद्धांत सरसरी तौर पर बड़ा आकर्षित करता है किन्तु यह अनेक विरोधाभासों से भरा हुआ है और तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

3.2 विकास की प्रक्रिया – जो निहित है वही विहित होता है

सांख्य–योग दर्शन में कारणता के सिद्धांत की चर्चा करते समय हम यह बता चुके हैं कि सांख्य सत्कार्यवाद में विश्वास करता है और सत्कार्यवाद के अनुसार 'कारण' का 'कार्य' में वास्तविक रूपान्तरण होता है। हम यह भी बता चुके हैं कि सांख्य के अनुसार 'प्रकृति' ही विश्व का मूल कारण है। अतः 'प्रकृति' में ही सारा विश्व अव्यक्त रूप से निहित होना चाहिए। प्रकृति विश्व का उपादान कारण है।

प्रकृति त्रिगुणात्मक है। सत, रज और तम–ये तीनों ही गुण जब साम्यावस्था में रहते हैं, तब यह स्थिति 'प्रकृति' कही जाती है। त्रिगुणों की साम्यावस्था ही प्रक्रति है। जब तक यह साम्यावस्था विचलित नहीं होती विकास संभव नहीं होता । अर्थात, प्रकृति विश्व रूप में परिवर्तित नहीं हो पाती।

स्वरूप और विरूप परिवर्तन – विकास में परिवर्तन निहित है और यह परिवर्तन दो प्रकार का होता है। (1) विरूप परिवर्तन और (2) स्वरूप परिवर्तन। गुणों में जब कुछ इस प्रकार का परिवर्तन होता है कि कोई एक गुण अन्य गुणों पर हावी हो जाए तो इसे विरूप परिवर्तन कहते हैं। जब यह विरूप परिवतन पुनरू अपने स्वरूप में आ जाता है तो यह स्वरूप परिवर्तन कहलाता है। हम घड़े की मिसाल से इसे अच्छी तरह समझ सकते हैं। घना मिट्टी का 'कार्य' है। उपादान कारण मिट्टी है। घडा मिट्टी का तत्वांतर परिणाम है। उसे मिट्टी से अलग नहीं किया जा सकता। कारण–मिट्टी ही घड़े के रूप में कार्य–मिट्टी हो जाती है। लेकिन यही घडा जब टूट कर फिर मिट्टी बन जाता है/बन सकता है तो वह अपने मूल स्वरूप में –मिट्टी के रूप में – वापस आ जाता है। यह उसका स्वरूप परिवर्तन है।

ठीक इसी तरह प्रकृति से सृष्टि हो जाना किसी नई रचना को जन्म देना नहीं है। प्रकृति जब तक साम्यावस्था में रहती है उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। सत अभिव्यक्ति का सिद्धांत है, रज क्रियाशीलता का सिद्धांत है। साम्यावस्था में ये दोनों तम द्वारा नियंत्रित रहते हैं क्योंकि तम अनाभिव्यक्ति और निष्क्रियता का सिद्धांत है। लेकिन जब रज स्पंदित होता है और अन्य गुणों को भी स्पंदित करता है तो विकास की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। सृष्टि, इस प्रकार, जगत की वस्तुओं की कोई नई रचना नहीं है। यह उनकी केवल अभिवयक्ति है। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रलय के समय गुणों में सजातीय स्वरूप परिवर्तन हो जाता है। सत्व सत में मिल जाता है, रज रजस में और तम तमस में।

- विकास का चक्रीय और उद्गामी स्वरूप

सांख्य दर्शन में विकास की प्रक्रिया रेखीय न होकर चक्रीय मानी गई है। प्रगति एक दिशा में नहीं होटी। सर्ग और प्रलय के चक्र में विकास घूमता रहता है। दोनों अवस्थाएं बारी बारी से आती रहती हैं। वह जिसे हम सृजन कहते हैं प्रकृति का मात्र अभिव्यक्त होना है। जो निहित है वही विहित होता है । फिर भी सांख्य में

विकास को उद्गानी विकास कहा गया है क्योंकि परिणाम स्वरूप जो अभिव्यक्त होता है, वह कारण से भिन्न होता है, भले ही उससे स्वतन्त्र न हो। कारण और कार्य में तात्विक अंतर है। बेशक घडा मिट्टी का है– उसे मिट्टी से अलग नहीं किया जा सकता, मिट्टी में ही उसका उद्गम है– लेकिन घडा मिट्टी का परिणाम मात्र नहीं है। वह एक नया स्वरूप है जो मिट्टी से स्वरूप से बिलकुल भिन्न है। मिट्टी का वह तत्वांतर परिणाम है।

➢ विकास यांत्रिक न होकर प्रयोजनात्मक है

क्योंकि विकास में कार्य–स्वरूप जो प्रकट होता है वह मात्र परिणाम (resultant) न होकर तत्वांतर परिणाम या उद्गामी परिणाम (emergent) होता है इसलिए हम इस प्रकार के विकास को पूरी तरह यांत्रिक नहीं कह सकते। किन्तु इसे पूरी तरह आध्य्यात्मिक भी नहीं कहा जा सकता। विकास का उद्देश्य यहाँ किसी आध्यात्मिक मूल्य, जैसे सत्यम, सुन्दरम या शिवम्, की उपलब्धि भी नहीं है। इस प्रकार के विकास को हम अधिक से अधिक प्रयोजनमूलक कह सकते हैं। इस विकास में प्रकृति और पुरुष दोनों ही के प्रयोजन सधते दिखाई देते हैं। प्रकृति अपने गुणों और उनसे उत्पन्न सभी वस्तुओं से पुरुष के उद्देश्य को साधती है। पुरुष का उद्देश्य या तो सांसारिक भोग है या फिर मोक्ष या अपवर्ग है। पुरुष को भोग और योग, दोनों के ही लिए प्रकृति की आवश्यकता है। इस प्रकार विकास "पुरुषस्य भोगार्थम" या/और 'मोक्षार्थं' है। दूसरी ओर विकास प्रकृति का व्यक्त होना है। विकास न होता तो प्रकृति अव्यक्त की अव्यक्त ही रह जाएगी। अतरू कहा जा सकता है कि विकास "प्रकृति दर्शानार्थम" भी है।

➢ पुरुष–प्रकृति का साहचर्य

विकास के क्रियान्वन के लिए पुरुष और प्रकृति का साहचर्य अत्यंत आवश्यक है। किन्तु यह कैसे संभव हो? पुरुष और प्रकृति एक दूसरे के विरोधी सिद्धांत हैं। पर जहां एक ओर पुरुष को मोक्ष या/और भोग के लिए प्रकृति की आवश्यकता है वहीं दूसरी ओर प्रकृति को व्यक्त होने के लिए पुरुष की जरुरत है। पुरुष, जैसा कि मुहावरा है, बिना प्रकृति के पंगु है और प्रकृति बिना पुरुष के अंध है। पुरुष निष्क्रिय है और प्रकृति चेतन नहीं है। फिर विकास कैसे संभव हो ? सांख्य दर्शन अंधे और लंगड़े व्यक्ति की उपमा देकर पुरुष और प्रकृति में सहचारी सम्बन्ध की बात करता है। किन्तु अंधे और लंगड़े व्यक्ति दोनों ही चेतन हैं। इसलिए साहचर्य संभव हो सका है। किन्तु प्रकृति तो चेतन है ही नहीं ! इस कठिनाई को देखते हुए सांख्य दर्शन ने प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध को वास्तानिक न बताकर पुरुष का प्रकृति से सानिध्य ही काफी बताया। जैसे गाय के थनों में बछड़े के सानिध्य मात्र से दूध उतर आता है। यह उपमा भी दोष रहित नहीं है। क्योंकि प्रकृति की साम्यावस्था में देश–काल या निकट–दूर की कल्पना ही नहीं की जा सकती। ये सब तो बाद की उपज हैं।

➢ ईश्वर की परिकल्पना

विकास की उपरोक्त कठिनाई को देखते हुए इसका हल कुछ दार्शनिकों ने ईश्वर में ढूँढ़ निकाला है। उनके अनुसार ईश्वर का हस्तक्षेप पुरुष और प्रकृति के विरोध को समाप्त कर उन्हें सहयोग के लिए विवश कर देता है। यह हल भी सांख्य दर्शन की मूल भावना से मेल नहीं खाता। इस समाधान से सांख्य द्वैतवाद खंडित होता है। क्योंकि ईशार की परिकल्पना के साथ सांख्य के दो मूल तत्वो के साथ एक तीसरा तत्व, ईश्वर, भी सम्मिलित कर लिया गया है। इसके अतिरिक्त ईश्वर की परिकल्पना केवल एक कठिनाई को पार करने के लिए जबरदस्ती एक

बनावटी युक्ति सी प्रतीत होती है। यह सांख्य की मूल भावना के भी विरुद्ध है जो स्वयम को एक निरीश्वरवादी दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है।

3.3 विकास का क्रम

सांख्य–योग दर्शन में विकास की प्रक्रिया अविशेष से विशेष की ओर, अमिश्चय से निश्चय की ओर, अथवा अव्यक्त से व्यक्त की ओर उन्मुख बताई गई है। गुणों की साम्यावस्था अविशेष अनिश्चित और अव्यक्त अवस्था है। विकास को संभव बनाने के लिए साम्यावस्था का विचलित होना आवश्यक है ताकि अव्यक्त व्यक्त हो सके, अविशेष विशेष, और अनिश्चित निश्चित हो सके। इसके लिए पुरुष के सहयोग की आवश्यकता है य किन्तु किसी तरह से प्रकृति को पुरुष का सहयोग आखिर मिल ही जाता है, और विकास का क्रम आरम्भ हो जाता है।

इससे पहले कि हम विकास क्रम की बात करें, यह बताना आवश्यक है कि पुरुष के सहयोग का मतलब है विकास क्रम में बौद्धिक तत्व का प्रवेश। पुरुष चौतन्य स्वरूप है अतः वह विकास क्रम के हर सोपान को किसी न किसी मात्रा में एक बौद्धिक तत्व स्वभावतः प्रदान कर देता है। वह विकास को तो एक बौद्धिक प्रयोजन प्रदान करता ही है बल्कि विकासजों को भी केवल बौदधिक या केवल भौतिक हो जाने से भी बचाता है। हर वस्तु में ये दोनों तत्व सम्मिलित रहते हैं।

महत और बुद्धि

पुरुष का सहयोग मिलते ही प्रकृति का सर्वप्रथम सत–गुण आग्रहशील होता है। सत की प्रधानता <महत> को जन्म देती है। महत प्रकृति का पहला रूपांतरण है। महत विकास क्रम में सूक्ष्मतम विकासज है। यह प्रकृति से केवल इस अर्थ में भिन्न है कि जहां प्रकृति अलिंग है – उसका कोई लक्षण नहीं है – महत लिंग है। इसे हम विश्व–बुद्धि के रूप में समझ सकते हैं। यह बुद्धि अहंकार और मन सहित विश्व की सभी वस्तुओं का बीज–रूप है। महत विश्वगत है। बीज रूप में सारा विश्व इसमें समाया हुआ है।

महत का एक पक्ष मनोवैज्ञानिक भी है। अपने मनोवैज्ञानिक स्वरूप में इसे बुद्धि कहा गया है। बुद्धि और चेतना में अंतर है। शुद्ध चेतना तो केवल पुरुष ही है। बुद्धि क्योंकि प्रकृति का विकासज है, वह सूक्ष्मतर भौतिक पदार्थ से निर्मित है। इसलिए पुरुष की चेतना को प्रतिबिंबित करने में समर्थ है। इसीलिए इसे बुद्धि कहा गया है। धर्म, ज्ञान, वौराग्य और एश्वर्य बुद्धि के प्रधान गुण बताए गए हैं। महत का यह जो मनोवैज्ञानिक पक्ष, बुद्धि, है इसे व्यक्तियों की बुद्धि नहीं समझना चाहिए यह वैयात्तिक बुद्धि नही है। महत में सभी व्यक्तियों की बुद्धि संचित है। महत इसी अर्थ में विश्व–बुद्धि कहा गया है।

अहंकार

महत से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार व्यक्तिकरण का सिद्धांत है। इसका कार्य अभिमान पैदा करना है। यह 'मैं' और 'मेरे' का भाव जगाता है। पुरुष स्वयं का तादात्म्य इसी अहं से कर लेता है और यह समझता है कि कर्मों का कर्ता, साध्यों का साधक, विचारों का विचारक आदि, वही है।

अहंकार के भी विश्वगत और मनोवैज्ञानिक पक्षों में भेद करना आवश्यक है। विश्व–अहंकार से वैयक्तिक ज्ञाता और ज्ञेय उत्पन्न होते हैं। मनोवैज्ञानिक रूप

से अहंकार का कार्य आत्म–प्रेम और अभिमान पैदा करना है। महत और अहंकार में वही रिश्ता है जो चेतना और आत्म–चेतना में है। आत्मचेतना के लिए चेतना पूर्व मान्यता है। प्रकृति के कार्यों से पुरुष अपना तादात्म्य अहंकार के माध्यम से ही करता है। अहिकार तीन प्रकार के बताए गए हैं या कहें, अहंकार तीन दिशाओं में विकसित होता है –1, सात्विक अहंकार – सत गुण का आधिक्य पाकर अहंकार सात्विक रूप ग्रहण करता है। विश्वगत दृष्टि से यह मात्र पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा पांच कर्मेन्द्रियों को उत्पन्न करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह अच्छे कर्मों का जनक है।

2, तामस अहंकार दृतमो गुण का आधिपत्य पाकर अहंकार तामस रूप ग्रहण करता है। विश्वगत दृष्टि से यह पांच तन्मात्राओं को उत्पन्न करता है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह आलस्य और उदासीनता पैदा करता है। ३, राजस अहंकार – रजो गुण का आधिक्य पाकर अहंकार राजस रूप ग्रहण करता है। विश्वगत दृष्टि से यह सात्विक और तामस को ऊर्जा प्रदान करता है जिससे कि वे अपने अपने विकासज उत्पन्न कर सकें। मनो – वैज्ञानिक दृष्टि से यह पाप कर्मों का जनक है।

मनस

मनस या मन जो सात्विक अहंकार से उत्पन्न होता है बहुत सूक्ष्म है। यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण और केन्द्रीय ज्ञानेन्द्रीय है। इसका मुख्य कार्य इन्द्रीय प्रदत्तों को प्रत्यक्षों में प्रस्तुत करना है। कर्म के वैकल्पिक मार्ग सुझाते हुए कर्मेन्द्रियों द्वारा निर्णयों को क्रियान्वित करवाना है। यह एक ऐसी इन्द्रिय है जो अन्य अनेक इन्द्रियों के संपर्क में एक साथ रह सकती है। इन्द्रियों को द्वार और मन को द्वारपाल कहा गया है। कुल मिलाकर पुरुष के सहयोग से संपन्न प्रकृति के विकास को हम निम्न रेखांकन द्वारा दर्शा सकते हैं ––

पुरुष––––––––––––––––––––––(१)–––––––––––––––––––प्रकृति

।

महत/बुद्धि (२)

।

अहंकार (३)

।

सात्विक अहंकार––––––––––––राजसिक अहंकार––––––––––तामसिक अहंकार
मन (9) और पांच ज्ञानेन्द्रियाँ (10–15) पांच ज्ञानेन्द्रियाँ–(15–19)– पञ्च तन्माराएं–(4–8) (नेत्र ,श्रवण ,घ्राण रसना त्वचा) (मुंह हाथ पैर मन्दवार जनेन्द्रिय) (शब्द स्पर्श, रूप, रस, गंध) तथा –झ ढ– पंचभूत– (20–24)

पंचभूत पर आकर विकास रुक जाता है। जब कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु में निहित होती है और उसका आविर्भाव होता है तभी उसे विकास कहा जाता है। लेकिन पंचतन्मात्राओं से पञ्च भूतों के उत्पन्न होने के बाद विकास नहीं होता, निर्माण होता है। विश्व के सभी पदार्थ पंचभूत से निकलते नहीं, उससे बनते हैं। पंचभूतों के अंशों को जोड़ कर विश्व की अनेकानेक वस्तुएं बनी हैं, उनका निर्माण हुआ है। जब अंश बिखर जाते हैं तो उनका विनाश हो जाता है।

विकास के दो सोपान या सर्ग

हम ध्यान से देखे तो उपरोक्त विकास क्रम में हमें दो रूप (सर्ग या सोपान) स्पष्ट दिखाई देते हैं, प्रत्यय–सर्ग या बुद्धि–सर्ग तथा तन्मात्र सर्ग। सबसे पहले बुद्धि अहंकार और 11 इन्द्रियाँ प्रकट होती हैं य दूसरे सोपान में पांच तन्मात्र, पांच महाभूत और उनके कार्य द्रव्य पैदा होते हैं। तन्मात्र साधारण व्यक्तियों के लिए अप्रत्यक्ष और अभोग्य हैं। इसलिए वे अविशेष कहलाते हैं। भौतिक तत्व और उसके परिणामों में सुख दुःख तथा मोह आदि, विशेष धर्म होते हैं, इस कारण वे विशेष कहलाते हैं। ये विशेष धर्म तीन तरह के हैं – स्थूल महाभूतय स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर। स्थूल शरीर पांच भूतों से बना है। सूक्ष्म शरीर बुद्धि, अहंकार, ग्यारह इन्द्रियाँ, तथा पांच तन्माराओं के समूह को कहते हैं। सूक्ष्म शरीर का आश्रय स्थूल शरीर है। बुद्धि, अहंकार और इन्द्रीय भौतिक आश्रय के बिना काम नहीं कर सकतीं।

विकास का प्रयोजन

सांख्य का विकास–सिद्धांत सप्रयोजन (teleological) है। अव्यक्त रूप से दुनिया की हर चीज किसी न किसी प्रयोजन को सिद्ध करती है। जैसे पेड़ से फल निकलते हैं या जमीन का ढलाव पानी के बहाने को संभव बनाता है या बछड़े के पोषण के लिए गाय के थनों में दूध आता है, इत्यादि। इसी तरह से हरेक वस्तु पुरुष के प्रयोजन को पूरा करती है – चाहे वह भोग हो या मोक्ष। यद्यपि पुरुष निष्क्रिय, तटस्थ तथा निर्गुण है तथापि उदार प्रकृति अपने लिए कोई लाभ न उठा कर पुरुष के लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए लगातार काम करती है। पुरुष के लिए प्रकृति मोक्ष हेतु भी सहायक है। सांख्य दर्शन प्रकृति को ही निमित्त और उपादान कारण मानता है किन्तु यदि हम ध्यान से देखें तो यह स्पष्ट है प्रकृति अपने नहीं बल्कि पुरुष के निमित्त ही काम करती है। पहली विकृति महत से आखिरी विकृति पंचभूतों तक वस्तुतरू पुरुष के मोक्ष के लिए ही है। जब तक सब पुरुष मुक्त नहीं हो जाते सांख्य के अनुसार विकास का यह क्रम चलता रहेगा।

3.4 विकासवाद की कठिनाइयां

सांख्य दर्शन के विकास सिद्धांत की सबसे बड़ी कठिनाई, जिसका संकेत हम ऊपर भी दे चुके हैं, पुरुष और प्रकृति के संपर्क की व्याख्या से सम्बंधित है। पुरुष और प्रकृति जब दोनों ही एक दूसरे के विरोधी सिद्धांत हैं तो उनका सम्बन्ध असंभव लगता है, एकान्तिक होने के नाते वे एक–दूसरे से सहयोग कर ही नहीं सकते और बिना उनके संपर्क के विकास संभव नहीं है। सांख्य ने उनके संपर्क के लिए जो उपमाएं या उक्तियाँ दी हैं वे सब दोषपूर्ण हैं। अंधे–लंगड़े की उपमा में दोनों ही चौतन्य प्राणी हैं, पुरुष और प्रकृति में से एक, प्रकृति, चौतन्य नहीं है। इसी तरह अन्य उपमाएं, जैसे बछड़े के सानिध्य मात्र से ही गाय के थानों में दूध आ जाना, भी उचित नहीं हैं। जब तक विकास नहीं होता प्रकृति और पुरुष के बीच निकटता का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

इसके अतिरिक्त सांख्य दर्शन विकास क्रम के लिए कोई संतोषजनक आधार बता पाने में भी असफल रहा है। महत से लेकर पंचभूत तक जो क्रमिक विकास दिखाया गया है, उसकी कोई तर्क संगत और युक्तिपूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकती। प्रकृति की विकृतियों का आविर्भाव इसी क्रम में हो, ऐसा आवश्यक

नहीं माना जा सकता। सांख्यशास्त्र ही इस क्रम का एक मात्र प्रमाण है यह कहकर सांख्य–शास्त्र की मनमानी ही सिद्ध होती है।

सांख्य दर्शन यों तो प्रकृति और पुरुष दोनों को निर्वैयक्तिक बताता है किन्तु वह उन्हें ऐसा रहने नहीं देता । विकास क्रम में प्रकृति स्त्री रूप में प्रस्तुत की गई है। वह गुणवती और उदार है। पुरुष का कल्याण चाहती है। अपने किसी लाभ के लिए, स्वयं के निमित्त, व्यक्त नहीं होती। वह सतरंगी है, नर्तकी है जो पुरुष को लुभाती है। ऐसी प्रकृति निरपेक्ष और निर्वैयक्तिक कैसे समझी जा सकती है?

प्रकृति त्रिगुणात्मक कही गई है। हिन्दी कवि रसलीन का एक दोहा मानों इन गुणों का बहुत ही सुन्दर वर्णन प्रेमिका की आँख के बहाने करता है–

अमि–हलाहल मद अरे श्वेत–श्याम रतनार

जियत मरत झुकि–झुकि परत जेहि चितवत इक बार

प्रेमिका (या, कहें प्रकृति) की आखें सफेद, काली और लाल हैं (सत,रज और तम की प्रतीक)। ये आँखें जिसे एक बार देख लें वह स्थिर नहीं रह सकता। पुरुष भी प्रकृति को देखकर अचल न रह सका। और इस प्रकार अजन्मी प्रकृति सारे संसार के सृजन का कारण बन बैठी!

इसी प्रकार सांख्य का पुरुष भी प्रकृति के विकास के लिए अपना पद भुला बैठता है। वह मूलतः अनुभवातीत शुद्ध चेतना है। स्वयं–सिद्ध और स्वयं–प्रकाश है। वह द्रव्य नहीं, ज्ञाता है, विषयी है। फिर भी वह अनेक मान लिया गया है अर्थात उसे सामान्य मनुष्यों जैसा समझ लिया गया है जो भोक्ता हैं। संक्षेप में विकास को संभव बनाने के लिए सांख्य दर्शन अपने ही बनाए गए द्वैतवाद में ढील देता प्रतीत होता है और पुरुष और प्रकृति को उनके निरपेक्ष एकान्तिक पद से गिरा देता है।

3.5 सारांश

सांख्य दर्शन के अनुसार जगत की सृष्टि नहीं हुई है। इसका कोई सृष्टा भी नहीं है जिसने वस्तुओं का सृजन किया हो। सारा जगत प्रकृति की केवल अभिव्यक्ति है। प्रकृति में जो पहले से निहित है वही विहित, व्यक्त होता है (सत्कार्यवाद)। व्यक्त होना ही विकास है। साथ ही यह विकास उद्‌गामी विकास है। जो भी "कार्य" व्यक्त होता है "कारण" से स्वतन्त्र तो नहीं होता लेकिन उससे भिन्न होता है। घडा मिट्टी से स्वतन्त्र नहीं है, मिट्टी में ही घडा निहित है। उसका उद्‌गम मिट्टी में ही है, लेकिन घडा मिट्टी नहीं है, उसका एक नया रूप है। वह मिट्टी का उद्‌गामी, (एमर्जेंट) है। परिणाम (रेजल्टेंट) नहीं है। सांख्य में विकास यांत्रिक भी नहीं है। विकास की प्रक्रिया प्रयोजनात्मक है। सारा का सारा विकास पुरुष के मोक्षार्थ और प्रकृति के दर्शनार्थ है। लेकिन इसमें कोई आध्यात्मिक तत्व (सत्यम शिवम् सुन्दरम) नहीं है। विकास का क्रम महत से पंचभूतों तक ही होता है। पंचभूतों से, उनमें पहले से निहित, कुछ व्यक्त नही होता। बाद में निर्माण आरम्भ हो जाता है। विश्व के सभी पदार्थ पंचभूतों से निर्मित हैं।

संख्य दर्शन के विकास सिद्धांत की कई सीमायं हैं। पुरुष और प्रक्रति जो एक दूसरे से नितांत विपरीत हैं, विकास के लिए कैसे सहयोग करते हैं, इस विरोधाभास को सांख्य दर्शन सुलझा नहीं पाया इसके अतिरिक्त सांख्य दर्शन विकास क्रम के लिए, कि वह ऐसा ही क्यों है जैसा की बताया गया है, कोई

संतोषजनक उत्तर देने में असमर्थ रहा है। विकास के लिए वह द्वैतवाद के दोनों मूल तत्वों को उनके परम पद से च्युत कर देता है।

3.6 शब्दावली

(1) विकास दृ अव्यक्त का व्यक्त होना।

(2) विरूप परिवर्तन – किसी एक गुण का अन्य गुणों पर प्रभुत्व कायम कर के उनके स्वरूप को बदल देना ।

(3) स्वरूप परिवर्तन – विरूप परिवर्तन का पुनः अपने स्वरूप में आ जाना ।

(4) प्रयोजनशीलता – विकास में पुरुष के भोग और मोक्ष का उद्देश्य विद्यमान होना।

(5) महत – सांख्य के विकास क्रम का प्रथम विकाराज। वैश्विक बुद्धि।

(6) अहंकार – महत का व्यक्ति–करण। स्वयं को विश्वकर्ता, भोक्ता और स्वामी मानना। (सामान्य व्यक्तियों के अहंकार से भिन्न)। गुण के प्रभुत्व के अनुसार अहंकार सात्विक तामस या राजस– तीन प्रकार का होता है।

(7) मन – अंतःकरण। आतंरिक इन्द्रीय

(8) तन्मात्र – पंचभूतों के सूक्ष्म रूप जिनसे शब्द, स्पर्श, रूप रस और गंध विक्सित होते हैं ।

3.7 प्रश्नावली

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) सांख्य दर्शन के अनुसार विकास का अर्थ, स्वरूप और उसकी प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए ।

(2) सांख्य दर्शन में विकास के क्रम को बताते हुए महत, बुद्धि आर अहंकार में अंतर कीजिए ।

(3) सांख्य दर्शन के विकासवाद की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए ।

लघु उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए

(1) सांख्य दर्शन में विकास का प्रयोजन

(2) महत और अहंकार

(3) मन और इन्द्रियाँ

(4) विरूप और स्वरूप परिवर्तन

निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत, चिह्नित कीजिए

(1) सांख्यदर्शन में विकास क्रम पूर्णतः यांत्रिक है। (सही / गलत)

(2) महत प्रथम विकासज है। (सही / गलत)

(3) सांख्य दर्शन में विकासजों का होना उनका आविर्भाव कहा गया है। (सही / गलत)

(4) विकास का उद्देश्य पुरुष का भोग और मोक्ष है। (सही / गलत)

(5) विकास का उपादान कारण पुरुष है। (सही / गलत)

3.8 पाठ्य–पुस्तकें

(1) Sharma, C. D. A Critical Survey of Indian Philosophy (Hindi version available)

(2) Hiriyanna M, Outlines of Indian Philosophy (Hindi version available)

(3) Das Gupta, A History of Indian Philosophy (Hindi version available)

****

इकाई–4

योग दर्शन

सामान्य परिचय

भारत में दर्शनशास्त्र कभी विशुद्ध रूप से शास्त्रीय अध्ययन का विषय नहीं रहा. अध्ययन के साथ साथ यहाँ हमेशा यह प्रयत्न रहा कि उसे जीवन से संपृक्त किया जाए. उसे जीवन में जिया जाए. दार्शनिक स्थापनाओं को जीवन से कैसे जोड़ा जाए, उनका जीवन से योग कैसे बैठाया जाए, इसकी विधि बताना ही 'योग' का उद्देश्य है. 'योग' शब्द 'युज' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है, मिलना या जुड़ना. इस प्रकार अपने व्युत्पत्तिमूलक अर्थ में योग शब्द का सामान्य अर्थ संयुक्त होने से है. इसके अतिरिक्त, योग का एक अर्थ 'उपाय' से भी है. भारतीय नीति में साम दाम, दंड, भेद, ये चारों उपाय योग कहलाते है. योग के बिना किसी भी वस्तु की उपलब्धि असंभव बताई गयी है, इस अर्थ में योग, मानव प्रयत्न है. भारतीय दर्शन में पारिभाषिक अर्थ में योग साधना है. दार्शनिक विचारों का जीवन से संपृक्त करना, इसके लिए उपाय ढूँढ़ना, उपायों के अनुसार प्रयत्न करना, साधना करना, योग इन सभी अर्थों को ध्वनित करता है. साधना के अर्थ में योग साध्य न होकर केवल साधन है, उपाय है जिसके लिए मानव प्रयत्न आवश्यक है और जबतक किसी न किसी प्रणाली से मनुष्य युक्त नहीं होता वह 'योग' साध नहीं सकता.

भारतीय–दर्शन में साधना की विभिन्न प्रणालियों को ही 'योग' कहा गया है. ये प्रणालियाँ अनेक हैं किन्तु इन सभी का उद्देश्य लगभग एक ही है. इस उद्देश्य (साध्य) को कभी 'ईश्वर–साक्षात्कार' कहा गया है तो कभी 'ब्रह्मानुभूति' कभी 'आत्मोपलब्धि' कहा गया है तो कभी 'मोक्ष' या 'निर्वाण'. सांख्यदर्शन का साध्य 'कैवल्य' है, जिसकी उपलब्धि के लिए पतंजलि ने योग दर्शन प्रस्तुत किया. जो सभी अन्य दार्शनिक–सम्प्रदायों को भी कुल मिलाकर मान्य है.

योग दर्शन के प्रणेता पतंजलि माने गए हैं. पतंजलि का 'योग–सूत्र' योग पर सबसे प्राचीन मौलिक ग्रन्थ है. इसकी रचना ई. पू. दूसरी शताब्दी मानी गई है. लेकिन वस्तुतरू योग भारतीय दर्शन –शास्त्र की एक अति प्राचीन शाखा रही है. पतंजलि ने योग को केवल एक व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया है. योग दर्शन, अपने यत्र तत्र बिखरे रूप में, वेदों और उपनिषदों आदि, में भी प्राप्त होता है. ऋग्वेद में कई स्थलों पर यौगिक प्रक्रियाओं के विषय में उल्लेख मिलता है. उपनिषदों में भी इसके पर्याप्त प्रमाण हैं. कठोपनिषद में योग को लक्ष्य करके कहा गया है – 'तां योगमिति मन्यते स्थिरोमिन्द्रियधारणा'. अतः स्पष्ट है कि योग–दर्शन पतंजलि की कोई मौलिक या स्वतन्त्र कृति नहीं है, अपितु भारतीय दर्शन की अत्यंत प्राचीन संपत्ति है. पतंजलि ने पहले से विद्यमान योग संबंधी सामग्री को एकत्रित कर और उसे अपने मौलिक विचारों से समृद्ध कर, उसे अपने योग–सूत्र में एक व्यवस्थित रूप दिया.

जिस तरह भारतीय दर्शन में न्याय वैशेषिक 'जुड़वां दर्शन' माने जाते हैं, उसी तरह सांख्य और योग भी एक दूसरे से बहुत घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं. जहां तक तत्वमीमांसा का सम्बन्ध है दोनों दर्शनों में मतैक्य है. गीता में तो सांख्य और योग को एक ही बताया गया है. उसके अनुसार ज्ञानी और पंडित इन दोनों में भेद नहीं करते. अगर अंतर है तो केवल इतना ही है कि योग दर्शन अपने

तत्व–विचार में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है जबकि सांख्य निरीश्वरवादी दर्शन है. इसीलिए कभी कभी योग–दर्शन को 'सेश्वर–सांख्य' भी कहा जाता है. क्योंकि सांख्य और योग दोनों ही वेद (शब्द) प्रमाण को स्वीकार करते हैं वे 'वैदिक दर्शन' की कोटि में आते हैं.

यों तो साधना की विभिन्न प्रणालियों में योग के अनेक प्रकार हैं किन्तु इनमें से चार प्रमुख हैं– कर्म–योग, भक्ति–योग, ज्ञान–योग और राज–योग. ये क्रमशः मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों पर आधारित हैं. जो व्यक्ति पीड़ित मानवता के बारे में सोचता है और उसकी पीड़ा को अपने सामाजिक कर्तव्यों का पालन कर दूर करना चाहता है उसके लिए कर्म–योग का मार्ग निर्धारित हैय जो व्यक्ति भगवान की सुन्दरतम कृति को आश्चर्य व भय से देखता है तथा उसी को आत्म–सात कर लेना चाहता है, उसके लिए भक्ति–योग का मार्ग सुझाया गया है. जो व्यक्ति उपनिषदों में प्रतिपद्य। विषय की यथार्थता का साक्षात करना चाहते हैं, तथा जिनमें बुद्धि की प्रधानता होती है उन्हें ज्ञान–योग की अनुशंसा की गई है तथा जो लोग संसार के आश्चर्यमय रहस्य को जानना चाहते हैं उनके लिए पतंजलि द्वारा बताए गए योग, जिसे राज–योग कहा गया है, का विधान है.

सांख्य दर्शन के अध्ययन में हम देख चुके हैं कि पुरुष और प्रकृति में तमीज (अंतर) न कर पाना ही सारे दुखों का कारण है. इसके लिए विवेक–सम्मत ज्ञान जरूरी है. सांख्य का उद्देश्य यही ज्ञान प्राप्त कराना है. पुरुष शुद्ध अनुभवातीत चेतना है. हमारे चित्त में प्रतिबिंबित पुरुष, तो जीवात्मा है. यही जीव जन्म और मरण का भागीदार होता है और सुख–दुःख के अनुभवों से गुजरता है. स्वयं को भोक्ता मान बैठता है, और अपनी मानसिक वृत्तियों से, प्रकृति से, स्वयं को एकात्म कर लेता है. यह भूल तभी सुधारी जा सकती है जब पुरुष और प्रकृति में उचित विवेक पैदा किया जा सके. योग दर्शन इस बात को पूरी तरह मानता है. लेकिन केवल यह कह देने भर से काम नहीं चल सकता. पतंजलि के अनुसार विवेक–ज्ञान के लिए कुछ अनुशासन आवश्यक हैं और पतंजलि उन्हीं अनुशासनों को अपने योग–दर्शन में स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं.

योगः चित्तवृत्तिनिरोधः

पतंजलि ने योग से अर्थ, चित्त की वृत्तियों के निरोध से लगाया है– 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', और क्योंकि चित्त–वृत्तियों का पूरी तरह निरोध समाधि की अवस्था में ही हो पाता है अतः 'योगः समाधिः' भी कहा गया है. चित्त से अर्थ तीन आतंरिक इन्द्रियों से है– बुद्धि, अहंकार और मन. चित्त प्रकृति का प्रथम विकासज है और इसमें सत्व गुण की प्रधानता है. यह अचेतन है लेकिन इसमें वह शक्ति है कि पुरुष इसमें प्रतिबिंबित होता है. इसीलिए चेतन जैसा प्रतीत होता है. जब वह किसी विषय से सम्बंधित होता है तो उसी का आकार ग्रहण का लेता है. यही विषयाकार वृत्ति कहलाती है.

चित्त के पांच स्तर हैं. इन्हें चित्त भूमियाँ कहा गया है. चित्त भूमियों में अंतर विभिन्न गुणों के प्रभुत्व के कारण होता है. 1. चित्त की प्रथम भूमि (स्तर) 'क्षिप्त' है. क्षिप्त अवस्था में रजस गुण प्रधान होता है. अतरू चित्त इस अवस्था में टिकता नहीं है. एकाग्र नहीं हो पाता. वह एक विषय से दूसरे विषय पर भटकता रहता है. यह अवस्था योग में साधक नहीं हो सकती. योग के लिए तो एकाग्रता और ध्यान की आवश्यकता है. 2. चित्त का दूसरा स्तर 'मोह' की भूमि है. यह क्षिप्तावस्था से ठीक विपरीत है. इसमें तामस गुण का प्राधान्य होता है. यह आलस्य और किम्कर्तव्यविमूढ की दशा है. इस अवस्था में मनुष्य न कुछ कर पाता है न ठीक से

सोच पाता है. वह जड़वत हो जाता है. जाहिर है, यह स्थिति भी योग में सहायक नहीं हो सकती. 3. चित्त की तीसरी भूमि क्षिप्त और मूढ़ के बीच की 'विक्षिप्त' अवस्था है. इसमें सत्व गुण तो है, लेकिन रजस का अंश भी है. इस स्थित में कुछ देर तो ध्यान दिया जा सकता है लेकिन रजस अंश के कारण ध्यान बंट जाता है. अतरू यह अवस्था भी योग के लिए सहायक नहीं है. यहाँ जान लेना आवश्यक है कि विक्षिप्त अवस्था बेचौनी की अवस्था नहीं है जैसा की प्रायरू समझा जाता है. यह क्षिप्त अवस्था से बेहतर स्थिति है. क्षिप्त अवस्था में रजस का प्राधान्य होता है जब की विक्षिप्त अवस्था में सत्व गुण प्रधान है. 4. चित्त की अगली भूमि 'एकाग्र' है. इसमे चित्त पूरी तरह से सत्व गुण के प्रभाव में होता है. रजस और तमस मंद पड़ जाते हैं. ध्यान की वस्तु पर मन एकाग्र हो जाता है. मन केन्द्रित करने के लिए यह एक अनिवार्य अवस्था है. योग में एकाग्रता बहुत सहायक होती है. 5. चित्त की पांचवीं और सर्वोत्तम भूमि 'निरुद्ध' है. इस अवस्था में चित्त वृत्तियों को पूरी तरह निरुद्ध कर दिया जाता है. 'एकाग्र' से पता चलता है की मनुष्य ध्यान केन्द्रित कर सकता है, 'निरुद्ध' में अन्य वस्तुओं से ध्यान हटा कर किस वस्तु पर उसे केन्द्रित करना है, उसका चयन हो जाता है. चित्त के प्रथम चार रूप साधारण स्तर हैं किन्तु निरुद्धावस्था एक असाधारण स्थिति है. योग में मन को इसी स्तर पर लाने का प्रयत्न किया जाता है. योग को चित्त वृत्ति निरोध इसी लिए कहा गया है.

अष्टांग योग

'चित्त वृत्ति निरोध' परिभाषित राज–योग के आठ अंग हैं. योग के ये आठ अंग शरीर, मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण करने के उपाय हैं. योग मन या शरीर को मारना नहीं चाहता बल्कि उसे पूर्णता तक पहुँचाना चाहता है. एक स्वस्थ मन एक स्वस्थ शरीर में ही रह सकता है. विषयों से आसक्ति मन और शरीर दोनों को ही विचलित करती है इस पर विजय पाना होगा. इसके लिए योग ने अनुशासन का एक अष्टांग मार्ग निर्धारित किया है. ये योग के आठ साधन हैं, जिन्हें 'अष्टांग–योग' या 'योगांग' भी कहा गया है. ये क्रमशरू 1. यम 2. नियम 3. आसन, 4. प्राणायाम 5. प्रत्याहार 6. धारणा 7. ध्यान और 8. समाधि हैं.

1. 'अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्ययापरिग्रहा यमाः'। यम पांच बताए गए हैं – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा परिग्रह. इनके बारे में अब हम एक एक करके संक्षेप में बताएंगे–

अहिंसा – वैदिक दर्शनों में अहिंसा को सदा से ही एक प्रतिष्ठित स्थान मिला है. यों तो वेदों में भी अहिंसा किसी न किसी सन्दर्भ में रेखांकित होती रही है, किन्तु इसका विकास औपनिषदिक काल में अधिक उत्साह से हुआ है. बाद में पञ्च–महाव्रत के रूप में अहिंसा को जितनी प्रतिष्ठा जैन दर्शन और योग दर्शन में मिली, उतनी कदाचित अन्यत्र नहीं मिल सकी. योगदर्शन में अहिंसा को पांच यमों में से प्रथम यम माना गया है और उसे हिंसा के प्रतिपक्ष में प्रस्तुत किया गया है. हिंसा केवल शारीरिक रूप से हानि पहुँचाना ही नहीं है. हिंसा करने के अतिरिक्त उसे करवाना और दूसरे द्वारा की गई हिंसा का अनुमोदन करना भी हिंसा ही है – कृत, कारित और अनुमोदित. योग दर्शन में हिंसा को अनंत दुःख और अनंत अज्ञान देने वाला – 'दुरूखाज्ञानानन्तफला'– कहा गया है. जो व्यक्ति हिंसा को पूरी तरह से त्याग देता है, और अहिंसा में पूरी तरह प्रतिष्ठित हो जाता है, वह अपने निकट समस्त बैर को समाप्य कर देता है. 'अहिन्साप्रतिष्ठायाम तत्सन्निधौ वैर त्यागरू' । उसका पूरा परिवेश ही अहिंसामय हो जाता है.

सत्य – अहिंसा की ही भाँति सत्य भी एक महत्वपूर्ण निष्ठा है जिसे पतंजलि ने अपने बताए यमों में सम्मिलित किया है. वैदिक परम्परा में सत्य को सामान्यतरू एक समाजोन्मुख निष्ठा माना गया है और इसे प्रायः अहिंसा से भी अधिक महत्त्व मिला है. जैन और हिन्दू दोनों ही परम्पराओं में सत्य का सर्वाधिक महत्त्व 'नैतिक' है और इसका तात्पर्य सत्य बोलने से या 'सत्य–वचन' से है. सत्य बोलना, अर्थात, मन और वचन में यथार्थ होना. जैसा देखा, सुना, अनुमान किया गया हो उसी प्रकार वचन बोलना. परन्तु सत्य वचन, कहा गया है, अनिष्ट नहीं होना चाहिए. इससे तो मौन रहना श्रेयस्कर माना गया है. 'सत्यं ब्रूयात प्रियं ब्रूयात'।

अस्तेय – यमों में अस्तेय का तीसरा स्थान है. ऋग्वेद काल से ही स्तेय (चोरी) को एक गंभीर अपराध माना गया है. उपनिषदों में चोरी न करने का स्पष्ट उपदेश है. पतंजलि का अस्तेय से तात्पर्य वस्तुतः लोभ या लालच से मुक्ति पाना है. चोरी से बचने के लिए भी प्रतिपक्ष भावना का विकास आवश्यक है और यह प्रतिपक्ष भावना संतोष या अलोभ की भावना है. व्यक्ति को यदि सभी प्रकार के स्तेय से बचना है तो इसकी प्रतिपक्ष भावना, अलोभ और संतोष, का विकास करना आवश्यक है. स्तेय भी कृत, कारित और अनुमोदित हो सकता है तथा क्रोध, लोभ, और मोह–पूर्वक आचरण में लाया जाता है. इसकी मात्रा भी कम या ज्यादह – मृदु, मध्य या अधि – हो सकती है. पतंजलि के अनुसार अस्तेय में प्रतिष्ठित व्यक्ति (योगी) को सभी रत्नों की प्राप्ति हो जाती है.

ब्रह्मचर्य – ब्रह्मचर्य से अर्थ सामान्यतः इन्द्रिय कामनाओं, विशेषकर काम प्रवृत्ति के नियंत्रण से लगाया जाता है. लेकिन व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसका अर्थ है, ब्रह्म की खोज से सम्बंधित आचरण. बेशक कामाचार से निवृत्ति ब्रह्मचर्य के लक्ष्य की प्राप्ति में एक अत्यंत सहायक घटक है और कदाचित इसीलिए कालान्तर में ब्रह्मचर्य का अर्थ मुख्यतः काम प्रवृत्ति के निरोध तक ही सीमित हो गया. इंद्रिय इच्छाओं के नियंत्रण के रूप में ब्रह्मचर्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति हमें पातन्जल योगसूत्र में देखने को मिलती है. यहाँ इसका अर्थ स्पष्ट रूप से कामाचार पर नियंत्रण तो है ही, किन्तु इसमें अन्यान्य ऐन्द्रिय कामनाओं का नियमन भी सम्मिलित है. काम–संयम भी वस्तुतः तभी संभव हो पाता है जब हम चक्षु आदि, समस्त इन्द्रियों पर नियंत्रण रख सकें. अतः अब्रह्मचर्य के आठों रूपों का वर्जन ब्रह्मचर्य कहलाता है. ये आठ रूप हैं – काम संबंधी स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्य भाषण, संकल्प, अध्यवसाय तथा क्रिया. पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने वाला योगी एक विशेष शक्ति अर्जित कर लेता है.

अपरिग्रह – पांचवां और अंतिम यम या व्रत है. किन्तु अंतिम होने से इसका महत्त्व कम नहीं आंका जा सकता. पतंजलि के अनुसार विषयों के अर्जन में, रक्षण में, उनके क्षय में और उनके साहचर्य में – अर्थात उनके किसी भी प्रकार के ग्रहण में, हानि ही हानि है, दुःख ही दुःख है. विषय–वस्तुओं को तो केवल जीवित रहने भर के लिए जितनी आवश्यकता हो, बस उतना ही ग्रहण करना चाहिए. एक वास्तविक अपरिग्रही तो दान को भी स्वीकार नहीं करता बल्कि उलटे ही वे वस्तुएं जो उसके पास हैं उनके प्रति अनासक्त होकर उन्हें दान दे देने में विश्वास करता है. योगसूत्र के अनुसार एक पूर्ण अपग्रही योगी को जन्मकथान्ता का ज्ञान होता है, अर्थात वह अपने पूर्व जन्म के बारे में, और आगे क्या होगा इस बारे में भी जान लेता है.

2. नियम – 'यम' जहां मुख्य रूप से निषेधात्मक नियम हैं (हिंसा न करना, असत्य न बोलना, चोरी न करना, इत्यादि,) 'नियम' भावात्मक सद्‌गुणों की और संकेत करते हैं. 'नियम' 'नहीं करो' की सूची न होकर 'क्या करो' की सूची है. संख्या में ये भी पांच ही हैं – शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान.

'शौच' – से तात्पर्य शुद्धि से है. यह केवल शारीरिक, वाह्य, शुद्धि ही नही, बल्कि मानसिक या आतंरिक शुद्धि भी है. शरीर निवासस्थान सभी साफ रहना चाहिए, भोजन भी स्वच्छ होना चाहिए. मन में अच्छे विचारों का उदय होना भी मानसिक शुद्धि प्रदान करता है. मैत्री, मुदिता, करुणा जैसे गुणों का विकास किया जाना चाहिए.

'संतोष' – हमारी इच्छाएं और कामनाएं अनंत हैं अतः उन्हें सीमित किया जाना चाहिए, उन पर रोक लगानी चाहिए. उचित प्रयास से जितना भर प्राप्त हो सके उससे ही संतुष्ट रहना सीखना चाहिए.

'तप' – कठिन से कठिन अनुशासन का पालन करना ही तप है. सहने की प्रबल शक्ति का नाम ही तप है. तप तपा देना है. सर्दी, गरमी, वर्षा, आदि को स्वाभाविक रूप से सहने की शक्ति होना चाहिए तप अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण शक्ति से संलग्न हो जाना है.

'स्वाध्याय' – स्वाध्याय से तात्पर्य न केवल धर्मग्रंथों का और ज्ञानी पुरुषों की बातों का अध्ययन है, बल्कि आचार्यों और ऋषि–मुनियों के उपदेशों का पालन करना भी है. स्वाध्याय से व्यक्ति दिव्य पुरुषों के संपर्क में आता है.

'ईश्वर–प्रणिधान' – ईश्वर में श्रद्धा और विश्वास भी आवश्यक है. योग–दर्शन ईश्वर को सर्वोच्च पुरुष के रूप में स्वीकार करता है. और ईश्वर की कृपा के बिना शारीरिकदृमानसिक नियंत्रण असंभव मानता है. योग के लिए जहाँ नैतिक और मानसिक नियंत्रण आवश्यक है, ईश्वर की अनुकम्पा भी उतनी ही जरूरी है. ईश्वर को ध्यान का सर्वश्रेष्ठ विषय माना गया है.

3. आसन – योग का तीसरा अंग आसन है. आसन ध्यान केन्द्रित करने के लिए शारीरिक रूप से सहायक होता है. आसन का सामान्य अर्थ बैठना है. जाहिर है, हम दौड़ते हुए या सोते हुए ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकते. अतरू आसन आवश्यक है. ध्यान के लिए सुविधाजनक मुद्रा या शारीरिक स्थिति में अवस्थित होना ही आसन है. आसन विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं. योगीगण अपनी अपनी सुविधा और इच्छा के अनुसार ध्यान के लिए भिन्न भिन्न आसन अपनाते हैं. हम कोई भी आसन क्यों न अपनाएं वह सुखकर, सुविधाजनक और स्थिर होना चाहिए. आसन हमारे शरीर को नियंत्रित करता है. पतंजलि ने शरीर को विकार और व्याधियों से बचाने के लिए आसन बताए हैं जैसे, पद्म–आसन, वीरासन, भद्रासन, शीर्षासन, गरुणासन, शवासन इत्यादि. आसन पर बल देना यह स्पष्ट करता है की योग में शारीरिक अनुशासन तो महत्वपूर्ण है ही, किन्तु शरीर को बिलावजह कष्ट देना और बीमार रखना भी उसे स्वीकार नहीं है. योग साधने के लिए सुखकर आसन बड़ा सहायक होता है. यदि ध्यान की अवस्था में शरीर को कष्ट है तो ध्यान बंट जाएगा. ध्यान और साधना के लिए यह जरूरी है की शरीर में कोई तनाव न हो, वह आराम की स्थिति में रहे और कुछ देर एक ही अवस्था में रह सके. आसन शरीर को नीरोग और सबल बनाते हैं. सही आसन अपना कर कोई भी व्यक्ति ध्यान देर तक

और आसानी से केन्द्रित कर सकता है. योग के अनुसार शरीर की पूर्णता उसके लावण्य और रूप में है. उसके वज्र की तरह कठोर होने में है. उसके बल में है. सही आसन शरीर को उसकी पूर्णता की ओर ले जाता है.

4. प्राणायाम –स्थिर आसन होने से स्वास तथा प्रश्वास की गति के विक्षेप को प्राणायाम कहते है. इससे श्वास का नियंत्रण होता है. श्वास पर नियंत्रण पाना ही प्राणायाम है. प्राणायाम का शब्दार्थ है, वह क्रिया जिससे जीवन और प्राण की वृद्धि हो (आयाम का अर्थ बढ़ाना है). प्राणायाम का महत्त्व विशेषकर हठ–योग में अधिक है. स्वयं पतंजलि ने प्राणायाम को योग के लिए अनिवार्य नहीं माना है. पर वे जानते थे कि श्वास संबंधी व्यायाम स्वास्थ्य के लिए तो लाभप्रद होते ही हैं ये हमारे मन को भी स्थिर करने तथा चित्तवृत्तियों के निरोध में भी सहायक होते हैं. हम उनकी सहायता से सूक्ष्म से सूक्ष्म अपनी शारीरिक क्षमताओं और शक्तियों के प्रति जागरूक हो जाते हैं तथा उनपर नियंत्रण रख सकते हैं. प्राणायाम के तीन अंग हैं – पूरक, कुम्भक और रेचक. ये श्वास खींचने, उसे रोके रखने और उसे छोड़ने की प्रक्रियाएं हैं. 'पूरक' में पूरी की पूरी श्वास भीतर खींच ली जाती है. 'कुम्भक' में भीतर खींची हुई सांस को रोके रखना है. 'रेचक' नियमित रूप से श्वास छोड़ना है. इस प्रकार प्राणायाम से शरीर और मन में दृढ़ता आती है और चित्त एकाग्र होता है. इससे समाधि की अवधि भी बढाई जा सकती है. किन्तु प्राणायाम – पूरक, कुम्भक और रेचन की क्रियाएं – किसी प्रशिक्षित आचार्य के निर्देशन में ही संपन्न करनी चाहिए, अन्यथा इससे हानि भी हो सकती है.

5. प्रत्याहार – इन्द्रियों को अपने अपने विषयों से हटाकर अंतरमुखी करने को प्रत्याहार कहते हैं. इससे शारीरिक विषयों के रहते हुए भी उनका मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता. प्राणायाम यदि श्वास नियंत्रण है तो प्रत्याहार इन्द्रिय निग्रह है. इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाना ही प्रत्याहार है. प्रत्याहार में इन्द्रियों को विषयों से खीच लिया जाता है. ये इन्द्रियाँ ही ध्यान को भटकाती हैं. अतः आवश्यक है कि इन्द्रियों को इस प्रकार नियंत्रित किया जाए कि वे विषयों के संसर्ग में आने से बचें. उन्हें पूरी तरह से अपने वश में कर लिया जाए. यह अनुशासन बेशक कठिन तो है पर असंभव नहीं है. इन्द्रियों की यह वृत्ति होती है कि वे विषयों की ओर आकर्षित होती हैं. पर उन्हें अंतर्मुखी बनाना होता है. आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर उन्हें उन्मुख करना होता है. वाह्य संसकारों की उनपर जो छाप है उससे उन्हें पूरी तरह अलग करना पड़ता है. इसके लिए दृढ संकल्प की जरुरत होती है.

योग के उपरोक्त सभी पांच अंग – यम–नियम से लेकर प्रत्याहार तक – बहिरंग साधनाएं हैं. ये योग के संघटक अंग नहीं हैं. योग के अन्तरंग अंग अंतिम तीन, ध्यान धारणा और समाधि, हैं. ये तीनों योग के संघटक अंग हैं. इन्हें "चित्त–संयम" भी का गया है. इनका योग से सीधा सम्बन्ध है. ये, धारणा से आरम्भ करके समाधि तक की, एक ही प्रक्रिया के तीन सोपान हैं.

6. धारणा – चित्त को एक विशेष बिंदु पर एकाग्र करना 'धारणा' है. वह बिंदु कुछ भी हो सकता है. शरीर का कोई स्थल, प्रकाश का कोई केंद्र, कोई प्रतिमा या चित्र, सूर्य या अन्य कुछ भी. उस बिंदु पर मन को एकाग्र करना

होता है. 'देशबंधश्चित्तस्य धारणा' । हमारे सामान्य जीवन में विचार आते जाते रहते हैं उन पर हम प्रायः देर तक ध्यान को केन्द्रित नहीं कर पाते. धारणा में किसी एक बिंदु पर ध्यान टिकाना पड़ता है, जब उस विषय पर चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास हो जाता है, तब योग की वास्तविक कुंजी योगाभ्यासी पा जाते हैं. तब वे ध्येय वस्तु पर उसकी सिद्धि के लिए निरंतर ध्यान कर पाते हैं,

7. ध्यान. ध्यान की क्रिया एक तरह से धारणा से ही प्रारंभ हो जाती है. नियमित अभ्यास से ध्यान सधने लगता है. धीरे धीरे योगी बिना रोकथाम के, बिना किसी विचलन के, एक लम्बी अवधि तक अपने चित्त को एकाग्र कर पाता है. ध्येय विषय पर मनन कर सकता है. एक ही प्रत्यय पर ध्यान का 'तान' ल्रेना ही तो ध्यान है. 'प्रत्ययेकतानता ध्यानम.' ध्यान इच्छित विषय पर विचार का अविच्छिन्न प्रवाह है. जैसे एक बरतन से दूसरे बरतन में तेल उडेला जाता है, और प्रवाह टूटता नहीं, ठीक इसी तरह ध्यान की निरंतरता कायम रहती है. इससे ध्यान के विषय का स्पष्ट और यथार्थ ज्ञान हो जाता है.

8. समाधि. ध्यान की परिणति समाधि में होती है. समाधि की अवस्था में व्यक्ति की अपनी पहचान खो जाती है. मन और शरीर वाह्य जगत से पूरी तरह कट जाते है. केवल ध्येय ही बचता है. धारणा, ध्यान और समाधि जब एक ही आतंरिक विषय की ओर अग्रसर होते हैं, तो असाधारण शक्तियां फलीभूत होने लगती हैं, जैसे, बंद दरवाजों के आरपार देख पाना, दूसरे लोगों के विचारों को पढ़ पाना, दृश्य से विलुप्त हो जाना, इत्यादि. प्रायः योगी इन विभूतियों के आकर्षण में उलझ जाते हैं और अपना आध्यात्मिक ध्येय प्राप्त न हीं कर पाते. इस लालच से बचना बहुत जरूरी हो जाता है अन्यथा लक्ष्य की उपलब्धि संभव नहीं हो पाती. समाधि मुक्ति से ठीक पहले की अवस्था है. समाधि के द्वारा ही मुक्ति मिल सकती है. तभी तो 'योगः समाधि' कहा गया है. योग साधना का यही लक्ष्य है. समाधि में चित्त ध्येय के आकार को ग्रहण कर लेता है. ध्याता का ध्यान और धेय्य एक हो जाते हैं. पुरुष इस अवस्था में देश काल से परे होकर अपने सहज, शाश्वत और पूर्णरूप में आ जाता है. वह अपनी नित्यता में प्रवेश कर जाता है.

समाधि दो प्रकार की बताई गयी है. सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि. सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त ध्यान के विषय पर एकाग्र बना रहता है. असम्प्रज्ञात समाधि में ध्यान का विषय लुप्त हो जाता है. सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद किए गए हैं– सवितर्क, सविचार, सानंद तथा सस्मिता. असम्प्रज्ञात समाधि के अंतर्गत कोई प्रकार या भेद नहीं होते. यह ध्यान की पूर्ण चेतन अवस्था है जहाँ ध्यान करनेवाला और ध्यान का विषय, ये दोनों ही एकदूसरे में विलीन हो जाते हैं. सभी चित्त वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं विषय और विषयी की पहचान लुप्त हो जाती है. यह योग का चरण बिंदु है.

योग का महत्त्व

1. मन की एकाग्रता के लिए योग – भारत की योग–विद्या बहुत प्राचीन विद्या है. वैदिक काल से इसे किसी न किसी रूप में अपनाया जाता रहा है. पतंजलि ने तो इसे केवल सूत्र–बद्ध और व्यवस्थित किया. पतंजलि के बाद इसका महत्त्व और भी बढ़ गया. योग के जितने भी प्रकार हैं, – ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, इत्यादि,– सभी ने पतंजलि के योग की मूल

बातों को ग्रहण किया. शायद इसीलिए इसे राजयोग कहा गया. राजयोग ही वह मार्ग है जिसे हम एकाग्रता और ध्यान अर्जित करते है, इसकी आवश्यकता कम या ज्यादह प्रत्येक साधना प्रणाली में पड़ती है. इतना ही नहीं हमारे प्रतिदिन के व्यावहारिक कार्यों में भी तो एकाग्रता की आवश्कता होती है. हम बिना ध्यान केन्द्रित किए अपना कोई भी काम कुशलता से नहीं कर सकते. राजयोग का अभ्यास हमें एकाग्रता में प्रशिक्षित करता है. अष्टांग योग वस्तुतः ध्यानयोग ही है. इसमे स्वयं ध्यान पर ही ध्यान दिया जाता है. ध्यान विचलित न हो, और वह अपने कार्यपर एकाग्र रहे, यह आध्यात्मिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के ही लिए नहीं बल्कि व्यावहारिक जगत में अपने प्रतिदिन के लक्ष्यों को पा सकने के लिए भी जरूरी है. योग का अभ्यास इस प्रकार हमें अपने कार्यों को कुशलता पूर्वक करने का गुरु बताता है जो स्पष्ट ही काम पर ध्यान केन्द्रित करना है और व्यक्ति को भटकने से बचाना है.

2. व्यवस्था और नैतिकता के लिए योग – अष्टांग योग मूलतः ध्यान योग है लेकिन योग के प्रथम दो अंग – यम और नियम – भी उतने ही महत्त्व पूर्ण हैं जितना ध्यान पर ध्यान देना है. यम और नियम आदि सद्‌गुण सार्वभौमिक हैं और बिना किसी अपवाद के इन्हें अपनाना सभी के लिए लाभप्रद होता है. सभी योगियों ने इनके महत्त्व को समझा है. ये साधक को एक नैतिक आधार प्रदान करते है. बिना इनका पालन किए मुमुक्ष किसी भी मार्ग पर सफलता पूर्वक चल नहीं सकता. यम–नियम से जो लाभ प्राप्त होते हैं वे क्रमशः इस प्रकार बताए गए है –

– अहिंसा से विद्वेष का नाश होता है.

– सत्य से कर्म के परिणामों पर अधिकार हो जाता है.

– अस्तेय से सभी रत्न प्राप्त हो जाते हैं

– ब्रह्मचर्य से बल प्राप्त होता है

– अपरिग्रह से जन्मों का रहस्य पता चलता है

– शौच से जहां शरीर स्वच्छ होता है वहीं मानसिक शौच

– दयालुता, प्रसन्नता और सहानभूति इत्यादि,

– गुणों का भी विकास होता है.

– संतोष से सर्वोच्च सुख प्राप्त होता है.

– तप से अशुद्धियाँ दूर होती हैं , शरीर और इन्द्रियों को बल मिलता है.

– स्वाध्याय से दिव्य पुरुषों से संपर्क होता है.

– ईश्वर प्रणिधान से धारणा की शक्ति विकसित होती है.

उपरोक्त यम–नियम योगियों के लिए तो बहुत महत्वपूर्ण हैं ही, हमारे प्रतिदिन के जीवन के लिए भी समाज में व्यवस्था हेतु भी बहुत जरूरी हैं क्योंकि ये जीवन को एक नैतिक आयाम प्रदान करते हैं इन यम–नियमों को यदि समाज के सभी लोग अधिक से अधिक भरसक पालन करने लग जाएं तो समाज में फैली

कुरीतियों पर और भ्रष्टाचार पर अपने आप ही लगाम लग जाएगी और हम एक अच्छा और खुशहाल जीवन जी सकेंगे.

3. अहम् नाश और समाजोंमुखता के लिए योग – नैतिक सद्गुणों और ध्यान के अतिरिक्त एक तीसरा तत्व जो सभी योगिक–साधनाओं में समान रूप से परिलक्षित है, वह है, अहं–नाश. सभी प्रणालियों में मूलतः अहं–नाश द्वारा ही अंतिम लक्ष्य की सिद्धि हो सकती है. राज–योग में बताया गया है कि समाधि की अवस्था में अहं पूर्णतः विलीन हो जाता है. लेकिन यदि हम उस स्तर पर न भी पहूँच पाएं तो भी योगाभ्यास द्वारा हम अपने अहं पर धीरे धीरे काबू तो पा ही सकते हैं, इसके लिए योग बहुत कारगर है. समाज में व्यक्ति–निष्ठा को कम करने के लिए, और सामाजिकता को बढ़ावा देने के लिए व्यक्तिगत अहं को हम जितना भी कम कर सकें उतना ही श्रेयस्कर है. सच तो यही है की अहं–त्याग के बिना हमारा जीवन घोर व्यक्तिवादी हो जाएगा और सभी केवल अपने अपने स्वार्थ के लिए ही जीवन जिएंगे. गिरे हुए लोगों के लिए संवेदनशीलता, परोपकार और करुणा जैसे सद्भावों का ह्रास होगा. अतः इस समाज–क्षेत्र में भी योग का महत्व कम नहीं आंका जा सकता.

4. स्वास्थ्य लाभ और तनाव मुक्ति के लिए योग – आजकल भारत में ही नहीं, विदेशों में भी योग बहुत प्रचलित हो गया है. जाहिर है कि इसका अभ्यास वहां, और यहाँ भारत में भी, आत्मोपलब्धि, ईश्वर–साक्षात्कार, मोक्ष या कैवल्य प्राप्त करने के लिए नहीं किया जाता. इसका प्रचार–प्रसार इससे प्राप्त होने वाले स्वास्थ्य–लाभ और तनाव–मुक्ति के लिए किया जाता है. आज हमारा जीवन इतना जटिल हो गया है कि हर व्यक्ति तनाव और तरह तरह के जानलेवा रोगों से पीड़ित है. इसके लिए उपचार हेतु करोड़ों–अरबों रुपए बरबाद किए जाते हैं और संतोषजनक परिणाम हासिल नहीं होते. व्यक्ति के वाह्य और आतंरिक दबावों ने उसे बेहद तनाव–ग्रस्त कर दिया है. लोग मानसिक शान्ति के लिए तरह तरह की शामक औषधियां लेने लगे है, और उनके 'साइड–इफेक्ट्स' झेलने के लिए अभिशप्त हैं. ऐसे में भारत की योग–विद्या की तरफ सारे विश्व का ध्यान आकर्षित हुआ है. अब तो पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्री भी इस बात को मानने लगे हैं कि ध्यानयोग से मानसिक तनावों से व्यक्ति को राहत मिलती है और वह भी किसी भी तरह के 'साइड इफेक्ट्स' के बिना ही. अनेक ऐसे रोगों के उपचार के लिए भी जिनमें शल्य–चिकित्सा की आवश्यकता होती है, कुछ योगिक–क्रियाएं और योगासन अत्यंत कारगर सिद्ध हो रहे है. भारत के महेश योगी ने जहां ध्यान–योग को तनाव–मुक्ति के लिए सारे विश्व में प्रतिष्ठित किया वहीं आजकल बाबा रामदेव योग का इस्तेमाल रोग मुक्ति के लिए सफलता पूर्वक कर रहे हैं. संक्षेप में, कहने का तात्पर्य यह– है कि योग का महत्व दिन ब दिन बढ़ता ही जा रहा है. इसका महत्व अब केवल आध्यात्मिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहा है बल्कि सामाजिक, मानसिक और चिकित्सा के क्षेत्रों में भी परिलक्षित हो रहा है. योग की अनंत संभावनाएं हैं जहां उसका महत्त्व अभी परखा जाना है.

कतिपय पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने कभी कभी योग को रहस्यवाद, आत्म–संसूचन ('ऑटो–सजेशन'), मनोविकृतियों, आदि से जोड़कर इसका उपहास भी किया है. किन्तु स्पष्ट ही यह योग के बारे में उनके अज्ञान को ही दर्शाता है. बेशक योग द्वारा योगी कुछ असाधारण शक्तियां अर्जित कर सकता है किन्तु

पतंजलि ने स्वयं इनसे बचने के लिए निर्देश दिया है. उन्होंने योग द्वारा 'सिद्धियाँ' प्राप्त करने के बजाय जीवनादर्शों को प्राप्त करने पर बल दिया है. योग तो मन और शरीर को सबल करने का उपाय है. इसमें इन्द्रियों के दमन की बजाय उनके उदात्तीकरण (उन्हें आदर्शों से जोड़ने) पर आग्रह है.

योग—दर्शन में ईश्वर की अवधारणा

जहां तक तत्वमीमांसा का प्रश्न है पातंजल—योग सांख्य दर्शन को पूरी तरह अपना लेता है और इसीलिए ये दोनों दर्शन 'जुड़वां—दर्शन' कहे गए हैं. योग दर्शन बस एक बिंदु पर सांख्य से सहमत नहीं हो पाता और वह है सांख्य दर्शन का निरीश्वरवाद. सांख्य दर्शन को अपने विकासवाद के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है. ईश्वर के अस्तित्व को माने बिना ही वह पुरुष और प्रकृति के माध्यान से विकास को व्याख्यायित करता है. किन्तु योग— दर्शन ने सांख्य के विकासवाद को स्वीकार करते हुए भी ईश्वर के अस्तित्व को नकारा नहीं.

पतंजलि ने अपनी योग—विद्या के लिए ईश्वर की व्यावहारिक आवश्यकता को समझा. उन्हें यह मानना पडा कि योग के लिए यह जरूरी है कि हमारी श्रद्धा का कोई ऐसा पात्र हो जिस पर हम अपनी आतंरिक शक्तियों को केन्द्रित कर सकें. इसीलिए योग के नियमों के अंतर्गत पांचवें नियम 'ईश्वर प्रणिधान' को उन्होंने निर्धारित किया. ईश्वर की कृपा और अनुकम्पा के बिना चित्त की वृत्तियों का निरोध असंभव है. साथ की ध्यान के केंद्र के लिए भी ईश्वर के अतिरिक्त बेहतर बिंदु ओर कोई नहीं हो सकता. योग दर्शन में इस प्रकार ईश्वर ध्यान का विषय भी है और महाप्रभु भी है जो अपनी कृपा से मोक्षार्थियों के पाप दूर कर उनके लिए योग का मार्ग सुगम बनाता है.

पातंजल—योग में ईश्वर की अवधारणा आन तौर पर स्वीकृत ईश्वर की अवधारणा से थोड़ी भिन्न है. निस्संदेह वह ईश्वरीय लक्षणों से तो परिपूर्ण है पर इस अर्थ में अलग है की ईश्वर को यहाँ 'पुरुष विशेष' माना गया है. सांख्य में पुरुष के जो लक्षण हैं वही ईश्वर के हैं. वह शुद्ध चेतना है, पूर्ण है, नित्य है, सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिमान है. लेकिन सांख्य का 'पुरुष' अनेक है और बंधन में फंस जाता है. अज्ञान से घिर जाता है, दुःख भोगता है. ईश्वर ऐसा नहीं है. वह एक ऐसा विशिष्ट पुरुष है जो बंधन आदि में नही पड़ सकता, न ही प्रकृति के प्रभाव में आता है. वह सदा मुक्त है. सांख्य दर्शन का विकासवाद ईश्वर मोक्षार्थ नहीं है, वह केवल 'पुरुष मोक्षार्थ' है. योग दर्शन में ईश्वर को विश्व के सृष्टिकर्ता, संचालक, और संघारक के रूप में भी स्वीकार नहीं किया गया है.

योग दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को केवल योग की व्याहहारिक आवश्यकता के आधार पर ही स्वीकार नहीं किया गया है, उससे सम्बंधित कई सैद्धान्तिक तर्क भी दिए गए हैं. यह एक रोचक बात है कि परस्पर जुड़वां दर्शन होते हुए भी सांख्य दर्शन में जहां ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध तर्क दिए गए, वहीं योग में उसके अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए युक्तियाँ दी गईं हैं. योग दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए तीन प्रमुख तर्कों का इस्तेमाल किया गया है. वे इस प्रकार हैं —

1. श्रुति प्रमाण – ईश्वर का अस्तित्व शास्त्र–सम्मत है. वेद, उपनिषद् आदि, सभी ग्रंथों में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है. योग–दर्शन एक 'वैदिक' सम्प्रदाय होने के नाते, शब्द–प्रमाण मानते हुए, वेदों द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने के कारण वह भी उसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करता. ईश्वर के अस्तित्व में आस्था रखता है और उसे प्रमाणित करता है.

2. निमित्त कारण – सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति दोनों एक दूसरे के नितांत विरोधी तत्व हैं. अतः उनका संयोग या वियोग बिना किसी तीसरी सत्ता के संभव नहीं हो सकता, जो उन दोनों से परे हो. यह सत्ता केवल ईश्वर ही हो सकती है, जो दोनों के संयोग का कारण बनती है. अतः स्वीकार करना पड़ता है कि कोई सर्वज्ञ शक्ति जरूर है जो कर्म सिद्धांत के अनुसार पुरुष–प्रकृति के संयोग/वियोग को संभव कर पाती है.

3. ज्ञान और शक्ति की चरम सीमा – योग–दर्शन में ज्ञान और शक्ति की चरम सीमा के रूप में भी ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने की कोशिश की गयी है. जिस तरह परिमाण की दृष्टि से अल्पतम परिमाण अणु है और अधिकतम आकाश, उसी तरह ज्ञान और शक्ति की भी एक अधिकतम सीमा होनी चाहिए, अर्थात, एक पुरुष ऐसा होना चाहिए जिसे सर्वाधिक ज्ञान और जिसमें अधिकतम शक्ति हो. वही परम पुरुष ईश्वर है.

4. ध्यान योग का साधक – जैसा की हम ऊपर बता आए हैं, ध्यान केन्द्रित करने के लिए हम किसी भी वस्तु को ध्यान का विषय बना सकते हैं लेकिन ईश्वर में एकाग्रता, योग दर्शन के अनुसार, सबसे सरल और निश्चित विधि है. ईश्वर को जब प्रणिधान किया जाता है तो ध्यान के विचलित होने का भय नहीं रहता. इस प्रकार ईश्वर ही ध्यान योग का साधक है.

समालोचना – अधिकतर विद्वानों का मत है कि पतंजलि के योगसूत्र में ईश्वर विषयक सन्दर्भ योग दर्शन की मूल भावना और प्रतिज्ञा से बहुत कुछ असम्बद्ध सा प्रतीत होता है, वह उसके आधारभूत सिद्धांतों के विरुद्ध भी है. डा. राधाकृष्णन का भी यही मत है. योग–दर्शन में जीवन का लक्ष्य ईश्वरोपलब्धि नहीं है. योग का अर्थ प्रकृति और पुरुष के मध्य विवेक पैदा करना है. ईश्वर सृष्टा, पालक या संघारक न होकर मात्र एक पुरुष विशेष है. सच तो यह है कि योग दर्शन में ईश्वर का कोई उल्लेखनीय महत्त्व है ही नहीं. यह भी उल्लेखनीय है की जिस तरह योग दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व पर विशेष आग्रह नहीं दिखाया गया है उसी तरह सांख्य में ईश्वर के विचार पर अत्यधिक विरोध भी नहीं हुआ है. लेकिन सांख्य जहां पूरी तरह निरीश्वरवादी है वहीं योग ईश्वर की सामान्य अवधारणा को नकारते हुए, उसकी सत्ता को केवल व्यावहारिक दृष्टि से, कहने भर को, नाममात्र के लिए स्वीकार करता प्रतीत होता है.

योग–दर्शन का सारांश

सामान्य परिचय

योग के प्रणेता महर्षि पतंजलि को माना गया है. पतंजलि की कृति, 'योग सूत्र' योग दर्शन पर सबसे प्राचीन और मौलिक कृति कही जाती है. किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए पतंजलि से पहले योग का अस्तित्व ही नहीं था, योग का उल्लेख ऋग्वेद तक में मिलता है, वस्तुतः पतंजलि ने योग से सम्बंधित बिखरी

सामग्री को एकत्र करके उसे एक व्यवस्थित दर्शन का रूप दिया, साथ में उनका मौलिक सोच तो है ही.

सांख्य और योग न्याय–वैशेषिक की तरह ही 'जुड़वां दर्शन कहे जाते हैं सांख्य ने योग के व्याहहारिक पक्ष को ज्यों का त्यों स्वीकार किया हुआ है और सांख्य की तत्व मीमांसा को योग ने अपनाया है. अंतर केवल यह है कि योग–दर्शन ने ईश्वर के अस्तित्व को भी माना है जबकि सांख्य दर्शन पूरी तरह से निरीश्वरवादी है. योग को इसीलिए सेश्वर–सांख्य भी कहा गया है. वेदों की प्रमाणिकता दोनों ही दर्शन स्वीकार करते है. 'वैदिक दर्शन' हैं.

योग शब्द 'युज' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'जोड़ना'. योग का एक अर्थ 'उपाय' भी है और इसे 'मानव प्रयत्न' और 'साधना' के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है. पतंजलि के योग में ये तीनों ही अर्थ सार्थक हुए हैं. पतंजलि का योग सांख्य के दार्शनिक विचारों को जीवन से 'जोड़ता' है, इसके लिए 'उपाय' ढूँढ़ता है, तथा उन उपायों के अनुसार मानव प्रयत्न (साधना) की अनुशंसा करता है.

पातंजल–योग अपने आप में साध्य नहीं है. वह सांख्य के आदर्श 'कैवल्य को प्राप्त करने का एक साधन मात्र है. सांख्य के अनुसार पुरुष और प्रकृति के बीच अंतर करने वाला विवेक जाग्रत करना आवश्यक है, तभी 'कैवल्य' प्राप्त किया जा सकता है. योग दर्शन का आग्रह है की इस 'विवेक' को योगिक साधना और अनुशासन द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है.

चित्त–वृत्ति–निरोध

पतंजलि ने योग की दो महत्त्व पूर्ण परिभाषाएं दी हैं– 1. योगः चित्तवृत्तिनिरोधः तथा 2. योगः समाधिः तात्पर्य यह है की योग चित्त की वृत्तियों का निरोध है और यह पूर्ण निरोध समाधि की अवस्था में ही प्राप्त होता है. पातंजल–योग के अनुसार चित्त हमारी तीन आतंरिक प्रवृत्तियों का द्योतक है.ये हैं दृ बुद्धि, अहंकार और मन. पतंजलि ने चित्त के पांच स्तरों (चित्त–भूमियों) का भी उल्लेख किया हैदृये हैं दृक्षिप्त, मोह, विक्षिप्त. एकाग्र और निरुद्ध, इनमें पहली चार साधारण भूमियाँ हैं किन्तु निरुद्ध एक असाधारण स्तर है जहां तक पहुँच पाने पर ही चित्त की वृत्तियों का पूर्ण निरोध संभव हो पाता है.

अष्टांग योग

योग के आठ अंग बताए गए हैं. इन्हें योगांग कहते हैं. इन योगांगों से युक्त योग अष्टांग योग कहलाता है. ये अंग इस प्रकार हैं – 1. यम, 2. नियम, 3. आसन, 4. प्राणायाम, 5. प्रत्याहार 6. धारणा, 7. ध्यान 8. समाधि.

1. यम – अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह – ये पांच यम हैं.

'अहिंसा'– का अर्थ कृत, कारित और अनुमोदित, तीनों प्रकार की हिंसा से विरत रहना है. हिंसा दुःख और अज्ञान प्रदान करने वाली है, हिसा का त्याग समस्त वैर को समाप्त कर देता है.

'सत्य'– सत्य–वचन बोलना है. यथार्थ में जो देखा–सुना बस उसी को कहना है. किन्तु, वचन सत्य ही क्यों न हो, उसे अप्रिय नही होना चाहिए.

'अस्तेय'– का अर्थ लोभ और लालच से मुक्ति पाना है क्योंकि चोरी का य ` ही कारण हैं. संतोष की भावना को विकसित करना भी अस्तेय का ही एक पक्ष है.

'ब्रह्मचर्य' – इन्द्रियों और कामाचार पर नियंत्रण और नियमन है. स्मरण, कीर्तन. केलि आदि अब्रहमचर्य के आठों रूपों से विरत रहना है.

'अपरिग्रह' – केवल जीवित रहने के लिए, आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ती भर के लिए, वस्तुओं का संग्रह अपरिग्रह है. अपरिग्रही दान तक स्वीकार नहीं करता. किन्तु दान देने में हिचकता नही.

उपरोक्त सभी यमों का स्वरूप नकारात्मक है, वे हमें क्या न करें इसका निर्देश देते हैं.

2. नियम – शौच, तप, संतोष, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान – ये पांच 'नियम' हैं. ये नियम नकारात्मक न होकर सकारात्मक सद्‌गुण हैं. इन नियमों का पालन योग के लिए एक मजबूत पृष्ठ भूमि तैयार करता है.

3. आसन – ध्यान के लिए सुविधाजनक मुद्रा और स्थिति में अस्वस्थित होना आसन कहलाता है. पतंजलि ने शारीरिक विकार और व्याधियों से बचने के लिए भी कई आसन सुझाए हैं, जैसे, पद्‌मासन, शीर्षासन आदि. व्यक्ति जबतक तनाव रहित और आरामदेय स्थिति में नहीं रहता तबतक देर तक ध्यान नहीं लगा सकता

4. प्राणायाम – श्वास–प्रश्वास के नियंत्रण के लिए प्राणायाम जरूरी है. यह मन को स्थिर करने और चित्त वृत्तियों के निरोध में सहायक होता है. व्यक्ति को उसकी अपनी शक्तियों से अवगत कराता है. इसके तीन अंग हैं – पूरक, कुम्भक और रेचक. प्राणायाम के लिए जरूरी है की उसे किसी प्रतिष्ठित आचार्य के निर्देशन में करें.

5. प्रत्याहार – इन्द्रियों को उनके वाह्य–विषयों से हटाकर अंतर्मुखी करना प्रत्याहार है. उन्हें भटकने देने से रोकने का यह अभ्यास है. इसके लिए दृढ संकल्प की आवश्यकता होती है. यम नियम से लेकर प्रत्याहार तक, योग के ये पांच अंग उसके वाह्य घटक हैं. संघटक अंग नहीं हैं. धारणा ध्यान और समाधि अन्तरंग अंग हैं.

6. धारणा – चित्त को किसी एक बिंदु पर एकाग्र करना धारणा है. योग की यह वास्तविक कुंजी है.

7. ध्यान – इच्छित विषय पर विचार का अविच्छिन्न प्रवाह ध्यान है. ध्यान की प्रक्रिया धारणा के साथ ही आरम्भ हो जाती है.

8. समाधि – मुक्ति के ठीक पहले की अवस्था है. समाधि में चित्त धेय्य का आकार ग्रहण कर लेता है. समाधि में ध्याता, ध्यान और ध्येय सब एक हो जाते है. समाधि की दो अस्वस्थाएं हैं – सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात. धारणा ध्यान और समाधि तक पहुंचते पहुंचते योगी को असाधारण विभूतियाँ प्राप्त होने लगती हैं, पर उसे इनसे बचना चाहिए अन्यथा वह अपने ध्येय से चुय्त हो सकता है और विभूतियों में ही भटकता रह सकता है.

योग का महत्त्व

योग बहुत पुरानी विद्या है लेकिन उसका महत्त्व और उसकी प्रासंगिकता हम आज भी देख सकते हैं. 1. मन की एकाग्रता के लिए, 2. नैतिकता के लिए, 3. सामाजिक व्यवस्था और समाजोंमुखता के लिए तथा 4. स्वास्थ्य लाभ तथा तनाव मुक्ति के लिए इसकी सेवाएं उपलब्ध हैं. अपने दार्शनिक उद्देश्य मोक्ष या कैवल्य के लिए तो योगीगण इसकी साधना करते ही हैं.

ईश्वर की अवधारणा

सांख्य दर्शन में ईश्वर की सत्ता के अस्वीकार को योग दर्शन नहीं मानता. योग के फलीभूत होने के लिए वह ईश्वर में आस्था और विश्वास तथा उसकी आवश्यकता को महसूस करता है. इसीलिए पतंजलि ने योग के नियमों में 'ईश्वर प्रणिधान' की व्यवस्था की है. योग दर्शन में ईश्वर की अवधारणा ईश्वर की सामान्य अवधारणा से भिन्न है. वह सृष्टिकर्ता नहीं है, वह केवल एक पुरुष विशेष है. शुद्ध चेतना है किन्तु सांख्य के पुरुषों की तरह वह प्रकृति के संपर्क में नहीं आता. वह बंधन में नहीं पड़ता. वह चिर–मुक्त है. योग दर्शन में यद्यपि ईश्वर के अस्तित्व को सैद्धांतिक रूप से प्रमाणित करने का भी प्रयास किया है, किन्तु योग–साधना में सफलता के लिए व्यावहारिक दृष्टि से उसकी आवश्यकता को देखते हुए ही योग–दर्शन में ईश्वर को स्थान दिया गया है. अन्यथा सांख्य दर्शन की तत्वमीमांसा में, जिसे योग ने भी स्वीकार किया है, सैद्धांतिक रूप से ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है.

प्रश्नावली

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. योग दर्शन का सामान्य परिचय देते हुए स्पष्ट कीजिए की उसे सांख्य दर्शन का जुड़वां दर्शन क्यों कहा जाता है?
2. पतंजलि ने योग को किस प्रकार परिभाषित किया है? चित्त–भूमियों की अवस्थाओं का वर्णन कीजिए.
3. अष्टांग–योग से क्या समझते हैं? योग के अंगों का वर्णन कीजिए.
4. योग दर्शन में यम–नियमों का विस्तृत वर्णन कीजिए.
5. योग दर्शन में ईश्वर का स्थान सुनिश्चित कीजिए. उसके स्वरूप और महत्त्व पर प्रकाश डालिए.
6. योग के महत्त्व पर प्रकाश डालिए.

लघु उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षित टिप्पणीं लिखिए

1. 'योगः चित्तवृत्तिनिरोधः'
2. अहिंसा और सत्य (यम)
3. प्रत्याहार

4. ईश्वर प्रणिधान
5. प्राणायाम
6. समाधि

वस्तुनिष्ठ प्रश्न –सही शब्द द्वारा रिक्त स्थान को भरें

1. योग दर्शन के प्रवर्तक का नाम––––––––––है. (कपिल मुनि / पतंजलि)
2. ईश्वर में विश्वास के कारण योग दर्शन को ––––––––––सांख्य कहा जाता है, (आस्तिक / सेश्वर)
3. योग दर्शन के अनुसार सम्यक ज्ञान के लिए––––––––––जरूरी है, (साधना / अध्ययन}
4. चित्त की ––––––––भूमियाँ या अवस्थाएं बताई गयी हैं. (तीन / पांच)
5. धारणा, ध्यान और समाधि का एक सम्मिलित नाम –––––––––––है. (चित्त संयम / प्राणायाम)
6. अष्टांग योग का पहला अंग –––––– है. (समाधि / यम)
7. योग दर्शन में ईश्वर–––––––––––––है. (सृष्टा / पुरुष–विशेष)
8. यम–नियम में पहला यम ––––––––––है. (सत्य / अहिंसा)
9. प्रत्याहार –––––––––––––है. (आहार–त्याग / विषयों से हटना)
10. योग में आसन से तात्पर्य –––––––––––––से है. (आरामदेय–बैठक / कष्टकारी–मुद्रा)

[उत्तर – 1. पतंजलि, 2. सेश्वर, 3. साधना, 4. पांच 5. चित्त–संयम 6. यम 7. पुरुष विशेष 8. अहिंसा 9. विषयों से हटना 10. आरामदेय बैठक

****

MAPH-106
भारतीय दर्शन का परिचय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 2

न्याय दर्शन एवं वैशेषिक दर्शन

इकाई – 1 49–58

न्याय – प्रमा एवं प्रत्यक्ष' प्रमाण विचार

इकाई – 2 59–66

अनुमान आदि प्रमाण

इकाई – 3 67–74

ईश्वर की अवधारणा

इकाई – 4 75–86

पदार्थ

इकाई – 5 87–96

परमाणुवाद की रूपरेखा

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

एम.ए.पी.एच.–106 **MAPH-106)**

सरंक्षक मार्गदर्शक

प्रो.के.एन. सिंह – कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

विशेषज्ञ समिति

डॉ.आर.पी.एस. यादव	–	निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
प्रो. रामलाल सिंह (से.नि.)	–	दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
प्रो.दीप नारायण यादव	–	दर्शनशास्त्र विभाग, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
प्रो. द्वारिका	–	विभागाध्यक्ष, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
प्रो. सभाजीत यादव	–	दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मागांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

लेखक

प्रो. सुरेन्द्र वर्मा	–	सेवानिवृत्त, 10 एचआईजी/1 सर्कुलर रोड, प्रयागराज।
डॉ. श्यामकान्त	–	असिस्टेंट प्रोफेसर, आर्यकन्या डिग्री कालेज, इला0 वि.वि. प्रयागराज।
डॉ. अतुल कुमार मिश्र	–	शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

सम्पादक

प्रो. जटाशंकर	–	पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

परिमापक

प्रो. आर.पी.एस. यादव	–	निदेशक मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

समन्वयक

डॉ. अतुल कुमार मिश्र	–	शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

2023 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021

ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि अण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज– 211021

प्रकाशक – कुलसचिव, विनय कुमार, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज –2023

मुद्रक – के0 सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स , पंचवटी, मथुरा – 281003.

इकाई–1

न्याय–प्रमा एवं प्रत्यक्ष प्रमाण विचार

<u>इकाई की रूपरेखा</u>

1.0 उद्देश्य

1.1 प्राक्कथन

1.2 न्याय दर्शन : सामान्य परिचय

1.3 ज्ञान मीमांसा (प्रमा–अप्रमा)

1.4 प्रमाण विचार (प्रत्यक्ष)

1.5 प्रत्यक्ष के सोपान और प्रकार

1.6 सारांश

1.7 शब्दावली

1.8 प्रश्नावली

1.9 पाठ्य पुस्तक

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य न्याय दर्शन का सामान्य परिचय देते हुए, उसकी ज्ञान मीमांसा से अवगत कराना है। प्रमा का अर्थ स्पष्ट करते हुए, न्याय दर्शन के अनुसार ज्ञान संबंधी सोलह पदार्थों से भी अवगत कराना है। इस इकाई में न्याय दर्शन के चारों प्रमाणों का विस्तृत वर्णन न करते हुए केवल प्रत्यक्ष प्रमाण की विस्तृत विवेचना की गई है। (शेष प्रमाणों को अगली इकाई में लिया गया है)। लौकिक और अलौकिक प्रत्यक्ष में भेद करते हुए, प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञा, तथा निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष का अंतर भी बताया गया है।

1.1 प्राक्कथन

न्याय दर्शन उन छरू आस्तिक दर्शन में से एक है जो वेदों की प्रमाणिकता को स्वीकार करते हैं, न्याय और वैशेषिक दर्शन जुड़वां दर्शन कहे जाते हैं। न्याय दर्शन वैशेषिक की तत्वमीमांसा को तथा वैशेषिक दर्शन न्याय की तत्वमीमांसा को बिना किसी फेर बदल के स्वीकार करते हैं। इस तरह वे एक दूसरे के पूरक बन गए हैं। न्याय दर्शन में यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहा गया है और ज्ञान के लिए ज्ञान संबंधी सोलह पदार्थ गिनाए गए हैं तथा आठ ज्ञान के स्रोत बताए गए हैं। इन आठ स्रोतों में प्रथम स्रोत ''प्रत्यक्ष'' माना गया है। यह ध्यातव्य है कि प्रत्यक्ष को आस्तिक और नास्तिक सभी भारतीय दर्शनों ने ज्ञान के स्रोत के रूप में स्वीकार किया है। चार्वाक दर्शन तो इसे एकमात्र ज्ञान का स्रोत मानता है। प्रत्यक्ष के इस

महत्व को देखते हुए हमने इस इकाई में केवल प्रत्यक्ष की ही चर्चा की है और न्याय–दर्शन के बाकी ज्ञान के स्रोतों की चर्चा अगली इकाई के लिए सुरक्षित रखी है।

1.2 न्याय दर्शन : सामान्य परिचय

न्याय दर्शन उन आस्तिक सम्प्रदायों में से एक है जो वेदों की प्रमाणिकता को स्वीकार करते हैं। न्याय दर्शन का इतिहास अत्यंत प्राचीन है. इसके प्रवर्तक महर्षि गौतम थे. न्यायशास्त्र को एक व्यवस्थित विषय के रूप में रखने का श्रेय गौतम ऋषि को ही जाता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि गौतम से पहले तर्कशास्त्र का अस्तित्व था ही नहीं. वेद और उपनिषद् काल से ही वाद–विवादों में न्याय और तर्क का उपयोग किया जाता रहा है, परन्तु उसे एक सुव्यवस्थित और शास्त्रीय रूप प्रदान करने में महर्षि गौतम का ही महत्त्व पूर्ण योगदान है. गौतम ऋषि को कभी कभी "अक्षपाद" के नाम से भी पुकारा गया है. इसीलिए गौतम के न्याय दर्शन को "अक्षपाद दर्शन" भी कहा जाता है. गौतम के अक्षपाद नाम पड़ने के सम्बन्ध में एक रोचक कथा है. कहते हैं गौतम ऋषि चलते फिरते भी दार्शनिक चिंतन में इस कदर डूबे रहते थे की उन्हें बाहरी दुनिया की कोई खबर ही नहीं रहती थी. एक बार वे इसी अवस्था में कुँए में गिर पड़े. भविष्य में ऐसी घटना न हो इस हेतु, जैसी की कथा है, उनके पैरों में देखने की शक्ति आ गई. तभी से उनका नाम अक्षपाद–जिसके पैरों में आँख हो– पड़ गया. ऐसा माना जाता है कि महर्षि गौतम का जन्म मिथिला में कमतौल नामक स्थान पर हुआ था. आज भी इसी के आसपास "गौतम कुण्ड" नामक स्थान पाया जाता हैं.

भारतीय दर्शन पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि यह आलोचनात्मक नहीं है, पर इसके आलोचनात्मक होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि यहाँ, न्याय–दर्शन में विशेषकर, 'प्रमाण–परीक्षा' को प्रमुख स्थान दिया गया है. न्याय दर्शन में प्रमाणों का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है, वेदान्त–परिभाषा जैसे आधुनिक ग्रंथों में भी यही बात पाई जाती है. यूरोप के दार्शनिकों ने प्रमाण शास्त्र का महत्त्व बहुत बाद में जाना. जर्मन दार्शनिक कांट ने अपनी 'क्रिटीक आव प्योर रीजन' में पहली बार इस प्रकार के प्रश्न उठाए कि क्या तत्व–पदार्थ या पदार्थों का दार्शनिक विवेचन संभव है? हम क्या कुछ जान सकते हैं और किस हद तक जान सकते है? हमारे ज्ञान की सीमा है कि नहीं? ज्ञान के सच्चे और झूठे होने की परीक्षा कैसे हो? ऐसे प्रश्नों का विवेचन दर्शन–शास्त्र की एक विशेष शाखा में होता है. अंगरेजी में इसे 'एपिस्टेमालोजी' कहा गया है. संस्कृत दार्शनिक साहित्य में यह शाखा कई अंगों में विभक्त है, जैसे, 'प्रमाण–परीक्षा' (ज्ञान प्राप्ति के साधन क्या और कितने हैं?), 'प्रामाण्यवाद' (प्रामाण्य का ज्ञान एक ही साधन से होता है की भिन्न भिन्न साधनों से) तथा जिसे हम आज की भाषा में 'सम्वृत्तिशास्त्र' कह सकते हैं (ज्ञान का स्वरूप क्या है, ज्ञान आत्मा का गुण है या आत्मा का स्वरूप ही है?) ये सभी ज्ञान–मीमांसात्मक प्रश्न हैं और भारतीय दार्शनिकों ने, विशेषकर न्याय जैसे दर्शन ने, इनपर विचार करना बहुत बहुत पहले से शुरू कर दिया था. न्याय दर्शन का सबसे प्राचीन नाम 'आन्वीक्षिकी' है. न्याय को हेतु–विद्या भी कहते हैं. न्याय शब्द पारिभाषिक है. अंगरेजी में इसे 'सिलाजिज्म' कहते हैं, पारिभाषिक अर्थ में न्याय इसी 'सिलाजिस्म' के लिए प्रयुक्त होता है।

1.3 ज्ञानमीमांसा (प्रमा–अप्रमा)

न्याय दर्शन का लक्ष्य भी अन्य भारतीय दर्शनों के समान मोक्ष प्राप्ति ही है. न्याय भी यह मानता है कि मनुष्य अज्ञान के कारण ही दुरूख भोगता है. वह वास्तविक को अवास्तविक और अयथार्थ को यथार्थ समझ बैठता है. अतः न्याय के अनुसार दुःखों से मुक्ति पाने के लिए वास्तविक ज्ञान आवश्यक है।

प्रमा और अप्रमा

न्याय के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है – प्रमा और अप्रमा. प्रमा वास्तविक ज्ञान है और अप्रमा अयथार्थ ज्ञान है. यथार्थ अनुभव द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे हम प्रमा कहेंगे, जैसे आँख से देखकर यह कहना कि दूध सफेद है. दूसरी ओर यथार्थ अनुभव के आधार पर जो ज्ञान हम प्राप्त करते हैं उसे अप्रमा कहेंगे, जैसे अंधेरी रात में रस्सी को देखकर सांप का ज्ञान होना.

वास्तविकता क्या है? इसका ज्ञान आवश्यक है. इस ज्ञान के लिए न्याय दर्शन के अनुसार सोलह पदार्थों का, जो ज्ञान संबंधी पदार्थ हैं, ज्ञान जरूरी है. ज्ञान संबंधी ये 16 पदार्थ इस प्रकार हैं–

1. प्रमाण – यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के जो साधन है, उसे ही प्रमाण कहते हैं. इन सभी उपायों का वर्णन अलग से किया जाएगा.

2. प्रमेय – प्रमाण के द्वारा जिन विषयों का ज्ञान हमें होता है, उन्हें प्रमेय कहा जाता है. ऐसे बारह विषय महर्षि गौतम ने बताए हैं. इनमें मुख्य हैं, आत्मा, शरीर, इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, इत्यादि.

3. संशय – मन की अनिश्चित अवस्था को संशय कहते हैं. जब एक ही वस्तु के सन्दर्भ में एकाधिक विकल्प मन में उठते हों तो मन संशयग्रस्त हो जाता है. संशय न तो निश्चित ज्ञान है और न ही ज्ञान का पूर्ण अभाव है. इसे भ्रम या विभ्रम भी नहीं कह सकते. उदाहरण के लिए जब एक व्यक्ति को देखकर कोई सोच में पड़ जाए की यह मेरा मित्र है या कोई और, तो यह संशय की अवस्था कहलाएगी.

4. प्रयोजन – जिसके लिए कार्य की प्रवृत्ति होती है, उसे ही प्रयोजन कहते हैं. प्रयोजन कार्य सम्पादन का लक्ष्य है. इस प्रयोजन की प्राप्ति के लिए ही कार्य किया जाता है. न्याय दर्शन के अनुसार जीवन का चरम प्रयोजन "मोक्ष" है.

5. दृष्टांत – वे उदाहरण हैं जनसे तर्क को पुष्ट किया जाता है. दृष्टांत ज्ञान में सहायक होते हैं. जैसे धुंआ और आग के बीच व्याप्ति सम्बन्ध दिखाने के लिए रसोई घर का दृष्टांत दिया जा सकता है.

6. सिद्धांत – कोई विषय जब प्रमाण द्वारा अंतिम रूप से स्थापित हो जाता है तो उसे सिद्धांत कहते हैं. उसे स्वीकार कर आगे बढ़ा जाता है.

7. अवयव – तर्क में वाक्यों का एक क्रम होता है. क्रमानुसार इन तर्क वाक्यों को ही अवयव कहते हैं.

8. तर्क – यहाँ तर्क का एक विशेष अर्थ है. इसे यहाँ एक युक्ति के रूप में प्रयुक्त किया गया है जिसके द्वारा विपक्षी के कथन को उलटकर और उसे सही मान कर, दोषपूर्ण और गलत साबित किया जाता है.

9. निर्णय – किसी विषय के सम्बन्ध में निश्चित नतीजे तक पहुँचना ही निर्णय है. जब विषय के हर पक्ष को ध्यान में रखते हुए सभी संशय दूर हो जाते हैं तो निर्णय की स्थिति आती है.

10. वाद – मतलब वाद–विवाद से है जिसमें प्रमाण और तर्क की सहायता से विपक्षी के कथन का पूर्ण खंडन कर अपने पक्ष का समर्थन किया जाता है और एक निर्णायक निष्कर्ष तक पहुंचा जाता है.

11. जल्प – जल्प एक ऐसा वाद–विबाद है जिसमें वादी और प्रतिवादी, दोनों का ही लक्ष्य यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना नहीं होता बल्कि विवाद में किसी प्रकार जीतना भर होता है. यह वाद विवाद का गलत ढंग है.

12. वितंडा – यह भी एक गलत वाद विवाद है जिसमें वादी अपने मत का समर्थन नहीं करता बल्कि उसका उद्देश्य केवल प्रतिवादी के मत का निरंतर खंडन करना ही रहता है.

13. हेत्वाभास – जैसा शब्द से ही स्पष्ट है हेत्वाभास हेतु का आभास भर है वास्तव में हेतु होता नहीं है. इसके अंतर्गत सारे तर्क दोष आ जाते हैं जिनका उल्लेख बाद में आगे किया जाएगा.

14. छल – इसमें वादी को छल पूर्वक ठग लेने की कोशिश रहती है. कहने वाले के शब्द का गलत अर्थ लगा कर उसे फंसाया जाता है. छल तीन तरह के बताए गे हैं – वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल.

15. जाति – जब गलत उपमान का प्रयोग किया जाता है यो यह जाति का उदाहरण होगा. हम कहें कि शब्द नित्य है क्योंकि आत्मा के समान यह भी दिखाई नहीं देता तो यह जाति का उदाहरण हुआ.

16. निग्रहस्थान – हार या पराजय का बिंदु है. इसे समझ लेना जरूरी होता है. कभी कभी हार का बिंदु आने से पहले ही पराजय स्वीकार कर ली जाती है तो वह अन्यथा ही निग्रहस्थान बन जाता है. जरूरी है की हम समझें कि वाद–विवाद में वास्तविक निग्रहस्थान कब और कहाँ आया.

न्याय दर्शन में उपरोक्त 16 ज्ञान संबंधी पदार्थों का विवरण मिलता है. इन्हें जाने–समझे बिना वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता.

1.4 प्रमाण विचार (प्रत्यक्ष)

ज्ञान के उपरोक्त सोलह पदार्थों में पहला पदार्थ "प्रमाण" है. महर्षि गौतम ने "प्रमाण" को ज्ञान पाने का मार्ग बताया है. "प्र" का अर्थ है उचित, यथार्थ, ठीक या सहीय "मा" का अर्थ है माप या नाप–तोल "अन" साधन है. तो प्रमाण उचित माप का साधन है. ज्ञान के सन्दर्भ में प्रमाण यथार्थ–ज्ञान (प्रमा) प्राप्त करने का साधन है. भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में अनेक ऐसे स्रोत–एक से छः तक– बताए गए हैं. पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा ज्ञान के केवल दो स्रोत मानती है –प्रत्यक्ष और अनुमान. किन्तु भारत में प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त उपमान और शब्द को भी ज्ञान का

स्रोत माना गया है. प्रत्यक्ष को एकमात्र स्रोत मानने वाला दर्शन चार्वाक है किन्तु न्याय–वैशेषिक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त तीन और प्रमाणों को स्वीकार करता है. ये हैं – अनुमान, उपादान और शब्द. इस प्रकार न्याय दर्शन में गौतम ऋषि के अनुसार वास्तविक ज्ञान अथवा प्रमा की प्राप्ति के चार स्रोत हैं–1. प्रत्यक्ष 2. अनुमान 3. उपमान और 4. शब्द. अब हम इनकी एक–एक करके व्याख्या करेंगे –

प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष, यथार्थ ज्ञान पाने का, पहला उपाय है. चार्वाक दर्शन, जैसा की हम देख चुके हैं इसे पहला और अंतिम–एकमात्र–स्रोत मानता है. ऐसा कोई दर्शन नहीं है जिसने प्रत्यक्ष को ज्ञान का एक स्रोत न माना हो. "प्रत्यक्ष" शब्द दो पदों के योग से बना है. प्रति और अक्ष. प्रति का अर्थ है, सामनेय और 'अक्ष' आँख को कहते हैं. अतः प्रत्यक्ष का अर्थ हुआ, आँख के सामने. किन्तु प्रत्यक्ष केवल आँख तक ही सीमित नहीं होता. आँख के साथ साथ अन्य इन्द्रियों से भी प्रत्यक्ष होता है. कान से सुनना, जीभ से स्वाद लेना, नासिका से सूँघना, त्वचा से स्पर्श भी प्रत्यक्ष ही कहलाता है, तर्क संग्रह में प्रत्यक्ष की परिभाषा इस प्रकार की गई है– "इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यम ज्ञानम् प्रत्यक्षम", अर्थात इन्द्रियों और वस्तुओं के संनिकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही प्रत्यक्ष है. किन्तु साथ ही प्रत्यक्ष निश्चित और प्रमाणिक होना चाहिए. दोष रहित होना चाहिए. एक शब्द में, 'इन्द्रिय और अर्थ या विषय के संनिकर्ष {सम्बन्ध या संपर्क) से उत्पन्न ज्ञान को, जिसमें संदेह न हो और जो व्यभिचारी भी न हो, प्रत्यक्ष कहते हैं.

प्रत्यक्ष यदि दोषरहित नहीं है तो वह प्रत्यक्ष न होकर भ्रम हो जाएगा. यदि हम अँधेरे में रस्सी को सांप देखते हैं तो यह प्रत्यक्ष नहीं भ्रम है. इसी प्रकार भ्रम अनिश्चित नहीं होता. किसी दूर खड़े पशु को देखकर निश्चित रूप से यह न कह पाना की यह गाय है या घोड़ा, अनिश्चित होने की वजह से सही अर्थ में प्रत्यक्ष नहीं है. सामान्यतः हम अपने प्रत्यक्ष को भाषा में अभिव्यक्त करते हैं. किन्तु अपने प्रत्यक्ष का जो भाषा में वर्णन किया गया है वह अपने आप में प्रत्यक्ष नहीं है. प्रत्यक्ष भाषा से स्वतन्त्र होता है. इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इन्द्रिय और वस्तु के संपर्क से यदि ऐसा ज्ञान मिले जो न तो भ्रम है, न अनिश्चित है और न ही भाषा पर आधारित है, तो वह ज्ञान "प्रत्यक्ष ज्ञान" है।

प्रत्यक्ष के सोपान

न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष के दो सोपान बताए गए हैं. एक, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और दूसरा, सविकल्पक प्रत्यक्ष. ये प्रत्यक्ष की जटिल प्रक्रिया के दो चरण हैं. ये प्रत्यक्ष के दो प्रकार नहीं हैं. पहले चरण में प्रत्यक्ष अपरिभाष्य रहता है, अनिश्चित होता है. यूं तो प्रत्यक्ष को सुनिश्चित और परिभाष्य ही होना चाहिए किन्तु इस स्तर पर पहुँचने के लिए उसे अपनी आरंभिक अनिश्चित अवस्था से गुजरना पड़ता है. आज के मनोविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली में यह अपरिभाष्य, अनिश्चित, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की अवस्था संवेदन (सेंसेशन) की अवस्था है, और सविकल्पक प्रत्यक्ष, "प्रत्यक्ष" (परसेप्शन) है. न्याय–दर्शन में निर्विकल्प और सविकल्प का अंतर केवल वैचारिक सुविधा के लिए किया गया है. प्रत्यक्ष को उसे हम दो काल खण्डों में विभाजित नहीं कर सकते. वस्तुतः हम अपने सविकल्पक प्रत्यक्ष से अनुमान भर लगाते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी होना चाहिए. प्रत्यक्ष तो सदैव सविकल्पक, निश्चित और परिभाष्य ही होता है. परन्तु यदि हम ध्यान से देखें तो निर्विकल्प और सविकल्प का भेद केवल प्राकल्पिक नहीं है. निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वह वास्तविक अनुभूति भी हो सकती है जिसमें प्रत्यक्ष का विषय क्या है, यह पहले स्पष्ट नहीं

होता, स्पष्टता और सुनिश्चितता बाद में प्राप्त होती है जब प्रत्यक्ष सविकल्पक हो जाता है.

प्रत्यभिज्ञा

प्रत्यभिज्ञा भी लौकिक प्रत्यक्ष का एक रूप है. यह किसी पूर्व प्रत्यक्ष की पहचान करना है. प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है 'प्रतिगता अभिज्ञान'– जिस विषय का पहले प्रत्यक्ष हो चुका हो उसको फिर से पहचान पाना ही प्रत्यभिज्ञा है. मान लीजिए हम किसी व्यक्ति को बाजार में देखते हैं और पहचान लेते हैं कि "यह तो मेरा वह मित्र है जो छात्रालय में हमारे साथ एक ही कमरे में रहता था" तो इस बात का पुनरू प्रत्यक्ष ही प्रत्यभिज्ञा है, प्रत्यभिज्ञा इन्द्रिय प्रत्यक्ष और पूर्व संस्कार के मेल से उत्पन्न होती है. आधुनिक मनोविज्ञान में इसे 'रिकग्निशन' कहते हैं.

प्रत्यक्ष के दो प्रकार

न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष के दो प्रकार भी बताए गए हैं – लौकिक और अलौकिक. लौकिक साधारण प्रत्यक्ष है. साधारण प्रत्यक्ष का अर्थ है, वस्तु से इन्द्रियों का संपर्क और वस्तु के उन गुणों का ज्ञान जो इन्द्रियों द्वारा मिल सकता है. आँख से फूल को देखना, कान से संगीत सुनना आदि, साधारण प्रत्यक्ष है किन्तु यदि हम आँख से सुनने लगें या कान से देखने का अनुभव करें तो असाधारण, अलौकिक प्रत्यक्ष कहा जाएगा.

पुनः, लौकिक प्रत्यक्ष भी दो तरह के होते हैं – वाह्य और आतंरिक. वाह्य–प्रत्यक्ष आँख, नाक, कान, त्वचा, रसना द्वारा प्राप्त सम्बंधित विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान है. लेकिन इस प्रकार के प्रत्यक्षों के अलावा हम अपने मन द्वारा कुछ आतंरिक प्रत्यक्ष भी प्राप्त करते हैं, जैसे, सुख, दुःख, क्रोध, इच्छा. द्वेष आदि. पांच वाह्य इन्द्रियों के अतिरिक्त न्याय दर्शन के अनुसार एक अंतरिन्द्रिय, मन, भी है जो मानस प्रत्यक्ष का अनुभव करती है. यह आतंरिक भावनाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान देती है. यही मन ध्यान देने का माध्यम भी है.

जिस प्रकार लौकिक प्रत्यक्ष के दो प्रकार हैं – वाह्य और आतंरिक, उसी प्रकार अलौकिक या असाधारण प्रत्यक्ष के भी तीन प्रकार हैं – ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष, सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष और योगज.

1. ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष – हम बरफ को देखकर ही कह देते हैं, यह ठंडा है. हम बर्फ छूते नहीं, सिर्फ देखते हैं फिर भी उसका ठंडापन जान लेते हैं. इसका कारण हमारा बर्फ के बारे में उसके ठंडापन का पूर्व–ज्ञान है. आँख से बर्फ देखते ही स्पर्श का भाव जाग्रत हो जाता है. इस प्रकार एक इन्द्रिय के लक्षण का ज्ञान दूसरी इन्द्रिय से हो जाता है. यही ज्ञान, लक्षण–प्रत्यक्ष है. इसी प्रकार जब हम रस्सी से सांप का धोखा खा जाते हैं तो रस्सी के प्रत्यक्ष में सांप का पूर्व–ज्ञान पुनः प्रस्तुत हो जाता है. स्पष्ट ही यह असाधारण प्रत्यक्ष है क्योंकि यहाँ भी एक प्रत्यक्ष में दूसरा प्रत्यक्ष अनुभव में आता है.

2. सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष – न्याय–वैशेषिक दर्शन के अनुसार "सामान्य" एक वास्तविक पदार्थ है जो "विशेष" में निहित रहता है. एक गाय इसलिए गाय होती है क्योंकि उसमें गाय के सामान्य लक्षण मौजूद रहते हैं. साधारणतः हम केवल "विशेष" का प्रत्यक्ष करते हैं. हम किसी एक गाय को देखते हैं. उस सामान्य को नहीं देखते जो सभी गायों में होता है. लेकिन गाय को देखकर हमें अपने आप ही यह ज्ञान हो जाता है की यह गाय–जाति का प्राणी है. जाति (सामान्य) का यह

ज्ञान असाधारण इसलिए है कि विशेष का प्रत्यक्ष करते समय इसे अपनी इन्द्रियों द्वारा हमने नहीं देखा और फिर भी मानों देख लिया !

3. योगज प्रत्यक्ष–योग द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष है जिसमें योगी अपनी सिद्धि से देश और काल में बहुत दूर की – सदियों पुरानी, भूत काल और भविष्य की, मीलों दूर की, सूक्ष्म से सूक्ष्म – चीजें, घटनाएं, "देख" लेता है. वह एक ऐसी असाधारण शक्ति पा लेता है जिससे यह संभव हो पाता है. योगज प्रत्यक्ष, जाहिर है, अलौकिक प्रत्यक्ष है.

1.6 सारांश

न्याय दर्शन एक आस्तिक और वैदिक दर्शन है। यह ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है और वेदों को प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है। न्याय के प्रणेता महर्षि गौतम माने जाते हैं। तर्क शास्त्र तो पहले भी था लेकिन गौतम ने उसे एक व्यवस्थित रूप प्रदान किया। न्याय और वैशेषिक जुडवां दर्शन हैं। न्याय मोटे तौर पर वैशेषिक दर्शन की तत्वमीमांसा को स्वीकार करता है और वैशेषिक दर्शन न्याय की ज्ञान मीमांसा को मानता है।

अन्य भारतीय दर्शनों की तरह न्याय का भी अंतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है। मनुष्य अज्ञान के कारण दुरूख भोगता है। यह वास्तविक को अवास्तविक और यथार्थ को अयथार्थ समझ बैठता है। वास्तविकता आवश्यक मानता है इनमें ज्ञान प्राप्त करने का प्रथम साधन श्प्रमाणश है।

गौतम ने चार प्रमाण स्वीकार किए हैं। इनमें प्रथम प्रमाण 'प्रत्यक्ष' है। प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और वस्तु के संपर्क से प्राप्त होने वाला ज्ञान है भ्रम को हम प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं रख सकते। इसी तरह जो ज्ञान अनिश्चित है वह भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। प्रत्यक्ष भाषा में अभिव्यक्त ज्ञान भी नहीं है। प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है। लौकिक और अलौकिक। साधारणतः इन्द्रियां अपना अपना विषय देख पाती हैं – यह लौकिक प्रत्यक्ष है। लेकिन जब कोई इन्द्रिय किसी दूसरी इन्द्रिय का विषय देखने लग जाए (जैसे आंख सुनने लग जाए) तो यह असाधारण, अलौकिक बात है। अलौकिक प्रत्यक्ष तीन तरह के बताए गए हैं, ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष, सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष और योगज।

लौकिक प्रत्यक्ष वाहय भी हो सकता है। मन भी आंतरिक इन्द्रिय है। उसके द्वारा देखा गया सुख, दुःख, क्रोधादि आंतरिक प्रत्यक्ष है। वाहय प्रत्यक्ष के दो सोपान हैं– निवैकल्पिक प्रत्यक्ष और सविकल्पिक प्रत्यक्ष। इन्हें आधुनिक मनोविज्ञानकी पदावली में अंग्रेजी में क्रमशः सेंसेशन और परसेप्शन कहा गया है।

1.7 शब्दावली

1. महर्षि गौतम– न्याय दर्शन के प्रणेता
2. अक्षपाद– गौतम ऋषि का एक अन्य नाम। कहा जाता है कि उन्हें यह वरदान प्राप्त था कि वे अपने पैरों से भी देख सकें।
3. प्रमा – दोष रहित वास्तविक ज्ञान।
4. अप्रमा – दोषयुक्त ज्ञान।

5. प्रमाण – यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का स्रोत। न्याय दर्शन में ज्ञान संबंधी 16 पदार्थों में से पहला पदार्थ है।

6. प्रमेय – प्रमाण द्वारा जिन वषिय वषि विषयों का ज्ञान होता है उन्हें प्रमेय कहा गया है। आत्मा (शरीर) मन, बुद्धि, आदि इनमें से कुछ विषय हैं।

7. संशय – मन की अनिश्चित अवस्था।

8. जल्प – जीतने भर के लिए वाद विवाद में सम्मिलित होना।

9. वितंडा – वाद विवाद का एक गलत तरीका जिसमें एकमात्र उद्देश्य प्रतिवादी के मत का निरंतर खंडन करना रहता है।

10. हेत्वाभास – हेतु का आभास मात्र। हेतु रहित चर्चा।

11. निग्रह स्थान – वह विंदु जहां हार जाने की निश्चित संभावना का पता लगता है।

12. प्रत्यक्ष – इन्द्रियों और वस्तुओं के संनिकर्ष से उत्पन्न होने वाला दोष रहित ज्ञान। ज्ञान का प्रथम स्रोत।

13. निर्विकल्पक प्रत्यक्ष – प्रत्यक्ष की अपरिभाष्य अनिश्चित अवस्था।

14. सविकल्पक प्रत्यक्ष – सुनिश्चित और परिभाष्य प्रत्यक्ष।

15. प्रत्यभिज्ञा– पूर्व प्रत्यक्ष की पहचान।

1.8 प्रश्नावली

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. प्रमा और अप्रमा के बीच अंतर करते हुए, न्याय दर्शनके अनुसार ज्ञान संबंधी पदार्थों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

2. प्रमाण किसे कहते हैं प्रत्यक्ष ज्ञान को परिभाषित कीजिए।

3. प्रत्यक्ष का विवेचन करते हुए, उसके प्रकार और सोपानोंपर प्रकाश डालिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए

1. निर्विकल्पकनऔर सविकल्पक प्रत्यक्ष

2. आंतरिक प्रत्यक्ष

3. योगज प्रत्यक्ष

4. भ्रम

5. जल्प और वितंडा

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्नलिखित कथन सही है या गलत, चिनहित कीजिए –

1. न्याय दर्शन के प्रणेता गौतम बुद्ध हैं। (सही / गलत)
2. प्रमा यथार्थ ज्ञान है। (सही / गलत)
3. न्याय और वैशेषिक दर्शन एक दूसरे के विरोधी दर्शन हैं। (सही / गलत)
4. इनिद्रयों और वस्तुओं के संन्निकर्ष से जो ज्ञान मिलता है उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। (सही / गलत)
5. यथार्थ ज्ञान का प्रमा कहते हैं। (सही / गलत)

1.10 पाठ्य पुस्तक

1. पाण्डेय संगमलाल–भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण
2. 2.Sharma, C.D.- A Critical Survey of Indian Philosophy
3. Hiriyanna, M- Outlines of Indian Philosophy
4. Das Gupta, S.N. - A History of Indian philosophy
5. देवराज,–भारतीय दर्शन का इतिहास, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद।

****

इकाई–2

अनुमान आदि प्रमाण

<u>इकाई की रूपरेखा</u>

2.0 उद्देश्य

2.1 प्राक्कथन

2.2 अनुमान का स्वरूप

2.3 अनुमान के प्रकार

2.4 पाश्चात्य तर्कशास्त्र से तुलना

2.5 उपमान

2.6 शब्द

2.7 सारांश

2.8 शब्दावली

2.9 प्रश्नावली

2.10 पाठ्यपुस्तकें

2.0 उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य न्याय दर्शन के चार स्रोतों में से प्रत्यक्ष को छोड़कर बाकी तीन–अनुमान, उपमान और शब्द– की विवेचना करना है जिस तरह प्रत्यक्ष से प्राप्त ज्ञान प्रमा कहलाता है, उसी तरह अनुमान से प्राप्त ज्ञान अनुमा, और उपमान से प्राप्त ज्ञान उपमति कहलाता है। हमारी पाठक को यह बताने की कोशशि रहेगी कि वह, इन तीनों प्रमाणों में क्या अंतर है इसे जान सके और इनके प्रकारों तथा सोपानों को समझ सकें।

2.1 प्राक्कथन

प्रत्यक्ष के बाद शायद सबसे महत्वपूर्ण ज्ञान का स्रोत अनुमान है। यह हमारे प्रत्यक्ष अनुभव और व्यापित के हमारे पूर्व ज्ञान पर आधारित होता है अतः इसमें सर्वाधिक वैधता पाई जाती है। न्याय दर्शन ने इसके पांच अंग बताए हैं जिससे अनुमान के स्वरूप को, किसी दूसरे व्यक्ति को, समझाया जा सके। ऐसा पंच अवयव अनुमान परार्थानुमान कहा गया है। स्वार्थानुमान में तीन अंग ही काफी माने गए हैं।

अनुमान यदि व्याप्ति पर आधारित है तो उपमान सादृश्य पर आधारित ज्ञान है। जिसने गाय को देखा है और नील–गाय के बारे में सुन रखा है वह नील–गाय

को आसानी से पहचान सकता है और अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकता है। उपमान हमारे जीवन के लिए एक बड़ा उपयोगी ज्ञान का स्रोत है। इससे हम न जाने कितनी नई चीजों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इसी तरह शब्द भी हैं। प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित शब्द सामान्य व्यक्तियों द्वारा प्रतिदिन बोले जाने वाले शब्द नहीं है बल्कि ये आप्त पुरुषों, ऋषि–मुनियों द्वारा कहे गए शब्द हैं जो कोई कारण नहीं की अविश्वसनीय हों। वैसे ऐसे पुरुषेय, लौकिक, शब्दों की परीक्षा भी की जा सकती है। पर अपुरुषेय शब्द, जैसा कि वैदिक शब्दों को समझा जाता है, सत्यापन के परे हैं, लेकिन उन्हें भी ज्ञान का स्रोत माना गया है।

2.2 अनुमान का स्वरूप

न्याय दर्शन के अनुसार यथार्थ ज्ञान के चार स्रोत हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द. हम पिछलई इकाई में प्रत्यक्ष की विवेचना कर चुके हैं. अब हम अनुमान पर विचार करेंगे.

ज्ञान का पहला स्रोत 'प्रत्यक्ष' है। प्रत्यक्ष के बाद अनुमान आता है। "अनुमान" शब्द दो पदों से मिलकर बना है – अनुमान. अनु का अर्थ होता है, पश्चात या बाद में. "मान" ज्ञान को कहते हैं. अतः अनुमान का शाब्दिक अर्थ हुआ, बाद में प्राप्त होने वाला ज्ञान. इस प्रकार प्रत्यक्ष के बाद, उसके आधार पर, जो ज्ञान प्राप्त होता है यह "अनुमान" है. जैसे हम आकाश में बादल को देखते हैं और और अनुमान करते हैं की वर्षा होगी, या फिर, हम दूर पहाड़ पर धुँआ देखते हैं और अनुमान करते हैं की वहां आग होगी. इन उदाहरणों में क्रमशः आकाश में बादल का प्रत्यक्ष और पहाड़ पर धुए का प्रत्यक्ष वह आधार है जिसके बल पर हमने वर्षा होने या आग होने का अनुमान लगाया. यदि यह पूर्वगामी प्रत्यक्ष न होता तो अनुमान नहीं लगाया जा सकता था.

लेकिन अनुमान के लिए इतना ही काफी नहीं है. प्रत्यक्ष निस्संदेह वह साधन (चिह्न, लिंग) है जो अनुमान के लिए जरूरी होता है, पर यह पर्याप्त नहीं है. अनुमान के पीछे हमारा वह पूर्व–ज्ञान भी सहायक है जिसे हम पहले से ही जानते हैं कि जहां जहां धुंआ होता है वहां वहां आग भी होती है.यदि हमें यह पहले से पता न होता तो धुए के प्रत्यक्ष के बावजूद भी हम पहाड़ पर आग का अनुमान नहीं लगा सकते थे. आग और धुए के बीच एक "व्याप्ति" (अनिवार्य, सार्वभौमिक सम्बन्ध) का होना, हमें पहले से ज्ञात है इसीलिए यह निष्कर्ष (साध्य) संभव हो पाया कि पहाड़ पर आग है.

तात्पर्य यह है कि अनुमान के लिए दो बातें जरूरी हैं. एक तो पहाड़ पर धुएं का वह "प्रत्यक्ष" जो पहाड़ पर आग के होने का "हेतु" बना और दूसरे धुए और आग की "व्याप्ति" का पूर्व–ज्ञान जिसके आधार पर पहाड़ पर आग होने का निष्कर्ष निकाला जा सका किसी दूसरे को यह बात समझाने के लिए (परार्थ) न्याय दर्शन ने अनुमान के लिए पांच तर्क वाक्यों (प्रतिज्ञप्तियों) की आवश्यकता बताई है. अर्थात न्याय के पांच अंग हैं. इन्हें "पचावयव" कहा गया है–

1. प्रतिज्ञा – पहाड़ पर आग है.
2. हेतु – पहाड़ पर धुँआ है.
3. उदाहरण – जहां जहां धुँआ है, वहां वहाँ आग है, जैसे रसोई में.

4. उपनय – और पहाड़ पर भी धुँआ है.

5. निगमन – इसलिए पहाड़ पर आग है.

पहला तर्कवाक्य, "प्रतिज्ञा", वह साध्य है जिसे सिद्ध करना है. यह पहला तर्कवाक्य, इसलिए है क्योंकि यह संकेत करता है कि साध्य पर ही हमें अपना ध्यान केन्द्रित रखना है और अनावश्यक बातों में उलझाना नहीं है. प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए "हेतु" आधार है. "उदाहरण" दृष्टांत के साथ व्याप्ति वाक्य है. यह भी अनुमान के लिए आधार निर्मित करता है. "उपनय" का अर्थ होता है, पास ले आना, नियुक्त करना. उपनय वाक्य व्याप्ति और उसके उदाहरण को अपने पक्ष में लाता है, नियुक्त करता है. यह बताता है की व्याप्ति का उदाहरण इस विषय पर भी लगाया जा सकता है. अंत में जिसे सिद्ध करना है, वह निगमित किया गया है. "निगमन", इस प्रकार निष्कर्ष वाक्य है।

2.3 अनुमान के प्रकार

(1) स्वार्थानुमानध्परार्थानुमान

न्याय दर्शन परार्थानुमान और स्वार्थानुमान में अंतर करता है। अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु, आदि 'पंचवयव' या तर्क–वाक्यों का विधान अनुमान को दूसरों के समक्ष कैसे प्रस्तुत किया जाए इसका एक तरीका है। दूसरों के सामने इन पांचों इन पांचों अवयवों को क्रमशः प्रस्तुत करना जरूरी समझा गया है। लेकिन यदि केवल अपने मन को ही समझाना है तो थोड़े से ही कम चल सकता है। अपने आप के लिए अनुमान की विवेचना के लिए पांच की बजाय तीन सोपान ही काफी हैं। पहाड़ पर धुंआ देखकर व्यक्ति अपने मन में यूं तक कर सकता है –

1. पहाड़ पर धुँआ है

2. जहां जहां धुँआ है, वहां वहां आग है, जैसे रसोईघर में

3. पहाड पर आग है

अनुमान के पंचवयव केवल दूसरों को समझाने के लिए है।

(2) महर्षि गौतम के तीन प्रकार

महर्षि गौतम के प्राचीन न्याय–दर्शन में अनुमान की प्रक्रिया के तीन भेद बताए गए हैं– पूर्ववत, शेषवत और सामान्योदृष्ट. पहले दो कारणता पर आधारित हैं और अंतिम कारणता की बजाय केवल सह अस्तित्व पर निर्भर है. –

1. पूर्ववत, यह कारण से कार्य का अनुमान है. जब हम ज्ञात कारण से अज्ञात कार्य का अनुमान लगाते हैं तो यह "पूर्ववत" अनुमान कहा जाएगा. बादल को देखकर वर्षा का अनुमान या अच्छी वर्षा को देखकर, अच्छी फसल का अनुमान, पूर्ववत अनुमान के उदाहरण है. पूर्ववत का अर्थ है, पहले जैसा. अर्थात जैसे पहले होता आया है उसी के आधार पर अनुमान

2. शेषवत – यह कार्य से कारण का अनुमान है. यदि हम नदी में बढ़ा हुआ पानी देखकर अनुमान लगाएं कि ऊपर पहाड़ों पर वर्षा हुई होगी अतः उसी के फलस्वरूप नदी में बाड़ आई है, तो यह शेषवत अनुमान का उदाहरण होगा. पूर्ववत में हम कारण के पूर्व–वृत्त को देखकर, उसके

आधार पर अनुमान करते हैं जब की शेषवत में कारणता के उत्तर–वृत्त को देखकर, उसके आधार पर अनुमान करते है.

3. सामान्यतोदृष्ट अनुमान – कभी कभी ऐसी स्थितियां होती हैं की हमें कारण–कार्य सम्बन्ध नहीं मिलता. तब हम अपने केवल सामान्य और अखंडित अनुभव को आधार मान कर अनुमान लगाते हैं. जैसे सींग देखकर यह अनुमान लगाना कि पशु फटे हुए खुर वाला होगा, या, चन्द्रमा को भिन्न भिन्न समय पर भिन्न भिन्न स्थानों पर देखकर अनुमान लगा लेना कि चन्द्रमा गतिशील है, सामान्योदृष्ट अनुमान हैं.

2.4 पाश्चात्य तर्क शास्त्र से तुलना

न्याय दर्शन में यथार्थ ज्ञान के जो चार स्रोत बताए गए हैं (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द) उनमें अनुमान केवल एक स्रोत है. पर पाश्चात्य दर्शन में अनुमान का इतना अधिक महत्त्व है कि वहां समूचे तर्कशास्त्र का विषय केवल अनुमान (पदमितमदबम) ही है. वहां अनुमान का अर्थ "ज्ञात से अज्ञात की ओर जाना" है. वैसे भारत में भी अनुमान का अर्थ मोटे तौर पर, प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष का ज्ञान ही है. यह अनुमान इसलिए है की प्रत्यक्ष इसका पूर्वगामी (तत्पूर्वकम) है. भारत में अनुमान के अतिरिक्त यथार्थ–ज्ञान के तीन और भी महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं, लेकिन पाश्चात्य तर्कशास्त्र केवल अनुमान तक ही सिमटा हुआ है.

पुनः, अरस्तू के तर्कशास्त्र में अनुमान के केवल तीन सोपान बताए गए हैं, जब की न्याय दर्शन में यह पञ्च–अवयवी है. इसका मुख्य कारण यह है कि अरस्तू का अनुमान केवल निगमनात्मक और आकारगत (deductive and formal) है. किन्तु न्याय दर्शन का अनुमान केवल निगमनात्मक न होकर आगमनात्मक (inductive) भी है. इसमें आकारगत सत्यता का ही ध्यान नहीं रखा गया है बल्कि वास्तविक सत्यता का भी समावेश किया गया है. न्याय दर्शन में आगमन और निगमन अपृथक हैं. वे एक ही तार्किक प्रक्रिया के दो पक्ष है. अनुमान न तो सामान्य से विशेष की ओर अग्रसर होता है और न ही विशेष से सामान्य की ओर. "उदाहरण वाक्य" से यह स्पष्ट है. इसमें आधार वाक्य, 'सामान्य", (जहां जहां धुँआ है वहां वहां आग है) का सत्य वास्तविक आगमन का परिणाम है, और इस प्रकार यहाँ आगमन और निगमन को अलग अलग नहीं किया जा सकता. हाँ, स्वार्थानुमान में पांच की बजाय तीन अवयव ही, अरस्तू के 'स्लाजिज्म' के अनुरूप, काफी माने गए हैं।

2.5 उपमान

प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त महर्षि गौतम ने "उपमान" को भी एक प्रमाण माना है. जिस तरह प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान "प्रमा" कहलाता है, अनुमान द्वारा प्राप्त "अनुमा" कहलाता है उसी तरह उपमान द्वारा प्राप्त ज्ञान को "उपमति" कहते हैं.

उपमान सादृश्य पर आधारित है. दो वस्तुओं के बीच सादृश्य के पूर्व ज्ञान पर इसे संघटित किया जाता है. इसमें किसी नाम और उसके नामी के सम्बन्ध का पूर्व ज्ञान होता है. उदाहरण के लिए मान लीजिए आपने गवय (नीलगाय) नहीं देखी है. कोई आपको बताता है की गवय एक ऐसा पशु है जो गाय से बिलकुल

मिलता जुलता है, बस उसके गल–कम्बल नहीं होता. अब आप यदि गाय से सामान कोई जानवर जंगल में देखते हैं तो आप समझ जाते हैं कि यही गवय होना चाहिए. यही ज्ञान उपमति है जो उपमान द्वारा प्राप्त हुआ है. नाम और नामी के बीच सादृश्यता के आधार पर प्राप्त हुआ है. पहले से ही यहाँ ज्ञात है की गाय और गवय में समानता होती है (बस गवय के गल– कम्बल नहीं होता) इसी आधार पर हमें गाय के सदृश्य पशु देखकर गवय का ज्ञान हो जाता है।

अक्सर यह प्रश्न उठाया गया है की क्या उपमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण माना जा सकता है? ध्यान रहे की उपमान, जैसा नाम से ही स्पष्ट है, मुख्य प्रमाण न होकर एक "उप" ज्ञान (मान) है. यह "शब्द" का ही एक प्रकार है. किसी जानकार के कहे "शब्द" से ही हमें सादृश्यता की जानकारी होती है जो उपमान का आधार है. लेकिन उपमान द्वारा हम निस्संदेह नई जानकारी प्राप्त करते हैं. ज्ञात वस्तु से अज्ञात वस्तु को जान पाते हैं. यही बात उपमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण बनाती है. उपमान के सन्दर्भ में एक बात यह भी कही गयी है की वस्तुतः उपमान और अनुमान दोनों एक ही हैं क्योंकि दोनों ही ज्ञात से अज्ञात की और छलांग लगाते हैं पर इसे अनुमान इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुमान व्याप्ति पर आधारित है जबकि उपमान सादृश्यता पर. अतः न्याय दर्शन उपमान को शब्द और अनुमान से अलग एक स्वतन्त्र प्रमा ही मानता है।

उपमान हमारे प्रतिदिन के जीवन में बड़ी भूमिका निभाता है। इसके बल पर हम न जाने कितनी नई नई चीजों को जान पाते हैं. कभी कभी तो यह नए आविष्कारों तक के लिए सहायक हुआ है।

2.6 शब्द

प्रमाण के रूप में शब्द, विश्वसनीय व्यक्ति से प्राप्त ज्ञान है। 'शब्द' का व्यवहार दो अर्थों में होता है. शब्द उस ध्वनि को कहते हैं ओ कानों को सुनाई देती है और जिसे नैयायिक आकाश का गुण मानते हैं. शब्द–प्रमाण का इन ध्वनियों का विशेष सम्बन्ध नहीं है, वर्णात्मक ध्वनियाँ जिस अर्थ की अभी व्यक्ति करती हैं वही शब्द प्रमाण से अभिप्रेत है. सामान्यतः सुनने की इन्द्रिय अर्थात, कान, का जो विषय है वह शब्द कहलाता है. किन्तु जब हम "शब्द"–प्रमाण की बात करते हैं तो शब्द से हमारा अर्थ विश्वसनीय व्यक्ति से मिला ज्ञान होता है. "शब्द" भी इस प्रकार ज्ञान है. न्याय दर्शन के अनुसार शब्द आप्त वाक्य है और आप्त वह है जो वस्तु को यथार्थ रूप में कहता है. सभी शब्द "प्रमाण" नहीं होते. केवल आप्त व्यक्तियों के ही शब्द प्रमाण स्वरुप होते हैं. जिस व्यक्ति के पास यथार्थ ज्ञान है और जो अपने ज्ञान को परोपकार के लिए प्रकट करता है, उसके वचन सत्य माने जाते हैं. विश्वसनीय शास्त्र भी हो सकते हैं और व्यक्ति भी. वात्सायन ने विश्वसनीय व्यक्ति के लिए "आप्तपुरुष" शब्द इस्तेमाल किया है और उनके वचनों को आप्तवचन कहा है. आप्त वही है जिसने वस्तु को सचमुच देखा है और जो यथार्थ सूचना देता है. ऋषि या दृष्टा या अन्य कोई पुरुष जो यथार्थ ज्ञान से संपन्न है उसके वचन ग्रहण करने योग्य होते हैं. लेकिन उनका सही अर्थ भी समझना जरूरी है. ज्ञान शब्द मात्र से नहीं बल्कि उसका अर्थ समझ लेने से होता है.

शब्द के दो भेद

अर्थ की दृष्टि से शब्द के दो भेद किए गए हैं – दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ. दृष्टार्थ शब्द वे हैं जिनसे दृष्ट या प्रत्यक्ष वस्तुओं का ज्ञान होता है, जिनका प्रत्यक्ष अनुभव संभव है. जैसे महात्माओं और धर्मग्रंथों की दृष्ट पदार्थों के सम्बन्ध में

उक्तियाँ, न्यायालयों में साक्षी के कथन, कृषकों द्वारा कृषि संबंधी जानकारी का दिया जाना. पंडितों द्वारा यज्ञ का विधि–विधान बताया जाना आदि. अदृष्टार्थ शब्द वे हैं जो अदृष्ट वस्तुओं के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कराते हैं. इन वस्तुओं का निरीक्षण नहीं किया जा सकता. इतिहास की बातें अदृष्टार्थ हैं. इनका निरीक्षण संभव नहीं है. पाप–पुण्य संबंधी धर्म गुरुओं के वचन. आत्मा, ईश्वर, स्वर्ग–नरक, आदि, के बारे में ऋषि–मुनियों के कथन भी अदृष्टार्थ ही हैं क्योंकि इनका सत्यापन निरीक्षण द्वारा संभव नहीं है.

शब्द–लौकिक और वैदिक

शब्दों का एक और वर्गीकरण भी किया गया है। शब्दों को लौकिक और वैदिक वर्गों में भी विभाजित किया गया है. आप्त–पुरुषों, विशेषज्ञों आदि, व्यक्तियों मनुष्यों द्वारा जो जानकारी मिलती है वह लौकिक–शब्द है. लौकिक शब्द अपुरुषेय नहीं होते. इस कारण इनकी जांच की जा सकती है. ये सत्य भी हो सकते हैं और असत्य भी. किन्तु अपुरुषेय शब्द अपने आप में वैध होते हैं. वेदों के वाक्य इसी प्रकार के बताए गए हैं. वेदों की वाणी देव–वाणी कही गई है. ये शब्द पुरुषेय नहीं हैं. ये अपुरुषेय आप्त वचन हैं. इनकी वैधता अन्तस्थ है.

क्या "शब्द" एक स्वतन्त्र प्रमाण माना जा सकता है? न्याय दर्शन के अनुसार यह एक स्वतन्त्र प्रमाण माना जाना चाहिए. यह अनुमान का एक प्रकार नहीं है. अनुमान में हम प्रत्यक्ष से सूचित होने वाले पदार्थ का अनुमान करते हैं. उसी प्रकार, कहा गया है. कि शब्द (आप्त वचन) को सुनकर उस पदार्थ का अनुमान करते हैं जिसका शब्द द्योतक है. अतः शब्द भी एक प्रकार का अनुमान ही है. न्याय दर्शन इस मत को भ्रामक बताता है. इसके अनुसार प्रत्यक्ष और उससे सूचित होने वाले पदार्थ में वही सम्बन्ध नहीं है जो शब्द और उसके द्वारा द्योतक वस्तु में है. धुँआ और आग साथ साथ रहते हैं, किन्तु शब्द और शब्द द्वारा द्योतक वस्तु साथ नहीं रहते. जहां जहां आप्त वचन हैं वहां वहां वचन द्वारा द्योतक पदार्थ भी है, ऐसा नही होता. न्याय दर्शन इसलिए शब्द को अनुमान से पृथक प्रमाण मानता है. हाँ, इतना जरूर है कि कभी कभी "शब्द" की सत्यता की जांच "अनुमान" द्वारा हो सकती है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला आ सकता शब्द अनुमान का ही एक रूप है. पुनः हमें बहुत सा ज्ञान "शब्द" द्वारा ही प्राप्त होता है. वस्तुओं के बारे में पढ़कर, सुनकर ज्ञान प्राप्त कर लेना शब्द ज्ञान ही तो है. जीवन में इसकी बड़ी उपयोगिता है।

2.7 सारांश

प्रत्यक्ष के अतिरिक्त यथार्थ ज्ञान का एक स्रोत अनुमान भी है। जैसा शब्द से ही स्पष्ट है यह (प्रत्यक्ष) के बाद में प्राप्त होने वाला ज्ञान है। अनुमान करने का आधार व्याप्ति का पूर्व ज्ञान है। हम पहले से जानते हैं कि जहां धुंआ है वहां वहां आग होती है।

अनुमान के पांच अवयव बताए गए हैं– प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। ये अनुमान के पंचावयव हैं। इसमें निगमन और आगमन, दोनों ही प्रकार के तर्क समाहित हैं।

स्वार्थानुमान और परार्थानुमान – आगमन के दो प्रकार हैं। स्वार्थानुमान में क्योंकि किसी दूसरे को नहीं समझना है इसलिए पांच की बजाए तीन अवयव ही पर्यापत हैं।

अनुमान तीन प्रकार के भी बताए गए हैं– पूर्ववत, शेषवत और सामान्यतोष्ट। पूर्ववत में हम कारण से अज्ञात कार्य का अनुमान लगाते हैं, शेषवत में कार्य से कारण का अनुमान लगाते हैं और सामान्यतोदृष्ट में कारण कार्यके बजाए अपने एकरूप अनुभव के आधार पर अनुमान लगाते हैं।

उपमान भी यथार्थ ज्ञान का एक स्रोत है। अनुमान से प्राप्त ज्ञान अनुमा कहलाता है। उपमान से प्राप्त ज्ञान 'उपमति' कहलाता है। यह व्यक्ति की बजाए सादृश्य पर आधारित होता है।

किसी विश्वसनीय, विशेषज्ञ आप्त पुरुष से मिला ज्ञान 'शब्द' कहलाता है। शब्द ठीक से सुना जाए और उसका सही अर्थ समझा जाए, यह आवश्यक है। दृष्टार्थ शब्द को हम अनुभव द्वारा सत्यापित कर सकते हैं, किनतु अदृष्टार्थ शब्द की जांच नहीं की जा सकती। इतिहास की बातें, अतीनन्द्रिय अनुभव के कथन आदि अदृष्टार्थ हैं। लौकिक और वैदिक शब्दों में भी भेद किया जाता है।

2.8 शब्दावली

1. अनुमान – व्याप्ति पर आधारित ज्ञान।
2. पंचावयव – अनुमान के पांच अंग (तर्क–वाक्य)
3. प्रतिज्ञा – वह साध्य जिसे सिद्ध करना है।
4. उदाहरण – दृष्टांत सहित व्याप्ति वाक्य।
5. निगमन – सिद्ध की गयी प्रतिज्ञा का पुनरूकथन।
6. पूर्ववत अनुमान – ज्ञात कारण से अज्ञात कारण का अनुमान।
7. शेषवत अनुमान – कार्य से कारण का अनुमान।
8. सामान्यतोदृष्अनुमान – सामान्य और अखंडित अनुभव के आधार पर अनुमान।
9. उपमान – सादृश्य पर आधारित ज्ञान।
10. शब्द – विश्वसनीय व्यक्ति से मिला ज्ञान।

2.9 प्रश्नावली

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

1. अनुमान क्या है? न्याय दर्शन के अनुसार इसका स्वरूप स्पष्ट कीजिए तथा पाश्चात्य न्याय वाक्य से इसका अंतर बताइए.
2. परार्थानुमान 'पंचावयव' है। इस कथन की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
3. उपमान किसे कहते हैं? अनुमान से यह किस प्रकार भिन्न है? क्या इसे एक स्वतंत्र प्रमाण माना जा सकता है? अपने उत्तर की पुष्टि कीजिए।
4. न्याय के अनुसार शब्द प्रमाण क्या है? क्या इसे ज्ञान का एक स्वतन्त्र स्रोत माना जा सकता है?

लघु उत्तरीय प्रश्न –

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें–

1. स्वार्थानुमान और परार्थानुमान
2. पूर्ववत और शेषवत अनुमान
3. समान्यतोदृष्टि
4. लौकिक और वैदिक

वस्तुनिष्ट प्रश्न–

निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत, चिन्हित कीजिए–

1. आप्त पुरुषों का वचन 'लौकिक' शब्द है। (सही–गलत)
2. स्वार्थानुमान के लिए पंचावयव का विधान है। (सही–गलत)
3. अनुमान का आधार व्याप्ति है। (सही–गलत)
4. अनुमान से प्राप्त ज्ञान को 'उपमति' कहते हैं। (सही–गलत)

2.10 पाठ्यपुस्तकें

1. देवराज– दर्शनशास्त्र का इतिहास, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद।
2. संगम लाल पांडे – भारतीय दर्शन की रूपरेखा
3. Sharma C.D. - A Critical Survey of India Philosophy
4. Hiriyanna, M- Outlines of Indian Philosophy
5. Das Gupta S.N. - History of Indian Philosophy Vol-1.

****

इकाई–3

ईश्वर की अवधारणा

<u>इकाई की रूपरेखा</u>

3.0 उद्देश्य

3.1 प्राक्कथन

3.2 नास्तिक और आस्तिक दर्शन

3.3 ईश्वर की अवधारणा

3.4 ईश्वर के अस्तितव के सम्बंध में प्रमाण

3.5 प्रमाणों पर आक्षेप और उनके उत्तर

3.6 सारांश

3.7 शब्दावली

3.8 प्रश्नावली

3.9 पाठ्यपुस्तकें

3.0 उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य न्याय वैशेषिक दर्शन के ईश्वरवाद की विवेचना और व्याख्या करना है। इसे पढ़कर पाठक यह समझ सकेगा कि (1) दर्शन के न्याय–वैशेषिक सम्प्रदाय को आस्तिक सम्प्रदाय क्यों और किस अर्थ में कहा जाता है? (2) न्याय दर्शन के ईश्वरवाद में ईश्वर का स्वरूप क्या है? (3) ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में इन दर्शनों में क्या प्रमाण दिए गए हैं? (4) इन युक्तियों को कहां तक स्वीकार किया जा सकता है? क्या ये तार्किक रूप से सही हैं?

3.1 प्राक्कथन

न्याय और वैशेषिक जुड़वां दर्शन कहलाते हैं। वे एक दूसरे के पूरक हैं। वैशेषिक दर्शन न्याय की ज्ञान–मीमांसा को स्वीकार करता है और न्याय दर्शन वैशेषिक की तत्व मीमांस को। इस प्रकार वे दोनों एक दूसरे के हाथ में हाथ डालकर चलतेहैं। कहने को तो दोनों ही ईश्वरवादी दर्शन हैं, किन्तु न्याय दर्श्न के तर्कशास्त्र में ईश्वर की कोई भूमिका ढूंढ़ पाना कठिन है और वैशेशिक दर्शन की तत्व परमाणुवादी तत्व मीमांसा में भी ईश्वर के लिए बहुत कम गुंजाइश है। इसीलिए न्याय और वैशेषिक दर्शन के प्रणेताओं ने अपने अपने सूत्रों में ईश्वर के अस्त्वि की लगभग नहीं के बराबर चर्चा की है। किनतु बाद के व्यख्याकारों ने जैसे उदयनाचार्य और वात्स्यायन ने न्याय दर्शनको भलीभांतिएक ईश्वरवादी दर्शन बना दिया। वैशेषिक दर्शन की एक बड़ी दुवधि यह थी कि यह परमाणुवाद को स्वीकार

करते हुए भी पूरी तरह से भौतिकवादी होने से कैसे बचे? इसके लिए उसने द्रव्य की सूची में आत्मा आदि कोभी सम्मिलित कर लिया और यदि आत्मा है तो परमात्मा के लिए भी स्थान बन ही गया। इससे मृत परमाणुओं में मानो जान आ गई। यति को गति मिल गई। उदयन ने ईश्वर के अस्तित्व को सिदध करने के लिए तमाम युक्तियां जुटा लीं और इस प्रकार ईश्वर की उपस्थिति को एक बौद्धिक आधार प्रदान किया। यह न्याय वैशेषिक दर्शन के तर्क बुद्धि वादी अधिगमन के अनुरूप भी था। न्याय वैशेषिक दर्शन इस प्रकार निरीश्वरवादी नास्तिक दर्शन होने से बच गया।

3.2 नास्तिक और आस्तिक दर्शन

भारतीय दार्शनिक परम्परा को प्रायः दो धाराओं में बंटा हुआ देखा जा सकता है। आस्तिक परम्परा और नास्तिक परम्परा। आस्तिक परम्परा बेदानुगामी है।

इनका स्रोत वेदों में है। दूसरी परम्परा, जिसे नास्तिक कहा गया है, वेदों से स्वतंत्र है। आस्तिक और नास्तिक का इस प्रकार का भेद भारतीय दर्शन का एक पारिभाषिक भेद है। सामान्यतः हमारी भाषा में आस्तिक और नास्तिक का भेद ईश्वर की सत्ता में क्रमशः विश्वास और अविश्वास पर आधारित है वह व्यक्ति जो ईश्वर को नहीं मानता है नास्तिक कहलाता है। लेकिन भारतीय दर्शन में ऐसे कई दार्शनिक सम्प्रदाय आपको मिल जायेंगे जो सामान्य अर्थ में नास्तिक होते हुए भी पारिभाषिक अर्थ में आस्तिक हैं। सांख्य दर्शन इसका एक ज्वलंत उदाहरण है। इसका शुमार वेदों को प्रमाण मानने के कारण आस्तिक दर्शनों में होता है, किन्तु सामान्य अर्थ में यह नास्तिक है, क्योंकि निरीश्वरवादी है। भारत के छः दर्शनों में जो आस्तिक कहे जाते हैं, सांख्य एकमात्र ऐसा दर्शन है जो निरीश्वरवाद के अर्थ में नास्तिक दर्शन है। शेष सब वेदों के प्रमाण को तो मानते हैं, ईश्वरवादी होने के नाते भी आस्तिक ही हैं।

न्याय वैशेषिक दर्शन भी दोनों ही अर्थों में आस्तिक हैं। वह वेदों को प्रमाण भी मानता है और ईश्वरवादी भी है। छः आस्तिक दर्शनों में न्याय और वैशेषिक का स्थान पहले दो दर्शनों में है, और मजे की बात यह है कि केवल एक विन्दु को छोड़कर (कि वे वेद प्रमाण को स्वीकार करते हैं), वे मोटे तौर पर वेदानुगामी भी नहीं कहे जा सकते। वेदों का रुझान कुल मिलाकर आध्यात्मिक है, वहां अंतिम सत्ता, ब्रह्म, आत्मा के स्वभाव की है और यह ''एक'' है। न्याय वैशेषिक एक नहीं अनेक पदार्थों/द्रव्यों को सत्ता के रूप में मानता है। बेशक उनमें आत्मा, भी हैं और एक परमात्मा भी है। किन्तु उसका रुझान भौतिकवादी अधिक है क्योंकि अंततः वह सृष्टि का निर्माण भौतिक अणुओं में ही देखता है। यदि न्याय–वैशेषिक श्रुति प्रमाण न मानते तो शायद इनकी गणना भी नास्तिक दर्शनों में ही होती। इन दोनों का चिंतन वेदों से सर्वाधिक स्वतंत्र है। वे ईश्वरवादी होने के नाते सामान्य अर्थ में निः सन्देह आस्तिक ही कहे गए हैं। किन्तु न्यायदर्शन के व्याख्याकारों में इस बात पर बहस है कि इस दर्शन में ईश्वर के लिए क्या कोई स्थान बचता भी है? यहां यह भी ध्यातव्य है कि न्याय दर्शन के प्रणेता गौतम मुनि के सूत्र में भले ही कभी ईश्वर का सन्दर्भ आकस्मिक रूप से आ गया हो पर वैशेषिक दर्शन के कणाद मुनि के सूत्र में तो ईश्वर कोई सन्दर्भ है ही नहीं। यह तो बाद के व्याख्याकारों ने ईश्वर की आवश्यकता को महसूस करते हुए उसके अस्तित्व को न्या वैशेषिक दर्शन में प्रतिष्ठित किया और इसे पूरी तरह ईश्वरवादी बना दिया।

जो भी हो, न्याय वैशेषिक दर्शन जैसा आज हमारे समक्ष है, एक आस्तिक दर्शन है, पारिभाषिक और सामान्य दोनों ही अर्थों में।

3.3 ईश्वर की अवधारणा

आरंभिक न्याय और वैशेषिक दोनों ही दर्शनों में ईश्वर का कोई भी सन्दर्भ नही मिलता। वैशेषिक दर्शन के कणाद सूत्र में ईश्वर का कोई जिक्र नहीं है। गौतम–मुनि ने बहुत ही चलते ढंग से ईश्वर का उल्लेख अवश्य किया और उसे गंभीरता से नहीं लिया जा सकता। इससे संदेह होने लगता है कि न्याय–वैशेषिक दर्शन है भी या नहीं। परन्तु न्याय वैशेषिक की तत्व मीमांसा को देखते हुए, बाद के व्याख्याकारों ने ईश्वर के अस्तित्व और उसकी उपस्थिति को सम्प्रदाय की आंतरिक आवश्यकता समझते हुए ईश्वर का मान्यता ही नहीं दी, बल्कि ईश्वर की अवधारणा को न्याय–वेशेषिक दर्शन में पूरी तरह से प्रतिष्ठित कर दिया। प्रशस्तपाद और वात्स्यायन, इन दोनों व्याख्याकारों ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया और यह न्याय–वैशेषिक का एक अनिवार्य हिस्सा बन गया। उदाहरण के लिए उदयन ने न्याय वैशेषिक दर्शन में ईश्वर के लिए प्रमाण जुटा, और श्रीधर ने उसके स्वभाव को सुस्पष्ट किया।

ईश्वर का स्वरूप

वैशेषिक दर्शन भौतिक सत्ता को स्वीकार करता है किन्तु उसका ईश्वर आत्मन के स्वरूप का है। वह बेशक जीवात्मा नहीं है। वह परमात्मा है। वह अन्य जीवों की तरह शाश्वत और सर्वव्यापी है, लेकिन जहां अन्य जीवों में चेतना हो सकती है और नहीं भी हो सकती है, वहीं ईश्वर चिर–चेतन है। वह शाश्वत, सार्वभौमिक और पूर्णतः ज्ञानवान है। उसे सभी वस्तुओं और घटनाओं का यथार्थ ज्ञान है। वह सर्वज्ञ है। वह ज्ञान का आश्रय है, स्वयं ज्ञान नहीं है। वह इच्छा कर सकता है और संकल्प कर सकता है लेकिन जीवात्मा की तरह उसे दुःख–सुख नहीं होता। वह पाप और घृणा से रहित है। दिक–काल आदि द्रव्यों का ईश्वर के साथ शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है। वे उसे सीमित नहीं करते। उसमें आधिपत्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य – ये सारे ऐश्वर्य पूर्णतः मौजूद हैं। वह इस प्रकार षड–ऐश्वर प्राप्त है।

क्या ईश्वर को न्याय वैशेषिक दर्शन में एक व्यक्तित्व प्रदान किया गया है? कहना मुश्किल है, लेकिन जिस तरह ईश्वर को इच्छा करने वाला और संकल्प करने वाला बताया गया है उससे हम यह भी नहीं कह सकते कि न्याय वैशेषिक का ईश्वर पूरी तरह निर्वैयक्तिक है। पर ईश्वर की परिकल्पना मनुष्य की छवि में भी नहीं हुई है। फिर भी क्योंकि उसे आत्मा की कोटि में रखा गया है, मनुष्य के स्वभाव से उसकी निकटता से इनकार नहीं किया जा सकता।

ईश्वर जगत का सृष्टा, पालन करने वाला और नाश करने वाला है। सृजनकर्ता है, विश्वकर्मा है। वह अपने साथ रहने वाली नित्य सत्ताओं–परमाणुओं, दिक, काल, आकाश, मन तथा आत्माओं से जगत की सृष्टि करता है।

ईश्वर की ही इच्छा से जगत स्थिर रहता है। वह जगत का पालनकर्ता है। वह जीवात्माओं से कर्मों का निर्देश करता है। जिस प्रकार कोई बुद्धिमान और दयालु पिता अपने पुत्र को उसकी बुद्धि, योग्यता और गुणों के अनुसार काम करने को प्रेरित करता है वैसे ही ईश्वर भी जीवों के अदृष्ट के अनुसार उन्हें काम करने को तथा उसके अनुसार फल पाने को प्रेरित करता है। वह जीवों के कर्मों का

प्रयोजन–कर्ता हैं वह जीवों का व्यवस्थापक, कर्म–फल दाता और सुख–दुख को निश्चित करने वाला है।

जगत के संहार की जरूरत पड़ने पर ईश्वर अपने विद्ध्वंसक शक्तियों से जगत का नाश करने वाला (महेश रूप) है। किन्तु यह संहार जगत की नए सिरे से सृष्टि के लिए ही होता है।

3.4 ईश्वर के अस्तितव के सम्बंध में प्रमाण

न्याय–वैशेषिक दर्शन में ईश्वर स्वतः प्रकट हो गया, ऐसा नहीं माना गया है। यहां उसके अस्तित्व का अनुमान लगाया गया है। ईश्वर के प्राकट्य सिद्धांत में न्याय दर्शन को विश्वास नहीं है। ईश्वर का अनुमान लगाना अधिक तर्क–बुद्धि संगत प्रतीत होता है और यह न्याय–वैशेषिक की कुल मिलाकर तार्किक बुद्धि के अनुरूप भी है। न्याय–वैशेषिक में ईश्वर के अस्तित्व के लिए जो प्रमाण प्रस्तुत कि, है वे काफी सामान्य किस्म के हैं। हम उनके विस्तार में न जाकर यहां केवल उदयन द्वारा प्रस्तुत कुछ प्रमाणों की ही चर्चा करेंगे।

उदयनाचार्य ने अपनी कुसुमांजलि में ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित श्लोक में नौ तर्क दिए हैं । वे इस प्रकार हैं –

कार्यायोजन धृत्यादेः प्रदात्प्रत्ययतः श्रुते।

वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।।

संक्षेप में ये तर्क निम्नलिखित हैं–

(1) कार्यात्–ईश्वर की सिद्धि के लिए नैयायिकों यह यह सबसे प्रसिद्ध तर्क है। इसके अनुसार पृथ्वी, अंकुर, आदि कर्ता से उत्पन्न है, क्योंकि वे कार्य हैं। जो–जो कार्य होता है वह कर्ता से उत्पन्न होता है, जैस घट। जगत कार्य है, उसका एक निमित्त कारण होना जरूरी है। यह बुद्धिमान कारण ही ईश्वर है। ईश्वर ही निरावयव (परमाणुओं) को सावयव वस्तुओं में परिणत करता है।

(2) आयोजनात – परमाणु अपने आप में निष्क्रिय है। उनके संयोग के लिए उन्हें गतिवान होना आवश्यक है। । उन्हें यह गति ईश्वर द्वारा मिलती है। सृष्टि के आरम्भ में दो परमाणुओं को मिलाकर द्वणुक बनाना बिना ईश्वर के नहीं हो सकता। परमाणुओं का संयोगकर्ता ईश्वर है। ईश्वर ही विश्व को दिशा प्रदान करता है। इसका आयोजन करता है। वयवस्था ओर रूप देता है। विश्व उसी के द्वारा रचित अभिकल्पित है। इसे हम ईश्वर के अस्तित्व के लिए 'रचना–युक्ति' कह कसते हैं।

(3) धृत्यादे – विश्व का अधिष्ठान ईश्वर ही है अन्यथा जगत का टिक पाना असंभव है। यदि ईश्वर जगत को धारण न करे तो पृथ्वी आदि, लोक गिर पड़ें। ईश्वर के संकल्प से ही सुष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं।

(4) पदात् – शब्द को शक्ति प्रदान करने वाला ताकि वह अर्थवान हो सके, ईश्वर ही है। पदों में अपने विषयों का अर्थ करने की शक्ति ईश्वर से ही आती है। कपड़ा बुनने आदि की कला, गुरु शिष्य परम्परा से चली आती हैं। इनका आविष्कार प्रारम्भ में ईश्वर द्वारा ही हुआ होगा। पतंजलि का

कथन है कि ईश्वर प्राचीनों का भी गुरु है, उसकी काल–कृत सीमा नहीं है।

(5) प्रत्ययतः – वेदों का प्रामाण्य ईश्वर से आया है। वेद जो यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करते हैं, इसका श्रेय ईश्वर को ही है। ईश्वर ही वेदों को प्रमाणिक बनाने वाला है। ईश्वर वेद–वाक्यों का स्रोत है। यह ईश्वर की अस्तित्व के लिए वेदों की प्रामाणिकता पर आधारित तर्क है।

(6) श्रुतेः – श्रुति भी कहती है कि ईश्वर है। इस प्रकार वह उसके (ईश्वर के) अस्तित्व को साबित करती है। यह श्रुतियों की आप्तता पर आधारित तर्क है।

(7) वाक्यात – वैदिक वाक्यों में नैतिक नियमों का उल्लेख है। ये वैदिक नियम देवी नियम है और इनका बनाने वाला भी ईश्वर ही होना चाहिए। वेद वाक्यों का निर्माता और नैतिक नियमों का निर्णायक ईश्वर है। इसे हम नैतिक युक्ति कह सकते हैं।

(8) संख्या विशेषात – न्याय वैशेषिक के अनुसार दो परमाणुओं के मेल से द्वयणुक बना जिससे त्रयणुक बना और जगत की सृष्टि संभव हुई। इस दो संख्या की कल्पना करने वाला ईश्वर ही तो होगा। द्यणुक दो संख्याओं से बनता है, अणुओं के सूक्ष्म द्रव्य से नहीं बनता। सृष्टि के आरंभ में अत्माएं, अणु, अदृष्ट, दिक्, काल, मानस आदि सभी अचेतन रहते हैं। फिर संख्या कहां से आई? अतः ईश्वर का अस्तित्व मानना जरूरी है।

(9) अदृष्टात् – उदयन ने ईश्वरीय सत्ता के लिए यह आखिरी प्रमाण दिया है। पहले उन्होंने अदृष्ट की स्थापना की और फिर यह दिखलाया कि अदृष्ट का नियमपूर्वक व्यापार ईश्वर के बिना हो नहीं सकता। अदृष्ट का संचालक, पुण्य पाप का संचय करने वाला भी एक बुद्धिमान और शक्ति संपन्न पदार्थ अर्थात ईश्वर का होना आवश्यक है। हम सब अपने धर्म के अनुसार फल भोगते हैं। कर्मों से पाप–पुण्य होते हैं। पाप–पुण्य का भण्डार अदृष्ट अचेतन है। इसलिए अदृष्ट के अनुसार कर्म फल होने के लिए ईश्वर की जरूरत है। यह युक्ति भी नैतिक युक्ति कही जा सकती है।

न्याय दर्शन में दिये गए उपरोक्त 'प्रमाण' आधुनिक काल में कितने महत्वपूर्ण हैं, यह कहना बड़ा कठिन है। भिन्न–भिन्न व्यक्तियों को भिन्न–भिन्न प्रकार की युक्तियां अच्छी लग सकती हैं। अदृष्ट के संचालन अथवा कर्मफल के नियमन के लि, ईश्वर की आवश्यकता है, यह तर्क पुनर्जन्म और कर्म–सिद्धांत में विश्वास करने वालों के लिए काफी महत्वपूर्ण हो सकता है।

3.5 प्रमाणों पर आक्षेप और उनके उत्तर

न्याय के ईश्वरवाद और ईश्वर के सम्बन्ध में दिये गये प्रमाणों के विरुद्ध कुछ आक्षेप उठाए गए जिनका समाधान भी न्याय दर्शन को मानने वाले व्याख्याकारों ने दिया है। ये इस प्रकार हैं –

(1) ईश्वर की सिद्धि के लिए नैयायिकों का सबसे प्रसिद्ध तर्क 'कार्यात' है। उदयन के गिनाए क, नौ तर्कों में यह भी पहला तर्क है। इस तर्क के अनुसार क्योंकि जगत 'कार्य' है इसलिए उसका एक 'कर्ता' भी आवश्यक है।

इस युक्ति के आलोचकों ने बतलाया है कि जगत को 'कार्य' मान लेना, वास्तव में जो सिद्ध करना है, जो साध्य है, उसे सिद्ध मान लेना है। जगत का कार्य होना स्वयं सिद्ध सत्य नहीं है। उसे प्रमाण की अपेक्षा है। यह कहना कि सावयव होने के कारण जगत कार्य है, भी ठीक नहीं। दूसरे कर्ता शरीरवान ही देखा गया है। यदि ईश्वर जगत का कर्ता है तो उसे शरीर होना चाहिए। किन्तु शरीरवान कर्ता सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान और सब प्रकार से शुद्ध नहीं हो सकता, न उसका शरीर ही नित्य हो सकता है। अनित्य शरीर के कर्ता की अपेक्षा होगी। ईश्वर के शरीर का कर्ता कौन हो सकता है?

नैयायिक इस आक्षेप का उत्तर इस तरह देते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व या तो श्रुति से सिद्ध हो गया है या नहीं हुआ है। यदि सिद्ध हो गया है तो फिर यह आक्षेप उठाना बेकार है। यदि यह सिद्ध नहीं हुआ है तो यह आक्षेप उठाने की क्या जरूरत है?

(2) ईश्वर के अस्तित्व के बारे में उदयन की तीसरी और चौथी युक्ति में अन्योन्याश्रय दोष का आक्षेप लगाया जा सकता है परन्तु सर्व दर्शन संग्रह के अनुसार यहां यह दोष नहीं है क्योंकि यह दोष तभी होता है जब दो विषय एक ही दृष्टि से परस्पर निर्भर हों। पर यहां अस्तित्व की दृष्टि से वेद ईश्वर पर निर्भर है क्योंकि ईश्वर ने वेद बना, हैं, और मनुष्य के ज्ञान की दृष्टि से ईश्वर वेद पर निर्भर है क्योंकि उससे ही मनुष्य को ईश्वर का ज्ञान होता है।

(3) एक आक्षेप सृष्टि में ईश्वर के प्रयोजन को लेकर भी लगाया गया है। सृष्टि में ईश्वर का प्रयोजन इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर पूर्ण है सृष्टि को बनाने वाला आवश्यक नहीं कि वह ईश्वर ही हो। दूसरों के लिए प्रयोजन तय करने वाला बुद्धिमान हो यह भी जरूरी नहीं। यदि यह प्रयोजन करुणा है तो संसार में दुःखी जन क्यों हैं? इसलिए ईश्वर को संसार बनाने वाला नहीं माना जा सकता।

इसके उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि ईश्वर ने संसार को करुणा के कार.ा बनाया है। जीवों के अदृष्ट के कारण सृष्टि होने से उसमें दुःख सुख दोनों का होना स्वाभाविक है। परन्तु ईश्वर सृष्टि के अधीन नहीं है, जैसे मनुष्य का शरीर उसको गुलाम नहीं बनाता— बल्कि कर्म करने के लिए और लक्ष्य प्राप्त करने में उसकी सहायता करता है। ठीक इसी प्रकार संसार ईश्वर को परतंत्र नहीं बनाता बल्कि उसके प्रयोजन की पूर्ति में सहायता करता है।

ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण में दार्शनिकों ने आज तक जितने भी युक्तियां दी हैं, उनमें से कोई भी तर्क–संगत नहीं ठहरी है और न्याय वैशेषिक के तथा–कथित प्रमाण भी न्याय संगत नहीं कहे जा सकते। ईश्वर विश्वास का विषय है और विश्वास के विषय की तर्क द्वारा पुष्टि नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त, आज इन युक्तियों का क्या महत्व रह गया है वह भी संदेह–युक्त है। शंकराचार्य ने न्याय के ईश्वरवाद की कड़ी आलोचना की है और उसके ईश्वर के सिद्धांत को अविकसित और आपूर्ण माना है।

3.6 सारांश

न्याय और वैशेषिक दोनों ही ईश्वरवादी दर्शन हैं। इस अर्थ में वे आस्तिक दर्शन कहे जा सकते हैं। वे इस अर्थ में भी आस्तिक हैं कि दोनों ही वेदों को

प्रमाण मानते हैं। पर इससे अधिक कुछ नहीं। दोनों की दार्शनिक राह वेदों से स्वतंत्र है और ईश्वर की स्वीकृति भी, उनकी दार्शनिक दृष्टि को देखते हुए, अनावश्यक सी है।

न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर जगत को बनाने वाला, पालने वाला और नाश करने वाला। वह आधिपत्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य से युक्त है। उसके अस्तित्व के लिए उदायन ने नौ तर्क दिये हैं। वे हैं (1) कार्यात (2) आयोजनात (3) धृत्यात (4) पदात (5) प्रतययतः (6) श्रुतेः (7) वाक्यात (8) संख्याविशेषात तथा (9) अदृष्टात। इन तथाकथित प्रमा.ाों पर अनेक आक्षेप लगाए गए हैं और नैयायिकों ने उनका उत्तर देने का भी प्रयास किया है लेकिन आज के दार्शनिक परिदृश्य में इनका कोई महत्व नहीं है। ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में दी गई सारी युक्तियां तर्क की दृष्टि से दोषपूर्ण ही होती हैं।

3.7 शब्दावली

(1) आस्तिक दर्शन – वे दर्शन जो ईश्वर को प्रमाण (श्रुति प्रमाण) मानते हैं। सामान्य अर्थ में आस्तिक वह है जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है।

(2) नास्तिक दर्शन – वे दर्शन जो श्रुति प्रमाण को स्वीकार नहीं करते। सामान्य अर्थ में ईश्वर को न मानने वाला भी नास्तिक कहलाता है।

(3) ईश्वरवाद – वह दार्शनिक सिद्धांत जो ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है।

(4) ईश्वर – षड–ऐश्वर्य (आधिपत्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य) को धारण करने वाला परमात्मा।

(5) अदृष्ट – इस जन्म और पूर्व जन्म के अच्छे या बुरे कर्मों से पैदा पाप–पुण्यों का भण्डार

3.8 प्रश्नावली

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) ईश्वरवाद से क्या अर्थ है? क्या सभी आस्तिक दर्शन ईश्वरवादी होते हैं? न्याय वैशेषिक दर्शन के सन्दर्भ में अपना उत्तर लिखें।

(2) ईश्वर, उसकी प्रकृति तथा सत्ता, के विषय में न्याय वैशेषिक मत की विवेचना कीजिए।

(3) ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में न्याय द्वारा दिये गये तर्कों को स्पष्ट रूप से समझाइए। ये कहां तक संतोषजनक हैं?

लघु उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए–

(1) षड–ऐश्वर्य

(2) ईश्वरवाद

(3) आस्तिक दर्शन

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्नलिखित कथन सही है या गलत, चिन्हित कीजिए –

(1) न्याय–वैशेषिक आस्तिक दर्शन नहीं है। (सही / गलत)

(2) न्याय दर्शन में ईश्वर परम आत्मा की तरह माना गया है। (सही / गलत)

(3) ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में कार्याताादि युक्तियां गौतम ऋषि की दी हुई हैं।(सही / गलत)

(4) न्याय–वैशेषिक 'ईश्ववादी' दर्शन है। (सही / गलत)

3.9 पाठ्यपुस्तकें

1. संगल लाल पाण्डेय – भारतीय दर्शन की रूपरेखा
2. देवराज – दर्शनशास्त्र का इतिहास, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद।
3. रामनाथ शर्मा – भारतीय दर्शन के मूल तत्व
4. C.D. Sharma - A Critical Survey of Indian Philosophy
5. Hiriyanna M, Outlines of Indian Philosophy

****

इकाई–4

पदार्थ

इकाई का उद्देश्य

4.0 उद्देश्य

4.1 प्राक्कथन

4.2 वेशेषिक दर्शन का सामान्य परिचय

4.3 पदार्थ का स्वरूप

4.4 पदार्थ–1–द्रव्य (पंच भूत)

4.5 पदार्थ–1–द्रव्य (दिक् और काल)

4.6 पदार्थ–2–गुण

4.7 पदार्थ–3–कर्म

4.8 पदार्थ–4–सामान्य

4.9 पदार्थ –5–विशेष

4.10 पदार्थ–6–समवाय

4.11 पदार्थ–7–अभाव

4.12 आलोचनात्मक टिप्पणी

4.13 सारांश

4.14 शब्दावली

4.15 प्रश्नावली

4.16 पाठ्यपुस्तकें

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य न्याय वैशेषिक दर्शन में उन पदार्थों से परिचित कराना है जिन्हें वह ज्ञान का वास्तविक विषय मानता है। इससे पहले यह भी जरूरी है कि पाठक को न्याय–वैशेषिक, खास तौर पर वैशेषिक दर्शन, का सामान्य परिचय दे दिया जा, और उसके प्रणेता के बारे में भी बता दिया जाए, क्योंकि कणाद ने ही अनेक तत्ववादी और वस्तुवादी इस दर्शन की नींव रखी है। पदार्थ क्या है और उसका स्वरूप क्या है इस बारे में बताकर हमारा उद्देश्य है कि न्याय वैशेषिक के सातों पदार्थों के बारे में भी पाठक संक्षिप्त ज्ञान प्राप्त कराया जाए। पदार्थों में पहला पदार्थ द्रव्य है जो सबसे महत्वपूर्ण हैं कोशिश की गई है कि द्रव्य

के स्वरूप और द्रव्य कितने हैं, इसकी विस्तृत चर्चा हो ताकि आगे चलकर न्याय वैशेषिक का परमाणुवाद आसानी से समझा जा सके।

4.1 प्राक्कथन

न्याय वैशेषिक भारत के षड–दर्शनों में दो अकेले जुड़वां दर्शन हैं जो वस्तुवादी और अनेकत्ववादी आस्तिक दर्शन हैं। न्याय–वैशेषिक दर्शन जहां ज्ञान मीमांसा पर बल देता है, वहीं वैशेषिक का मुख्य आग्रह तत्व मीमांसा में है। यह विश्व की व्याख्या, एक नहीं, दो नही, बल्कि पूरे सात तत्वों से करने की कोशिश करता है– इन सात तत्वों को वह पदार्थ की संज्ञा देकर वस्तुओं को जिस पद से पुकारा जाता है, उसका अर्थ उन्हें मानता है। सभी पदार्थ ज्ञान के मूल विषय हैं जिन्हें हमने अनुमान से प्राप्त किया है। ये सात पदार्थ क्रमशः द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव हैं। इनमें द्रव्य, पहला पदार्थ, वस्तुवादी और अनेकत्ववादी दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है न्याय वैशेषिक में नौ द्रव्यों का हवाला मिलता है। ये हैं अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी और आकाश (जिन्हें हम सामान्यतः पंचभूत के नाम से जानते हैं), दिक् और काल तथा मन और आत्मा। आत्मा को भी पदार्थों में सम्मिलित कर न्याय–वैशेषिक दर्शन ने अपनी भौतिकवादी प्रतिज्ञा से मानों थोड़ा समझौता कर लिया है और दर्शन को पूरी तरह भौतिकवादी होने से मानो बचा लिया है।

4.2 वेशेषिक दर्शन का सामान्य परिचय

दर्शनशास्त्र के अनेक कार्यों में एक कार्य विश्व की व्याख्या करने का प्रयत्न भी रहा है. वे मूल तत्व जिनसे कि विश्व का निर्माण हुआ, क्या हैं और उनकी संख्या कितनी है? क्या वे अनेक हैं? या अनेक न होकर वे केवल दो ही हैं? अथवा, क्या मात्र एक ही मूल–तत्व से हम समस्त विश्व की व्याख्या कर सकते हैं? अन्य दार्शनिकों की भाँति वैशेषिक दार्शनिकों ने भी जगत के उपादान तत्वों पर विचार किया और इन्हीं उपादान तत्वों को ढूँढ़ते हुए वे परमाणुवादी बहुतत्ववाद तक आ पहुंचे.

न्याय दर्शन के प्रणेता गौतम मुनि थे जबकी वैशेषिक के प्रणेता कणाद मुनि माने जाते हैं. ऐसा प्रतीत होता है कि कणाद ई.पू. छटी शताब्दी से दसवीं के मध्य कभी रहे होंगे. कहते हैं कि कणाद मुनि खेतों में पड़े अन्न–कण बीन कर खाते थे. शायद इसीलिए उनका नाम कणाद पडा और इसीलिए उन्हें कणभुक या कणभक्ष भी कहा गया है. उनका दर्शन 'कणाद दर्शन' कहलाया. एक परम्परा के अनुसार कणाद को उलूक नाम से भी पुकारा जाता था. अतरू उनके दर्शन को 'औलूक्य–दर्शन' भी कहा जाता है. (यहाँ यह ध्यातव्य है कि भारत में भी संभवतः कभी उल्लू ज्ञान का प्रतीक माना गया हो, ठीक जैसे इसे पाश्चात्य देशों में ज्ञान का प्रतीक माना जाता है. कालान्तर में शायद जब ज्ञानवान लोगों ने मूर्खों की तरह व्यवहार करना आरम्भ दिया उल्लू भी मूर्खता का प्रतीक हो गया हो.

कणाद के दर्शन को वैशेषिक नाम क्यों मिला इसके सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं है. 'कण' का तात्पर्य अन्नकणों से तो है ही, इसका अर्थ 'विशेष' से भी है. हो सकता है इसीलिए कणाद दर्शन का नाम वैशेषिक पड़ गया हो ! शब्द विशेष, विभेद के लिए भी प्रयुक्त होता है. वैशेषिक दर्शन विश्व में एकत्व की

बजाय अनेकत्व पर बल देता है और ऐसा वह विभिन्न तत्त्वों में विभेद करके ही कर पाता है. वैशेषिक दर्शन का विशेष पर आग्रह ही उसे वैशेषिक बनाता है.

वैशेषिक दर्शन ने अपनी अनेकवादी दार्शनिक स्थिति, विभिन्न पदार्थों में भेद करने से ही प्राप्त की है और इस प्रकार उसकी तत्वमीमांसा वेदाश्रित दर्शनों में कदाचित सर्वाधिक अवैदिक है पदार्थ का वर्गीकरण, बहुत्ववाद और परमाणुवाद वैशेषिक दर्शन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत हैं। इसके अतिरिक्त वैशेषिक दर्शन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत है। इसके अतिरिक्त वैशेषिक दर्शन का दृष्टिकोण संश्लेषणात्मक न होकर विश्लेषणात्मक है और इस प्रकार अन्य हिन्दू दार्शनिक सम्प्रदायों की अपेक्षायह अधिक वैज्ञानिक भी है। वैदिक दर्शनों में ये सारी प्रवृत्तियां सहज रूप से कभी नहीं अपनाई जा सकीं।

4.3 पदार्थ का स्वरूप

वैशेषिक दर्शन के अनुसार समस्त ज्ञान, सहज ही इस बात की ओर संकेत करता है कि ज्ञान की वस्तु, ज्ञान से परे, उससे स्वतंत्र है। ''न चाविषय काचिदुपलब्धिः''। ये सभी वस्तु, न केवल ज्ञान से स्वतंत्र हैं बल्कि एक दूसरे से भी स्वतंत्र हैं। अतः वैशेषिक मत को हम वस्तुवादी अनेकवाद कह सकते हैं। यकीनन इससे हमें यह नहीं समझ लेना है कि वस्तुएं एक दूसरे से जुड़ी हुई नहीं है। वे असम्ब) नहीं है। न्याय वैशेषिक ने सभी वस्तुओं का वर्गीकरण सात पदार्थों में किया है।

पदार्थ किसी भी पद के अर्थ की ओर संकेत करता है। इसका आशय किसी उस वस्तु से है जिसे नाम दिया जा सके। अनुभव की सभी वस्तुएं –भौतिक या अभौतिक यदि ज्ञान का विषय हैं और उनका कोई नाम है तो वे पदार्थ हैं। पदार्थ वह है जिसका अर्थ शब्द या पद के द्वारा प्रकाशित होता है। कणाद ने आरम्भ से ही मनुष्य के उस उनुभव पर बल दिया है जिसे भाषा में अभिव्यक्त किया जा सके। भाषा में व्यक्त निर्णय बिलकुल सुनिश्चित होता है और उस सन्दर्भ से जिसकी ओर संकेत किया गया है स्वतंत्र होता है। वस्तुवादी दृष्टिकोण की यही प्रमुख विशेषता है।

वैदेशिक पदार्थ जिन्हें अंगरेजी में कैटगरीज कहा गया है अरस्तू, काण्ट और हेगल की कैटगरीज से इस अर्थ में भिन्न है कि वे तार्किक न होकर तत्वमीमांसक हैं।

मूलतः वैशेषिक दर्शन में छः पदार्थ गिनाए गए हैं। सातवां, अभाव, बाद में इस सूची में जोड़ा गया है। कणाद यद्यपि अभाव का उल्लेख करते हैं किन्तु वे उसे पदार्थ के रूप में प्रतिष्ठित नहीं करते। 'अभाव' को यह प्रतिष्ठिा बाद में मिली है। वैशेषिक दर्शन सभी अस्तित्ववान वस्तुओं को जो ज्ञान के विषय हैं और जिन्हें वह पदार्थ कहता है, दो वर्गों में विभाजित करता है। छः पदार्थ भावात्मक है और एक सातवां अभाव है। अभाव के अतिरिक्त छः भाव पदार्थ इस प्रकार हैं–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय।

4.4 पदार्थ–1–द्रव्य (पंचमहा–भूत)

हमारे अनुभव में आने वाली अनेक–अनेक वस्तुओं को हम कई वर्गों में विभाजित कर सकते हैं जिनमें से एक 'द्रव्य' का वर्ग है। द्रव्य को इस प्रकार

परिभाषित किया गया है ''क्रियागुणवत सम्स्वायिकारणम द्रव्यम।'' द्रव्य संख्या में नौ हैं –1– पृथ्वी, 2 जल, 3 तेजस, 4 वायु, 5 आकाश, 6 काल, 7 दिक, 8 आत्मन, 9 मनस। ये सब अपने गुणों और सम्बन्धों के साथ पूरे विश्व की व्याख्या कर देते हैं। सब के सब भौतिक नहीं हैं और इसीलिए न्याय वैशेषिक दर्शन भी पूरी तरह भौतिकवादी नहीं कहा जा सकता। ये सभी द्रव्य शाश्वत, स्वतंत्र इकाइयां हैं। ये न ससीम हैं न असीम। किन्तु अवयवी द्रव्य सहज और अंतिम द्रव्यों की इकाइयों से निर्मित है। अवयवी द्रव्यों को खंडित किया जा सकता है। लेकिन सहज मूल द्रव्य जो इनका उपादान कारण है, शाश्वत है, नित्य है। इनका न विनाश होता है और न उत्पत्ति। ये अपरिवर्तनशील हैं। न्याय वैशेषिक इस बात को यों भी कहता है कि किसी वस्तु के गुण और धर्म बदलते रहते हैं लेकिन द्रव्यात्मक वस्तु वही रहती है। द्रव्य–गुण और कर्म का आधार है।

हम ध्राणेन्द्रिय से गंध ग्रहण करते हें उस गंध को धारण करने वाले द्रव्य पृथ्वी परमाणु हैं। हम रसेन्द्रिय से स्वाद ग्रहण करते हैं और रस धारण करने वाले द्रव्य जल परमाणु हैं। हम चक्षुओं से रूप–रग ग्रहण करते हैं और रूप रंग धारण करने वाला द्रव्य आकाश है। पंच भूतों में आकाश एक मात्र ऐसा द्रव्य है जिसके परमाणु नहीं होते।

ज्ञानेन्द्रियां अपने अपने भूतों के विशेष गुणों को ग्रहण करती हैं। हर भौतिक द्रव्य के अपने अपने गुण हैं जो उन्हें एक दूसरे से भिन्न करते हैं।

4.5 पदार्थ–1–द्रव्य (दिक् और काल)

भौतिक द्रव्यों की व्याख्या दिक् और काल के बिना असंभव है। भौतिक द्रव्य स्थान घेरते हैं और किसी न किसी समय में अवस्थित होते हैं। दिक और काल ठीक आकाश की तरह असीम और अखंड है। इनके परमाणु नहीं होते। बिन्दु और क्षण इनके परम्परागत भाग हैं, लेकिन वस्तुतः ये अविभाज्य हैं। ये एक नित्य और विभु हैं। वे अतीन्द्रिय हैं। उनका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। आकाश, दिक् और काल ये वस्तुतः एक ही तरह के द्रव्य हैं जिनके परमाणु नहीं होते।

इनका माप परोक्षतः उन वस्तुओं से किया जाता है जो सावयव हैं। उदाहरण के लिए सूर्य की गति से हम काल नापते हैं। इसी प्रकार दिक है जिसे हम ध्रुव तारे से नाप सकते हैं। दिक् आकाश नहीं है। आकाश वह द्रव्य है जो दिक् को भरता है। यह एक ऐसी अतीन्द्रिय वस्तु है जिसका विशेष गुण शब्द कहा गया है प्राथमिक द्रव्य भी दिक् और काल में नहीं है।

आत्मा और मन

आत्माएं अनेक हैं। अलग अलग शरीर में अलग अलग आत्माएं होती हैं। वह नित्य शाश्वत हैं। यद्‌यपि वह सर्वव्यापी है किन्तु किसी एक आत्मा की चेतना, इच्छा और यत्न, जो उसके गुण हैं, उस भौतिक शरीर तक ही सीमित होते हैं जिसमें वह कुछ समय के लिए है। आत्मा भौतिक वस्तु से इस अर्थ में भिन्न है कि वह चेतन हो सकती है, भौतिक वस्तु कभी चेतन नहीं होती। लेकिन आत्मा मानसिक होने के अर्थ में अपने आप में कभी चेतन नहीं होती। यही बात उसके दूसरे गुणों के लिए भी इच्छा और यत्न के लिए भी, सही है। न्याय वैशेषिक तत्वमीमांसा में चेतन और अचेतन दो प्रकार के द्रव्य है। चेतना द्रव्य एक मात्र आत्मा ही है। यद्यपि चेनता को धारण तो जरूर करती है, किन्तु आत्मा का चेतना अनिवार्य गुण नहीं है। यह उनका आगंतुक आकस्मिक गुण है! आगंतुक इसलिए

कि गहरी निद्रा के समय जीवात्मा चेतन नहीं रहती। इसी प्रकार शरीर धारण करने से पहले भी जीव अचेतन रहता है।

आत्मा का जीवात्मा के अतिरिक्त एक दूसरा रूप परमात्मा है। परमात्मा भी आत्मा ही है। अंतर केवल इतना है कि परमात्मा असीमित है जबकि आत्मा सीमित है। चेतना परमात्मा का अंतर्भूत गुण है, आगंतुक नहीं। परमात्मा के बारे में हम पिछली इकाई में बात कर चुके हैं।

मन

मन भी एक द्रव्य है। यह आणुविक और नित्य है। निरवयव है। लेकिन इससे कोई वस्तु निर्मित नहीं होती। हर आत्मा का अपना एक मन होता है। मन ज्ञान का एक उपकरण है। चाहे बाहरी विषय हों या आंतरिक जैसे सुख–दुःख आदि ज्ञान के लिए इस आंतरिक इन्द्रिय की आवश्यकता रहती है। बाहरी वस्तु का ज्ञान भी मन के बिना नहीं होता। आंतरिक भावों का ज्ञान देने वाला तो मन ही है। मन प्रत्यक्ष का आंतरिक साधन है। यह पांच वाह्य इन्द्रियों के अतिरिक्त एक अंतरिन्द्रिय है। मन अनेक है। प्रत्येक आत्मा के पास एक मन होता है। मन द्वारा ही आत्मा का इन्द्रियों और शरीर से सम्बन्ध स्थापित होता है। न्याय दर्शन के अनुसार यह मन का संसर्गही वस्तुतः बंधन का कारण है – ''बंध–निमित्तं मनः'।

मन अनुमान का विषय है।जिस तरह वाह्य प्रत्यक्ष के लिए ज्ञानेन्द्रियां होती हैं उसी तरह आत्मिक विषयों के लिए जैसे, ज्ञान, इच्छा और यत्न के प्रत्यक्षीकरण हेतु भी आंतरिक इन्द्रिय होनी चाहिए। मन ही वह इन्द्रिय भी है जिससे हम ध्यान लगाते हैं। हम ध्यान एक समय में एक ही वस्तु पर दे सकते हैं। अतः मन अखंड है।

4.6 पदार्थ–2–गुण

''द्रव्याश्रय गुणवान संयोग विभागैष्कारण मनपेक्ष इति गुण लक्षणं।''

द्रव्य केवल अपने आप में विश्व की व्याख्या नहीं कर सकते। वे गुणों और संबंधों आदि, पदार्थों के लिए केवल एक ढांचा तैयार करते हैं। द्रव्य अन्य पदार्थों का आश्रय है। ये अन्य पदार्थ हैं –गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, और अभाव।

गुण अपने आप में वस्तुएं नहीं है। वे द्रव्य पर आश्रित हैं, फिर भी द्रव्य से बिलकुल भिन्न हैं। वे अपने आप में जाने जा सकते हैं और इसलिए स्वतंत्र हैं। द्रव्याश्रित होते हुए भी गुण हमारे सोच का, द्रव्यों के ही भांति, स्वतंत्र विषय है – यहां तक वे द्रव्यों से भी वे स्वतंत्र हैं। गुण सहज हैं, और उनका और अधिक विश्लेषण नहीं किया जा सकता। द्रव्यानुसार वे नित्य या अनित्य हैं। नित्य द्रव्यों में वे नित्य है और अनित्य द्रव्यों में अनित्य हैं। सभी गुण वस्तुनिष्ठ हैं, वे आत्मगत नहीं है, हां कुछ गुण आत्मा में पा, जाते हैं, जैसे बुद्धि, सुख–दुख, इच्छा, द्वेष इत्यादि। किन्तु वे भी वास्तविक हैं, काल्पनिक या मानसिक नहीं हैं। गुण स्वयं गुणवान नहीं होते। द्रव्य गुणवान है। गुण स्वयं गुण रहित है, कर्म रहित भी है। गुणों में गति नहीं होती। वे निर्गुण निष्क्रिय हैं।

कणाद ने सत्रह गुणों का वर्णन किया है। इस सूची में प्रशस्तपाद ने सात गुण और जोड़ कर सूची को 24 तक पहुंचा दिया है। स्पष्ट ही गुणों को केवल 24 ही मान बैठना भी मनमानी है। अतः गुणों का उल्लेख आवश्यकत नहीं है। अनेक

अन्य गुणों को जोड़ा जा सकता है। किन्तु न्याय वैशेषिक के अनुसार ये 24 गुण ही सहज गुण हैं। बाकी गुण इन्हीं के भेद हैं।

4.7 पदार्थ–3–कर्म

'' एक द्रव्यं गुणं संयोग विभागेष्व मनपेक्ष कारणमिति कमलक्षणम।''

गुण की ही भांति कर्म भी द्रव्याश्रित है। किन्तु वे वास्तविक हैं और स्वतत्र हैं। गुण जहां किसी भी द्रव्य के निष्क्रिय लक्षणों की ओर संकेत करते हैं, वहीं कर्म उनके गतिमान स्वरूप की ओर संकेत करते हैं। गुणों की तरह कर्म भी निर्गुण हैं। कर्म का अर्थ स्थान परिवर्तन से है। शाश्वत, नित्य और असीमित द्रव्यों में स्थान परितर्वन का प्रश्न ही नहीं उठता, केवल जो नित्य नहीं है, वही एक स्थान से दूसरे स्थान तक जा सकते हैं। यही कारण है कि आकाश दिक, काल या आत्मा में कर्म नहीं होता। ध्यातव्य है कि न्याय दर्शन केवल द्रव्यों के परिस्पंदन को ही परिवर्तन मानता है। उसके परिणाम को परिवर्तन नहीं मानता जैसा कि सांख्य ने स्वीकार किया है। कर्म गुण–रहित होता है।

कर्म क्षणिक भी होता है। एक कर्म के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा, इस प्रकार कर्मों की एक कड़ी बन जाती है। किन्तु एक पल में कर्म एक ही है।

वैशेषिक दर्शन में कर्म के पांच प्रकार बताए गए हैं – उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन। गमन बड़े विस्तृत अर्थ में प्रस्तुत हुआ है।

कर्म प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हो सकते हैं। पृथ्वी, जल, तेज आदि दिखाई देने वाले पदार्थों में कर्म प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, पर मन जैसे अगोचर पदार्थों की गति या उनके कर्मों का प्रत्यक्ष नहीं होता।

4.8 पदार्थ–4–सामान्य

''नित्यमेवामनेकानुगतम् सामान्यम''

सामान्य एक ऐसा पदार्थ है जो अनेकों में एक है और नित्य है। यह किसी एक वर्ग की वस्तुओं में समान चरित्र की ओर संकेत करता है, जैसे मानवता –जो मनुष्य वर्ग के हर व्यक्ति में समान रूप से पाई जाती है। सामान्य जाति नहीं है। जातियों में उपजातियां हो सकती हैं किन्तु सामान्य में ऐसा नहीं है। सामान्य केवल एक ही वर्ग की वस्तुओं में समान लक्षण की ओर संकेत करता है– प्रत्येक मानव में मानवता है, प्रत्येक पट में पटत्व है, प्रत्येक घट में घटत्व है। अनेक में इस प्रकार जो एक है वह सामान्य है। सामान्य नित्य है। व्यक्ति– मनुष्य जन्म लेता है, और मर जाता है। किन्तु मानवता नहीं मरती। सामान्य अपने वर्ग की सभी वस्तुओं मे पाया जाता है। वह सर्वव्यापी है। सभी घटों में घटत्व और सभी पटों में पटत्व है। सामान्य एक ऐसा पदार्थ है जो द्रव्य, गुण या कर्म किसी में भी रह सकता है। लेकिन वह किसी दूसरे सामान्य में नहीं रह सकता। यदि ऐसा होता तो व्यक्ति, मनुष्य, घोड़ा या गधा एक साथ हो सकता था।

सामान्य के संदर्भ में भारतीय दर्शन में तीन दृष्टिकोण मिलते हैं। बौद्ध दर्शन में सामान्य मात्र नाम है। अधिकतर भारतीय प्रणालियों ने इस मत को अस्वीकार किया है। उदाहरण के लिए जैन और वेदान्त दर्शन ने सामान्य को

नाम–मात्र नहीं माना। लेकिन उन्होंने इसे कोई वस्तुनिष्ठ सत्ता भी प्रदान नहीं की। इनके अनुसार सामान्य विशेष से स्वतंत्र और परे नहीं होते। उन्हें केवल मानसिक रूप से विशेष से अलग किया जा सकता है। किन्तु न्याय वैशेषिक के अनुसार विशेष और सामान्य दोनो ही स्वतंत्र रूप से वास्तविक हैं। सामान्य का प्रत्यक्ष संभव है। किन्तु सामान्य का प्रत्यक्ष अलौकिक प्रत्यक्ष है। इसे न्याय दर्शन में ''समाान्य लक्षण प्रत्यक्ष'' कहा गया है। सामान्य बहुत कुछ प्लेटो के प्रत्ययों की तरह है। अंतर केवल इतना है कि न्याय–वैशेषिक सामान्य को विशेष की प्रतिलिपि नहीं मानता। यहां विशेष भी उतना ही वास्तविक है जितना सामान्य।

4.9 पदार्थ–5–विशेष

''नित्यं द्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषाः।''

न्याय वैशेषिक दर्शन में विशेष को पांचवां पदार्थ माना गया है। यह विशेष पदार्थ ही पृथक्करण का आधार है।

सामान्यतः सावयवी वस्तुएं जिन्हें हम विशेष कहते है, जैसे विशेष पुस्तक, विशेष नहीं है क्योंकि इसमें हम अवयवों की भिन्नता से ही अंतर कर लेते हैं। विशेष की आवश्यकता केवल उन पदार्थों में अंतर करने के लिए हमारे पास विशेष के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यही बात वायु परमाणु, जल परमाणु, पृथ्वी परमाणु पर भी सही उतरती है। इसी तरह आत्माओं में भी केवल हम विशेष से ही भेद कर सकते हैं। मन भी अनेक हैं और उनमें भेद का आधार केवल विशेष ही हो सकता है। अन्यथा अवयव रहित होने के कारण उनमें भेद कर पाना असंभव है। अतः विशेष निरवयव एवं नित्य द्रव्य का विशिष्ट व्यक्तित्व है। प्रत्येक निरवयवी द्रव्य की अपनी मौलिक विशेषता होती है। उसकी यही अनन्यता विशेष कही जाती है। विशेष द्रवाश्रित है क्योंकि वे द्रव्यों से अलग नहीं किए जा सकते। द्रव्यों में ही पाए जाते हैं। फिर भी वे द्रव्यों से स्वतंत्र हैं और अपने आप में सत्तावान वस्तुनिष्ठ इकाइयां हैं। वे जिन द्रव्यों में हैं उनके बीच भेद करते हैं और स्वयं उनसे भिन्न हैं। वे अलग से पदार्थ हैं। वैशेषिक दर्शन इस प्रकार वस्तुवादी और अनेकत्ववादी है। विशेष न केवल नित्य है वे असंख्य भी है। इनका भी अन्य निरवयव एवं नित्य द्रव्यों की भांति प्रत्यक्षीकरण संभव नहीं है ये अगोचर है। दिक् काल से परे ये शाश्वत पदार्थ हैं । सामान्य सर्वव्यापी है विशेष एकान्तिक है। व्याप्ति संयोजन का सिद्धांत है। विशेष विभेद का आधार है। सामान्य और विशेष इस प्रकार एक दूसरे के विरोधी पदार्थ हैं।

वैशेषिक दर्शन का विशेष नाम संभवतः विशेष को एक अलग पदार्थ मानने के कारण ही पडा है। पर क्या विशेष को एक अलग पदार्थ माना जाना चाहिए।

4.10 पदार्थ –6– समवाय

''नित्यः सम्बन्धः समवायः''

समवाय दो वस्तुओं के बीच एक अनिवार्य सम्बन्ध है। न्याय–वैशेषिक दर्शन दो तरह के संबंधों संयोग और समवाय में अंतर करता है और समवाय का एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में स्वीकार करता है। प्रशस्तपाद के अनुसार समवाय उन वस्तुओं के सम्बन्ध को कहते हैं जो परस्पर आधार्य और आधार हों। ये वस्तुएं एक दूसरे से इस प्रकार जुड़ी होती होती हैं कि अलग नहीं हो सकती। इनके सम्बन्ध

को अयुतसिद्ध कहा गया है। कारण कार्य सम्बन्ध एक ऐसा ही सम्बन्ध है। जिसमें कारण और कार्य एक दूसरे में समाविष्ट हैं। कणाद ने न केवल कारण –कार्य सम्बन्ध को ही समवाय माना था। परन्तु प्रशस्तपाद ने कुछ ऐसे संबंधों को भी जो कारण–कार्य संबंध नहीं है समवाय सम्बन्ध स्वीकार किया है। अंश–अंशी सम्बन्ध, गुण–द्रव्य सम्बन्ध क्रिया–द्रव्य सम्बन्ध, विशेष समवाय सम्बन्ध, विशेष और नित्य द्रव्य सम्बन्ध – ये सभी समवाय सम्बन्ध हैं क्योंकि इनमें एक संबंधी दूसरे में अंतर्विष्ट है।

संयोग सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध की तरह अन्तर्विष्ट न होकर वाह्य सम्बन्ध है। इनमें दो भिन्न वस्तुओं का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है जैसे कोई पुस्तक मेज पर रख जाए। संयोग सम्बन्ध में सम्बन्धित वस्तुओं को पृथक किया जा सकता है और वस्तुएं फिर भी अपनी पहचान बनाए रखती हैं। विलग हो जाने पर अपना स्वरूप नहीं बदलती। समवायी सम्बन्ध में यदि वस्तुएं अलग कर दी जाएं तो कम से कम एक वस्तु का नाश अवश्यम्भावी है। इसलिए इस सम्बन्ध को आयुक्त–सिद्ध कहा गया है। अंश को अंशी से पृथक कर दे तो अंश–अंशी रहेंगे ही नहीं। समवाय सम्बन्ध में युक्त वस्तुओं में से कम से कम एक वस्तु ऐसी होती है जो दूसरे से कभी अलग नहीं पायी जाती। उदाहरणार्थ हम गुण को द्रव्य से कभी अलग नहीं कर सकते।

न्याय के अनुसार संयोग अनेक गुणों में से एक गुण है। समवाय गुण से स्वंतत्र एक अगल पदार्थ है। समवाय सम्बन्ध अनिवार्य है। और इसे वस्तुनिष्ठ और यथार्थ माना गया है। सामान्यतः अन्य सारे सम्बन्ध गुणों के अन्तर्गत आ जाते हैं जो अलग किए जा सकते हैं। किन्तु समवायं सम्बन्ध वाली वस्तुएं अनिवार्यतः जुड़ी रहती हैं उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। समवाय अगोचर है, इसे अनुमान द्वारा ही जाना जा सकता है।

4.11 पदार्थ–7–अभाव

यदि समस्त सभावनात्मक ज्ञान, ज्ञान से परे किसी वाह्य विषय की ओर संकेत करता है तो निषेधात्मक ज्ञान भी उससे परे किसी अभवात्मक वाह्य वस्तु की ओर निर्दिष्ट करता है। यही वह अनुमान है जो हमें अभाव को एक पदार्थ मानने के लिए बाध्य करता है। कणाद ने केवल भाव पदार्थो को ही स्वीकार किया था। अभाव का उल्लेख उन्होंने नहीं किया था। इसे न्याय वैशेषिक दर्शन में बाद में जोड़ा गया है ताकि दर्शन की वस्तुवादी परिकल्पना पूरी तरह चरितार्थ हो सके।

ज्ञान अनिवार्य रूप से किसी ज्ञेय विषय की ओर संकेत करता है। इसी प्रकार निषेध का ज्ञान भी जिस वस्तु का निषेध किया गया है उससे भिन्न होगा और किसी न किसी विषय की ओर संकेत करेगा। न्याय वैशेषिक के बाद वाले दार्शनिकों ने इसीलिए अभावात्मक ज्ञान की वस्तु के रूप में अभाव को एक स्वतंत्र पदार्थ मान कर स्वीकार किया।

अभाव पूर्व में चर्चित भावात्मक पदार्थो की तरह निरपेक्ष नहीं हो सकता। अभाव की धारणा सदैव एक सापेक्ष अवधारणा है। हम जब भी निषेध की बात करते हैं किसी वस्तु के या किसी स्थान के अभाव की बात करते हैं। देश काल से निरपेक्ष अभाव की बात कभी नहीं करते। हम घनौची पर घड़े के अभाव की बात कर सकते हैं मेज पर मेजपोश के अभाव की बात कर सकते हैं किन्तु मात्र अभाव, निरपेक्ष अभाव, की बात नहीं कर सकते। निरपेक्ष अभाव एक कूट–प्रत्यय है।

अभाव चार प्रकार के बताए गए हैं –प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव।

प्रागभाव – वस्तु का निर्माण होने से पहले उसका अभाव है। घड़ा बनाने से पहले मिट्टी में घड़े का अभाव है। मिट्टी में यह अभाव कब से आरम्भ हुआ, कुछ नहीं कहा जा सकता। यह अनादि है। जिस दिन घड़ा बना इस अभाव का अंत हो जाता है।

प्रध्वंसाभाव – यह वस्तु के विनाश के बाद उसका अभाव है। घड़े के नष्ट होने के बाद घड़ा नहीं रहता, उसका अभाव हो जाता है। घड़े के नष्ट होने का आरम्भ है, आदि है, किन्तु नष्ट होने के बाद इस अभाव का अंत नहीं होता, क्योंकि वही घड़ा फिर से नहीं बन सकता।

अन्योन्याभाव – का अर्थ है दो वस्तुओं में ऐक्य का अभाव। पानी कलम दवात नहीं है। घोड़ा गधा नहीं है। क–ख नहीं है। यह अभाव अनादि और अनंत है। क्योंकि कलम, कलम ही रहेगी और दवात दवात ही रहेगी।

अत्यन्ताभाव – निरपेक्ष अभाव है। यह अभाव है ही नहीं। अभाव का कूट प्रत्यय है।

4.12 आलोचनात्मक टिप्पणी

भारतीय दर्शन के इतिहास में न्याय–वैशेषिक दर्शन का एक महत्वपूर्ण स्थान है। इसे चार्वाक दर्शन की आगे की कड़ी कहा जा सकता है क्योंकि जहां चार्वाक केवल स्थूल पंचभूतों से विश्व की उत्पत्ति मानता है, न्याय वैशेषिक की दृष्टि अधिक सूक्ष्म है। वह भौतिकवादी विचारधारा को एक वैज्ञानिक आधार प्रदान करता है और विश्व की व्याख्या हेतु पदार्थों का अनुमान लगाता है और परमाणुओं तक पहुंच जाता है।

किन्तु दुर्भाग्यवश न्याय वैशेषिक में अनेक आंतरिक विरोध है। वैशेषिक दर्शन ने सात पदार्थों को अंतिम और स्वतंत्र वास्तविकताएं माना है। इनमें से गुण और कर्म का आश्रय द्रव्य है। अतः वे दोनों द्रव्य पर आश्रित हुए। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि गुण और कर्म द्रव्य के समकक्ष है? इसी प्रकार सामान्य, विशेष और समवाय, अनिवार्यतः विचार पर आधारित है और उन्हें भी द्रव्य के स्तर पर नहीं रखा जा सकता।

अभाव तो स्पष्टतः सापेक्ष ही है और ऐसी स्थिति में उसे भी निरपेक्ष पदार्थों में कैसे सम्मिलित किया जा सकता है, समझ से परे है। एक मात्र मूलभूत पदार्थ द्रव्य बाकी रहता है। वह भी कर्मों और गुणों के अभाव में जाना नहीं जा सकता। और फिर द्रव्य भी नौ प्रकार हैं। आकाश तो केवल माध्यम भर है जो परमाणुओं को संयुक्त होने में सहायक है। इस प्रकार वास्तविक वस्तुओं में केवल पंचभूतों के परमाणु और आत्माएं भर रह जाती हैं।

परमाणुओं में गुणात्मक भेद करना एक विसंगति है। परमाणु जो अतीन्द्रिय, शाश्वत, देश–काल से परे है, उनमें भला भेद कैसे हो सकता है? पुनः न्याय दर्शन में आत्मा केवल एक द्रव्य है, ज्ञाता नहीं है और चेतना उसका केवल आकस्मिक गुण है, वह अपने आप में चेतन नहीं है, यह तो उसको अपने ज्ञाता पद से बहिष्कृत करना हो गया। जब आत्मा स्वयं ज्ञेय है तो ज्ञेय पदार्थों का ज्ञाता कौन है?

अभाव को एक पृथक पदार्थ मानने में न्याय दर्शन की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। भाव और अभाव, स्वीकृति–अस्वीकृति, अस्तित्व–अनस्तित्व, पक्ष और प्रतिपक्ष एक दूसरे में निहित है। लेकिन वैशेषिक दर्शन इन दोनों में समन्वय करने की कोई चेष्टा नहीं करता। यह उसकी अनेकवादी प्रतिज्ञा के खिलाफ हो जाता है।

कुल मिलाकर वैशेषिक पदार्थ न केवल मान्यताएं भर हैं और यदि हम मान्यताओं को लेकर ही आगे बढ़ते हैं तो हम कितने ही पदार्थों को मान्य कर सकते हैं, छ या सात ही क्यों?

4.13 सारांश

न्याय और वैशेषिक दर्शन एक दूसरे के पूरक हैं। वे जुड़वां दर्शन हैं। न्याय दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम हैं और वैशेषिक के कपिल मुनि हैं। आरम्भ में दोनों दर्शन अलग–अलग विकसित हुए लेकिन बाद में वैशेषिक ने न्याय की ज्ञान मीमांसा और न्याय ने वैशेषिक की तत्वमीमंसा को अपना लिया और दोनों एक दूसरे के पूरक हो गए। वैशेषिक दर्शन समस्त विश्व की व्याख्या सात पदार्थों के द्वारा करता है। ये सात पदार्थ हैं द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव। इनमें द्रव्य सबसे महत्वपूर्ण है। द्रव्य भी संख्या में कुल मिलाकर नौ है। ये हैं क्रमशः पृथ्वी, जल, तेजस वायु और आकाश, दिक् और काल तथा मन और आत्मा। ये सभी वेशक अनुमान के विषय हैं किन्तु सभी वस्तुनिष्ठ हैं। क्योंकि ज्ञेय हैं ज्ञान की वस्तुएं हैं। न्याय वैशेषिक एक वस्तुवादी और अनेकत्ववादी दर्शन है। सभी पदार्थ आत्मा के सन्दर्भ में वस्तुनिष्ठ हैं तो आत्मा ज्ञाता क्यों नहीं है? वह भी अनेक पदार्थों में एक पदार्थ कैसे मान ली गई? न्याय वैशेषिक के वस्तुवाद और अनेकत्ववाद की अनेक कठिनाइयां हैं। एक तो यही की पदार्थ सात ही क्यों माने गए। इससे कम या ज्यादा भी माने जा सकते हैं। दूसरे पदार्थों में आंतरिक विरोध भी है। गुण और कर्म जो दोनों की द्रव्य पर आश्रित है द्रव्य कैसे कहे जा सकते हैं? परमाणुओं में जो सभी निरवयव है और अगोचर है गुणात्मक भेद कैसे हो सकता है? आदि ऐसे प्रश्न हैं जिनका संतोषजनक उत्तर हमें न्याय–वैशेषिक में मिलता है। अपने दर्शन में आत्मा को स्थान देकर यह सम्प्रदाय न तो पूरी तरह भौतिकवादी रहता है और न प्रत्ययवादी ही रह पता है। वैदिक दर्शनों में न्याय वैशेषिक कदाचित सर्वाधिक अवैदिक दर्शन हैं।

4.14 शब्दावली

(1) कणाद–अनाज के कण खाकर रहने वाले, वैशेषिक दर्शन के प्रणेता मुनि।

(2) पदार्थ–पद या शब्द का अर्थ। वह वस्तु जिसका किसी शब्द से बोध हो। अभिधेय वस्तु।

(3) द्रव्य–वह मूल वस्तु जिससे अन्य गोचर वस्तुएं बनी हों। गुण और कर्म का आधार।

(4) समवाय–अभे। नित्य सम्बन्ध। जैसे कारण–कार्य या अंगी–अंग सम्बन्ध।

(5) अभाव–निषेध का वस्तुनिष्ठ विषय।

4.15 प्रश्नावली

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) वैशेषिक दर्शन में पदार्थ किसे कहते हैं? द्रव्य की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

(2) वैशेषिक दर्शन में सामान्य और विशेष की व्याख्या कीजिए।

(3) द्रव्य को परिभाषित करते हु, उसकी गणना कीजिए और पंच भूतों पर प्रकाश डालिए।

(4) वैशेषिक दर्शन में आत्मा और मन को द्रव्य क्यों माना गया है? विवेचना कीजिए।

(5) न्याय वैशेषिक दर्शन समवाय और संयोग में किस प्रकार अंतर करता है इनमें से किसे पदार्थ माना गया है और क्यों?

(6) अभाव को क्या एक पदार्थ माना जा सकता है? वैशेषिक दर्शन में अभाव की विवेचना कीजिए और उसके प्रकार बताइए।

(7) वैशेषिक दर्शन में गुण और कर्म की व्याख्या कीजिए।

(8) वैशेषिक दर्शन में पदार्थ–सिद्धांत में आंतरिक विरोधाभास पर प्रकाश डालिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए–

(क) अभाव

(ख) समवाय

(ग) गुण और कर्म

(घ) वैशेषिक दर्शन में आत्मा

(ङ) मन

(2) निम्नलिखित सूत्रों के अर्थ लिखिए–

(क) नित्यः सम्बन्धः समवायः

(ख) नित्य द्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषः

(ग) नित्यमेकनेकानुगतं सामान्यम्।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) वैशेषिक दर्शन के प्रणेता का नाम बताइए।

(2) द्रव्यों की गणना कीजिए और उनके नाम बताइए।

(3) पदार्थों की गणना कीजिए और उनके नाम बताइए।

(4) कर्म के कितने भेद होते हैं? नाम बताइए।

4.16 पाठ्यपुस्तकें

1. संगल लाल पाण्डेय–भारतीय दर्शन की रूपरेखा

2. देवराज–दर्शनशास्त्र का इतिहास, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद।

3. रामनाथ शर्मा–भारतीय दर्शन के मूल तत्व

4. C.D. Sharma - A Critical Survey of Indian Philosophy

5. Hiriyanna M, Outlines of Indian Philosophy

6. Das Gupta, S.N. - A History of Indian Philosophy

****

इकाई–5

परमाणुवाद की रूपरेखा

इकाई का उद्‌देश्य

5.0 उद्देश्य

5.1 प्राक्कथन

5.2 सृष्टि सम्बन्धी वैशेषिक मत

5.3 परमाणुओं का स्वरूप और प्रकार

5.4 परमाणु, अस्तित्व प्रमाण और विशेषताएं

5.5 परमाणुवाद की समालोचना

5.6 सारांश

5.7 शब्दावली

5.8 प्रश्नावली

5.9 पाठ्यपुस्तकें

5.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य न्याय–वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद का विश्लेषण और उसकी व्याख्या करना है इसे पढ़कर पाठक –

(1) वैशेषिक दर्शन के सृष्टि के सिद्धांत को समझ सकेगा और आरम्भवाद या असत्कार्यवाद को जो इस दर्शन में कारणता का मुख्य सिद्धांत है उसकी जानकारी प्राप्त कर सकेगा।

(2) परमाणुओं के स्वरूप और प्रकार को तथा उनके मात्रिक और गुणात्मक अंतर को समझ सकेगा।

(3) परमाणुओं की विशेषताएं और उनके असतित्व के जो प्रमाण दिए गए हैं, उन्हें जान सकेगा।

(4) वैशेषिक परमाणुवाद के आंतरिक विरोधों और सीमाओं को जान सकेगा तथा इसकी यूनानी परमाणुवाद से तुलना कर सकेगा।

5.1 प्राक्कथन

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में वैशेषिक दर्शन अपने परमाणुवाद के लिए विषेश कर जाना जाता है। न्याय–वैशेषिक अकेले ऐसे दार्शनिक सम्प्रदाय हैं जिन्होंने विश्लेषणात्मक दृष्टि अपनाकर वस्तुओं के अंतिम घटक, परमाणु, तक

पहुंचाने का प्रयत्न किया और इस तरह न केवल बहुत्ववाद को स्वीकार किया बल्कि समस्त विश्व की व्याख्या परमाणुओं की सहायता से की कारणता के असतकार्य के सिद्धांत को अपनाया और कारण को कार्य में निहित नहीं माना। वस्तुओं की व्याख्या अणुओं के संघात के रूप में की। बेशक इस परमाणुवाद के अपने आंतरिक विरोधाभास हैं, लेकिन यह दर्शन भारतीय चिंतन की विविधता का एक उदाहरण प्रस्तुत करता है। वैशेषिक दर्शन का परमाणुवाद पूरी तरह भौतिकवादी न होकर अपने परमाणुवादी दार्शनिक तंत्र में दृष्ट, आत्मा और यहां तक कि परमात्माके लिए भी स्थान बना लेता है भले ही यह बात उसकी परमाणुवादी प्रतिज्ञा के विपरीत ही क्यों न पड़ती हो। प्रस्तुत इकाई में हमने इन सभी पहलुओं को स्पर्श करते हुए वैश्विक परमाणुवाद की व्याख्या की गई है।

5.2 सृष्टि सम्बन्धी वैशेषिक मत

सृष्टि सम्बन्धी वैशेषिक मत परमाणुवाद कहलाता है। भारत में आस्तिक कहे जाने वाले दर्शनों में न्याय–वैशेषिक के अतिरिक्त कोई अन्य ऐसा सम्प्रदाय नहीं है जो परमाणुवाद को मानता हो। वेदों में तो परमाणुवाद का कहीं कोई जिक्र ही नहीं है। वेदों का झुकाव एकतत्ववाद की ओर है और उनमें विश्लेषण की बजाए संश्लेषण को प्रधानता दी गई है। ये दोनों प्रवृत्तियां न्याय वैशेषिक में सिरे से गायब हैं। वैशेषिक दर्शन सावयव वस्तुओं का विश्लेषण का ही इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि अन्ततः वस्तुएं निरवयवी परमाणुओं का ही संघात हैं क्योंकि परमाणुओं का और अधिक विश्लेषण नहीं किया जा सकता। विश्लेषण में अपने विश्वास के चलते हम कह सकते हैं कि वैशेषिक दर्शन का दृष्टिकोण अधिक वैज्ञानिक है।

वैशेषिक दर्शन का यह विश्वास है कि किसी भी कारण में कार्य का अस्तित्व पहले से ही नहीं होता। कार्य एक नया आरम्भ, एक नवीन सृष्टि है। निःसन्देह बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता लेकिन कारण में कार्य निहित नहीं होता और न ही इसे कारण से अभिन्न माना जा सकता है। इस सिद्धांत को असत्कार्यवाद (कार्य में कारण का पहले से ही अस्तित्व में न होना, असत) अथवा 'आरम्भवाद' (कार्य को एक नया आरम्भ समझा जाना) कहा गया है। कभी कभी इस सिद्धांत को परमाणु–कारणवाद ही कहा गया है। अर्थात् प्रत्येक कार्य का अंतिम कारण परमाणु होता है।

सभी भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति और उनके संयोजन से ही हुई है। सृष्टि का अर्थ है विभिन्न अनुपातों में परमाणुओं का संयोजन। इसी तरह विनाश का अर्थ है, इन संयोजनों का विघटन। विश्व का उपादान कारण, अर्थात परमाणु न तो उत्पन्न हुआ है और न ही इसका विनाश संभव है क्योंकि परमाणु तो शाश्वत है। नित्य परमाणुओं का केवल संगठन हो सकता है और बेशक इन संगठनों का विघटन भी हो सकता है। लेकिन यह संगठन और विघटन भी हो सकता है।लेकिन यह संगठन और विघटन परमाणुओं के स्वरूप में नहीं है, और न ही यह उनमें निहित है। अतः असतकार्यवाद। सांख्य दर्शन तथा अन्य भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों ने वेशेषिक असत कार्यवाद की कड़ी आलोचना की है। उनका कहना है कि यदि कार्य कारण में नहीं है और वहां इसका अभाव है तो अभाव से भाव का उदय कैसे हो सकता है असत से सत की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जहां गुण है ही नहीं, वहां कुछ नहीं पैदा हो सकता। Out of nothing nothing can come out. यदि बीज में तेल है ही नहीं तो तेल भला कैसे निकाला जा सकता है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणु इस सम्पूर्ण विश्व के मूलभूत तत्व एवं उपादान कारण हैं. इन्हीं परमाणुओं के संघात से विश्व की विभिन्न वस्तुओं का निर्माण होता है. संसार की समस्त भौतिक एवं स्थूल वस्तुओं के निर्माण में एक मात्र परमाणु की ही शक्ति काम करती है. परमाणुओं की सत्ता का अनुमान दृश्य भौतिक जगत की वस्तुओं की विभाज्यता से किया गया है और अनुमान लगाया गया है कि एक ऐसी अवस्था होनी चाहिए जिसके बाद वस्तुओं का विभाजन संभव न हो. इसके अभाव में वस्तुओं के परिमाण की हम कभी व्याख्या नहीं कर सकते। यदि भौतिक वस्तु

यदि भौतिक वस्तु अनंत रूप से विभाजित हो सकती होती तो वह अनंत अवस्तु में परिणित हो जाती और यह एक विरोधाभास की स्थिति होती. तब हमें यह कहना पड़ता, कि वस्तुएं अवस्तु से बनी हैं. अतः विभाजनशीलता की एक सीमा होनी चाहिए. परमाणु विभाजनशीलता की इसी सीमा का प्रतिनिधित्व करता है।

5.3 परमाणुओं का स्वरूप और प्रकार

परमाणु पदार्थ का वह सूक्ष्मतम तत्व है जिसका और अधिक विभाजन संभव नहीं है. पदार्थ की इन सूक्ष्मतम इकाइयों को ही वैशेषिक दर्शन, भौतिक वस्तु के अंतिम घटक के रूप में, 'परमाणु' कहता है. परमाणु सूक्ष्मातिसूक्ष्म ऐसे कण हैं कि जिनके अलावा किसी अन्य भौतिक सूक्ष्मतम इकाई की कल्पना नहीं की जा सकती.

विभाजन की यह अंतिम सीमा है जहाँ 'अंशी' और 'अंश' का भेद समाप्त हो जाता है. अनुभूत भौतिक वस्तुएं अपने भागों से बनी हैं, परमाणु भाग रहित हैं. वस्तुएं विभाज्य हैं, परमाणु विभाजन की सीमा रेखा हैं. वस्तुएं अनित्य हैं, वे बनती हैं और बिगड जाती हैं. परमाणु नित्य हैं, वे न बनते हैं न बिगड़ते हैं. भौतिक वस्तुएं बिना परमाणुओं के कोई अर्थ नहीं रखतीं. सभी भौतिक वस्तुएं परमाणुओं का संघात या समूह है. वस्तुओं में परमाणुओं का यह संगठन बिखर जाता है तो वस्तु का नाश हो जाता है. वस्तुतः सारी सृष्टि ही परमाणुओं का विभिन्न अनुपातों में संगठन है.

परमाणुओं का न आदि है न अंत. परमाणु अनादि हैं क्योंकि इनका निर्माण कभी नहीं किया गया. वे अनंत हैं अर्थात वे कभी नष्ट नहीं होते. परमाणु मूल रूप से न कभी उत्पन्न होता है न कभी नष्ट होता है. ईश्वर भी उनको उत्पन्न और नष्ट नहीं कर सकता. वे उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया से परे हैं. वे नित्य हैं और नित्य सदैव आदि–अंत की सीमा से परे होता है. वे कभी हमारे अनुभव में नहीं आते, वे अतीन्द्रीय हैं!

सृष्टि में जो पञ्चभूत हैं, वे सभी, आकाश को छोड़कर, अपने अपने परमाणुओं से ही बने हैं. पृथ्वी भी परमाणुओं का संघात है. परमाणु पृथ्वी का कारण हैं. 'कारण स्वरूप पृथ्वी' (यानी वे परमाणु जिनसे पृथ्वी बनी है) नित्य है. लेकिन 'कार्य रूप से पृथ्वी' अनित्य है. उदाहरण के लिए घडा अनित्य है जो पृथ्वी से बना है किन्तु पृथ्वी (कारण रूप से) नित्य है. इसी प्रकार जल, अग्नि और वायु भी कारण रूप से नित्य हैं और कार्य रूप से अनित्य हैं.

न्याय वशैषिक में परमाणु चार प्रकार के बताए गए हैं. पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के अलग अलग परमाणु होते हैं. हमारी इनिद्रयगम्य वस्तुओं के आकार प्रकार में जो गुण होते हैं उन्हीं गुणों के आधार पर हम परमाणुओं का वर्गीकरण

कर सकते हैं, या यों कहें परमाणु प्रकारों का अनुमान लगा सकते हैं। जिस प्रकार पदार्थों की वभिाज्यता हम अविभाज्य परमाणु तक जाते हैं, उसी प्रकार पदार्थों के गुण से हम परमाणुओं के प्रकार का अनुमान लगाते हैं। आकाश के परमाणु नहीं होते. आकाश एक तो सर्वव्यापी है दूसरे परमाणुओं के संयोजन का माध्यम है.पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परमाणुओं में न केवल मात्रिक बल्कि गुणात्मक भेद भी है. मात्रा और गुण दोनों के अनुसार परमाणुओं में अंतर होता है. पृथ्वी परमाणुओं में गंध का गुण पाया जाता है, जल में रस का गुण होता है. तेजस परमाणु में रूप और वायु परमाणुओं में स्पर्श का गुण विद्यमान है. हर प्रकार के परमाणुओं की अपनी विशेषताएं है और अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। पर इन परमाणुओं से निर्मित होने वाले पृथ्वी आदि, स्थूल पदार्थों में अन्य द्रव्यों के संयोग से गुणों में अभिवृत्ति भी हो सकती है. पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के परमाणुओं में गुणात्मक भेद हैं और उनके गुण नित्य हैं। वायु के परमाणु सर्वाधिक सूक्ष्म हैं और उनमें स्पर्श का गुण है। अग्नि के परमाणुओं में स्पर्श, रंग और रस के गुण आ जाते हैं। जल के परमाणुओं में स्पर्श, रंग ओर रस के गुण है। पृथ्वी के परमाणुओं में स्पर्श, रंग, रस और गंध है। इसके अतिरिक्त सभी परमाणुओं की संख्या, पृथकत्व आदि गुण भी हैं। सभी संगठक वस्तुओं के गुण भी परमाणुओं के गुण के अनुरूप ही होते हैं।

यहाँ एक बात और भी ध्यान देने की है. वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य की स्थूलता उसके गुणों के अनुपात में होती है. आकाश सबसे सूक्ष्म भूत है, अतः उसमें केवल शब्द गुण होता है, अन्य चारों भूतों का कोई भी गुण उसमें नहीं पाया जाता. वायु, आकाश की अपेक्षा अधिक स्थूल माना गया है. उसमें शब्द के साथ स्पर्श गुण भी विद्यमान रहता है. तेजस, वायु से भी अधिक स्थूल है इसीलिए उसमे शब्द और स्पर्श के साथ रूप गुण भी होता है. जल में शब्द, स्पर्श एवं रूप के साथ रस गुण और बढ़ जाता है. सर्वाधिक स्थूल भूत, पृथ्वी, में गंध के अतिरिक्त अन्य सभी भूतों के गुणों का समावेश हो जाता है. इस प्रकार हम पाते हैं कि विश्व में सभी परमाणु एक जैसे नहीं होते. चतुर्भूतों के गुणों के आधार पर परमाणुओं की चार श्रेणियाँ तो हैं ही, इसके अलावा किसी एक प्रकार के परमाणुओं से बने स्थूल पदार्थों में कारण रूप अन्य प्रकार के परमाणु भी सहयोग देते हैं. वस्तु में चारों प्रकार के परमाणुओं का सम्मिश्रण अवश्य होता है किन्तु किसी एक प्रकार के परमाणुओं की अधिकता तब भी उसमें बनी रहेगी तथा वे विशिष्ट परमाणु ही वस्तु का समवाय कारण होते हैं। उदाहरण के लिए मानव शरीर मुख्यतः पृथ्वी परमाणुओं से बना है किन्तु उसमें अन्य भूतों के परमाणु भी पाए जाते है, किन्तु वह उनसे निर्मित नहीं है. है तो वह केवल पार्थिव ही. अन्य द्रव्य के परमाणु, संयोग सम्बन्ध से, केवल सहायक होते हैं.

परमाणुओं के कुछ गुण प्राथमिक कहे जा सकते हैं और कुछ गौड़।

5.4 परमाणु, अस्तित्व प्रमाण और उनकी विशेषताओं की सूची

यदि हम संक्षेप में परमाणुओं की विशेषताओं की एक सूची बनाएं तो वह इस प्रकार की हो सकती है–

(1) नित्यत्व – परमाणु न तो कभी उत्पन्न किए जाते हैं न ही कभी उनका विनाश होता है.

(2) परस्पर भिन्नता. परमाणु एक दूसरे पर आश्रित नहीं होते. भिन्न होते हैं.

(3) अविभाज्यता. परमाणु निरवयवी हैं.

(4) अतीन्द्रियता. परमाणुओं का सामान्य चक्षुओं से प्रत्यक्षीकरण संभव नहीं है.

(5) गुण और मात्रा. मात्रा के दृष्टिकोण से परमाणु असंख्य हैं, किन्तु गुण की दृष्टि से उनमें अप, तेजस और वायु के परमाणुओं का प्रकार–भेद है. परमाणुओं के ये गुणात्मक भेद शाश्वत हैं.

(6) परमाणु क्रिया के उपादान कारण हैं.

(7) वे स्वयं गति की कारक नहीं हैं. उन्हें गति अदृश्य और ईश्वर द्वारा प्राप्त होती है.

(8) परमाणुओं के संगठन में, परमाणुओं की वृद्धि गणितीय न होकर ज्यामिति के अनुपात में होती है.

(9) परमाणुओं के संयोजन से सृष्टि हुई है और उनका बिखरना ही प्रलय है.

(10) प्रत्येक कार्य का अंतिम कारण परमाणु होता है. इसे परमाणु–कारण–वाद कहा गया है. लेकिन कारण में कार्य निहित नहीं होता यही असतकार्यवाद या आरम्भवाद है.

उपरोक्त स्वभाव और प्रकार के परमाणुओं के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए वैशेषिक दर्शन ने तीन तर्क दिए हैं वे इस प्रकार हैं –

पहला तर्क यह है कि हम आकाश को परणिाम में सबसे बड़, महत्व स्वीकार करते हैं तो परम लघु भी अवश्य होना चाहिए। विस्तार की एक सीमा यदि आकाश में है तो विभाजन की अंतिम सीमा पर परमाणु अवस्थित होना चाहिए।

दूसरा तर्क यह है कि संसार में जितने भी सावयव पदार्थ होते हैं, वे सभी अनित्य और अस्थाई है। उनकी उत्पत्ति भी होती है और विनाश भी होता है। वे परिवर्तनशील भी हैं और विभाज्य भी हैं। ये सावयव द्रव्य निश्चय ही परमाणुओं से बने होना चाहिए जो स्वयं अपरिवर्तनीय और अविभाज्य हों।

तीसरा तर्क यह है कि किसी भी मूर्त पदार्थ की विभाजन की प्रक्रिया अनंत काल तक नहीं चल सकती, अन्यथा अनवस्था दोष हो जाएगा। इससे बचने के लिए कहीं न कहीं हमें विभाजन पर विराम लगाना पड़ेगा। अतः परमाणुओं को ही हमें मूल द्रव्यों का सूक्ष्मतम भाग मानना होगा जो अविभाज्य है, अर्थात, जो विभाजन का अंतिम बिन्दु है।

5.5 परमाणुवाद की समालोचना

वैशेषिक परमाणुवाद की तुलना प्रायः यूनानी परमाणुवाद से की गई है। किन्तु डिमोक्रीटस और वैशेषिक परमाणुवाद में बड़ा अन्तर है। बेशक दोनों ही परमाणु सिद्धांत कुछ अर्थों में समान भी है। जैसे दोनों ही परमाणु को अविभाज्य, निरवयव, अ–प्रत्यक्ष तथा परम और नित्य मानते हैं। दोनों भौतिक जगत का उत्पादन कारण भी परमाणुओं में किसी प्रकार का गुणात्मक अंतर नहीं है, केवल संख्यागत परणिाम का अंतर है। वेशेषिक दार्शनिक परमाणुओं में गुणात्मक अंतर मानते हैं। वैशेषिकों के अनुसार पृथ्वी, वायु, जल और अग्नि के परमाणुओं में गुणात्मक अंतर मानते हैं। पुनः यूनानी परमाणुवाद परमाणुओं को गौण गुणों से रहित मानता है लेकिन वैशेषिक दर्शन उनमें गौड़ गुण भी स्वीकार करता है। ग्रीक

परमाणुवादियों के अनुसार परमाणु स्वभाव से ही गतिशील और सक्रिय है किन्तु वैशेषिक दार्शनिक परमाणुओं को स्वभाव से निष्क्रिय और गतिहीन मानते हैं, उनमें गति प्रदान करने वाला अदृष्ट है। इसके अतिरिक्त, यूनानी सिद्धांत के अनुसार आत्माएं भी परमाणुओं से ही निर्मित हैं। वे सूक्ष्म परमाणुओं का ही विकार हैं। पर न्याय–वैशेषिक आत्मा को परमाणुओं से अलग चौतन्य तत्व की तरह स्वीकार करता है।

जो भी हो, आधुनिक विज्ञान ने जब से तथाकथित निवयवी परमाणुओं को अंततः विद्युत तरंगों के विकार के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है और उन्हें पोसिटिव और निगेटिव विद्युत अणुओं का संघात मात्र ठहरा दिया है, भारतीय और यूनानी दोनों ही परमाणुवाद पूरी तरह निरर्थक हो गए हैं।

वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद की आंतरिक कठिनाइयां भी हैं। एक, जब सभी परमाणु परम और नितय हैं तो परमाणुओं के बीच गुणात्मक भेद का कोई औचित्य नजर नहीं आता। दो, यदि पृथ्वी के परमाणु के गुण सर्वाधिक हैं और वायु के सबसे कम तो दोनों में भार और परिमाण का अंतर भी होना चाहिए। पुनः यदि परमाणुओं में गंध, स्पर्श आदि के गुण हैं तो वे नित्य केसे हो सकते हैं, आदि प्रश्न वैशेषिक दर्शन में अनुत्तरित रह जाते हैं।

वैशेषिक दर्शन का असत्कार्यवाद या आरम्भवाद भी स्वीकार करना मुश्किल है। यदि कारण में कार्य प्रसुप्त रूप से भी निहित है तो काय का शायद आरम्भ तो संभव हो किन्तु किसी भी वस्तु से कोई भी वस्तु उत्पन्न कैसे हो सकती है, इससे तो सारे जगत में अराजकता पैदा हो जाएगी और कोई नियम ही नहीं रहेगा।

वैशेषिक दर्शन परमाणुओं में यति और गति की स्थिति बताने में भी असफल रहा है। परमाणु सक्रिय हैं अथवा निषक्रिय अथवा दोनों हैं, यदि सक्रिय है तो सृष्टि स्थायी हो जाएगी यदि निश्क्रिय है तो सृष्टि असंभव हो जाएगी। सक्रिय और निष्क्रिय दोनों ही नहीं हो सकते क्योंकि ये दोनों प्रकाश और अन्धकार की तरह विरोधी स्थितियां हैं और यदि वे न तो सक्रिय है और न ही निष्क्रिय तो वे सृष्टि की व्याख्या करने में असफल हो जाते हैं।

यदि हम सृष्टि का कोई वाह्य कारण मान लें तो प्रश्न उठता है कि यह वाह्य कारण दृष्ट है आ अदृष्ट। दृष्ट कारण सृष्टि से पहले हो नहीं सकता और यदि अदृष्ट है तो उसे परमाणु में आन्तरिक रूप से निहित होना चाहिए आरंभवाद इसकी स्वीकृति नहीं देता। इस प्रकार हम पाते हैं कि वैशेषिक दर्शन का परमाणुवाद सृष्टि की व्याख्या करने में पूरी तरह असफल रहा है।

5.6 सारांश

वैशेषिक दर्शन एक वैदिक और आसितक दर्शन है किन्तु इसका दृष्टिकोण परमाणुवादी और विश्लेषणात्मक है, यह अपने विचारों में वेदों से सर्वाधिक स्वतंत्र विचारों वाला दशर्न बन गया है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार विश्व के मूलभूत तत्व और उपादान कारण 'परमाणु' हैं। ये सभी स्थूल भौतिक वस्तुओं के सूक्ष्मतम अवयव हैं। परमाणु नित्य, अनादि, अनंत, अवभिाज्य, अतीन्द्रिय और गतिहीन है। परमाणुओं को हम देख नहीं सकते, उनके अस्तित्व का केवल अनुमान भर लगा सकते हैं। परमाणुओं का अनुमान स्थूल वस्तुओं की विभाज्यता से लगाया गया है। परमाणु भौतिक वस्तु का अविभाज्य लघुतम भाग हैं। सम्पूर्ण का सूक्ष्मतम अंश है। परमाणु

के स्तर पर अंश और अंशीका भेद समाप्त हो जाता है। परमाणु चार प्रकार के होते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, ओर वायु के परमाणुओं में गुणात्मक भेद है। (आकाश के परमाणु नहीं होते)। परमाणुओं के गुण प्रधान और गौड़ दो तरह के होते हैं। परमाणुओं का संयोजन गणतीय अनुक्रम में न होकर ज्यामितीय अनुपालन में होता है।

परमाणुवाद की रूपरेखा

वैशेषिक दर्शन में परमाणुओं के असितत्व के लिए तीन तर्क प्रस्तुत किए हैं। 1 जिस तरह परम महत है तो एक परम लघु (परमाणु) भी होना चाहिए। विस्तार की ये दो सीमाएं हैं। 2 सावयव वस्तुओं के विभाजन का एक अंतिम घटक परमाणु के रूप में होना चाहिए जो स्वयं अविभाज्य हो। 3 अनवस्था दोष से बचने के लिए मूर्त वस्तु के विभाजन की एक सीमा होनी चाहिए। यह सीमा परमाणु ही हो सकती है।

वैशेषिक का कार्य कारण सिद्धांत आरम्भवाद या असत्कार्यवाद कहलाता है। इसके अनुसार विश्व का कारण परमाणु है। कारण में कार्य निहित नहीं है। कार्यएक नया आरम्भ है। एक नई सृष्टि है। परमाणुओं के संघात से ही सारी सृष्टि का निर्माण हुआ है।

सृष्टि के लिए परमाणुओं की गति अदृष्ट द्वारा मिलती है। अदृष्ट क्योंकि व्यक्तियों के पाप पुण्य का हिसाब रखने वाली शक्ति हैं अतः उसके हस्तक्षेप से सृष्टि का निर्माण हुआ है।

सृष्टि के लिए परमाणुओं को गति 'अदृष्ट' वह माध्यम है जिसकी सहायता से ईश्वर निर्माण में अपनी भूमिका निभाता है और इससे एक आत्मिक तत्व भी सृष्टि में प्रवेश कर जाता है। न्याय वैशेषिक इस प्रकार एक कोरा भौतिकवादी दर्शन नहीं रह जाता।

परमाणुवाद की आंतरिक कठिनाइयां हैं। परमाणुओं में गुणात्मकभेद, परमाणुओं में प्राथमिक और गौड़ गुणों की स्वीकृति, निश्क्रिय परमाणुओं में गति प्रदान करने के लिए अदृष्ट और ईश्वर का हस्तक्षेप, आदि ऐसे मुदृे हैं जो स्वयं परमाणुवादी प्रतिज्ञा के विरुद्ध हैं। इस मायने में कदाचित यूनानी परमाणुवाद, चाहे यूनानी हो या भारतीय, अपना अर्थ खो चुका है। परमाणु अब परम अणु न रहकर विद्युत तरंगों का विकार हो चुका है।

5.7 शब्दावली

(1) परमाणु– सृष्टि का मूल तत्व। निरवयव, अववभिाज्य, नित्य, अनादि, अनंत, अतीन्द्रिय और गति–विहीन भौतिक कण। भौतिक वस्तु का अंतिम अवयव।

(2) परमाणुवाद – सृष्टि का वह सिद्धांत जो सृष्टि का आदि उपादान कारण परमाणुओं को बताता है।

(3) आरम्भवाद/असत्कार्यवाद – कारणता का वह सिद्धांत जो कार्य को कारण मे निहित नहीं मानता। कार्य को एक नया आरम्भ, एक नई सृष्टि मानता है। (विरोधी सिद्धांत– सांख्य का सत्कार्यवाद)

(4) अदृष्ट–निषक्रिय परमाणुओं में सृष्टि के लिए गति प्रदान करने वाला तत्व। पाप–पुण्य के हिसाब का भण्डार।

5.8 प्रश्नावली

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) न्याय–वैशेषिक दर्शन में परमाणुओं के स्वभाव की विवेचना कीजिए। उनके प्रकारों पर भी प्रकाश डालिए।

(2) परमाणुओं की विशेषताएं क्या हैं, उनके अस्तित्व के सम्बन्ध में क्या प्रमाण दिए जा सकते हैं, स्पष्ट कीजिए।

(3) वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद का परिचय देते हुए उनकी तुलना यूनानी परमाणुवाद से कीजिए।

(4) परमाणुवाद कारणता के सिक सिद्धांत को मानता है, सिद्धांत परभिाषित करते हुए इसकी महत्ता परमाणुवाद के लिए सुनिश्चित कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए

1. परमाणुवाद और अदृष्ट की भूमिका।
2. परमाणु का स्वरूप
3. परमाणुओं में गुणात्मक भेद
4. परमाणु कारण वाद

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

रिक्त स्थान को सही शब्द से भरिए–

(1) आस्तिक दर्शनों में वैशेषिक दर्शन की अधिकतर मान्यताएं वेदों–––––––– हैं। (से स्वतंत्र/के अनुरूप)

(2) वैशेषिक दर्शन की दार्श्निक दर्शनिक वृत्ति –––––––––––––––––है। (विश्लेषणात्मक/संश्लेषणात्मक)

(3) परमाणु विश्व के ––––––––––––– कारण हैं। (उपादान/निमित्त)

(4) परमाणु अपने आप में गतिशील ––––––––––––––––(हैं।/ नहीं हैं।)

(5) वस्तुओं के वभिाजन में परमाणु –––––––– इकाई है। (पहली/ अंतिम)

(6) परमाणुओं का संयोजना –––––––––––– अनुपात में होता है। (गणितीय /ज्यामितीय)

(7) अदृष्ट परमाणुओं को –––––––––––– प्रदान करता है। (गतिशीलता/ स्थिरता)

(8) वैशेषिक दर्शन में सृष्टि का निमित्त कारण ––––––––––––– है। (ईश्वर/परमाणु)

5.9 पाठ्यपुस्तकें

1. संगल लाल पाण्डेय–भारतीय दर्शन की रूपरेखा
2. देवराज–दर्शनशास्त्र का इतिहास, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद।
3. राम नाथ शर्मा–भारतीय दर्शन के मूल तत्व
4. C.D. Sharma - A Critical Survey of Indian Philosophy
5. Das Gupta, A History of Indian Philosophy, Vol. I.
6. Hiriyanna M, Outlines of Indian Philosophy

****

MAPH-106
भारतीय दर्शन का परिचय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 3

पूर्वमीमांसा दर्शन

इकाई – 1 103–108

धर्म एवं अदृष्ट

इकाई – 2 109–116

प्रामाण्यवाद एवं ख्यातिवाद

इकाई – 3 117–130

प्रमाण मीमांसा

इकाई – 4 131–138

ख्यातिवाद

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

एम.ए.पी.एच.–106(**MAPH-106**)

सरंक्षक मार्गदर्शक

प्रो.के.एन. सिंह – कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

विशेषज्ञ समिति

डॉ.आर.पी.एस. यादव	–	निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
प्रो. रामलाल सिंह (से.नि.)	–	दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
प्रो.दीप नारायण यादव	–	दर्शनशास्त्र विभाग, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
प्रो. द्वारिका	–	विभागाध्यक्ष, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
प्रो. सभाजीत यादव	–	दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मागांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

लेखक

प्रो. सुरेन्द्र वर्मा	–	सेवानिवृत्त, 10 एचआईजी/1 सर्कुलर रोड, प्रयागराज।
डॉ. श्यामकान्त	–	असिस्टेंट प्रोफेसर, आर्यकन्या डिग्री कालेज, इला0 वि.वि. प्रयागराज।
डॉ. अतुल कुमार मिश्र	–	शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

सम्पादक

प्रो. जटाशंकर	–	पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

परिमापक

प्रो. आर.पी.एस. यादव	–	निदेशक मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

समन्वयक

डॉ. अतुल कुमार मिश्र	–	शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

2023 (मुद्रित)
© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021
ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि अण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।
प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज– 211021
प्रकाशक – कुलसचिव, विनय कुमार, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज –2023
मुद्रक – के0 सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स , पंचवटी, मथुरा – 281003.

पूर्वमीमांसा दर्शन

खण्ड–परिचय

उद्देश्य

मीमांसा दर्शन भारतीय दार्शनिक परम्परा में प्राचीन दर्शन है जो वेदों कर्मकाण्ड भाग या बाह्मण– ग्रन्थों पर आधारित है। मीमांसा दर्शन का लक्ष्य वस्तुतः वैदिक कर्मकाण्ड की दार्शनिक व्याख्या करना रहा है। आस्तिक सम्प्रदाय प्रायः स्वंय को वेद पर आधारित मानता है, परन्तु वेद के दो भाग हैं– प्रथम कर्मकाण्ड एवं दूसरा ज्ञानकाण्ड। मीमांसा दर्शन में कर्मकाण्ड को प्रमुख एवं ज्ञान को गौण माना जाता है। प्रस्तुत अध्याय में मीमासा दर्शन का सम्यक अध्ययन किया जाएगा। छात्र इस प्रकरण में धर्म एवं अर्पूव की संकल्पना, मीमांसा के प्रमाण–विचार, प्रमाणवाद एवं ख्याति के सिद्धान्तों का विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। मीमांसा दर्शन वेद विहित कर्मो को 'धर्म' कहता है। जो वेदों में कहा गया है वह धर्म है। अतः धर्म का अर्थ मीमांसा दर्शन वेद के कियार्थक वचनों से करता है।

यथार्थ ज्ञान प्रमा है एवं प्रमा के करण या साधन को प्रमाण कहा गया है (यथार्थ अनुभवः प्रमा, प्रमा करणं प्रमाणम्) जैमिनी ने प्रारम्भ में केवल तीन प्रमाणों को स्वीकार किया– प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द। परन्तु बाद में मीमांसा दर्शन में प्रमाण संबंधी विचारों का और अधिक विकास हुआ है। आचार्य प्रभाकर मिश्र ने उपमान एवं अर्थापति को स्वीकार कर कुल पॉच प्रमाण माने है। कुमादिल ने प्रमाणों पर और अधिक गहन चिन्तन किया एवं अनुपब्धि को स्वीकार कर उन छः प्रमाण स्वीकार किए। उल्लेखनीय है कि परवर्ती वेदान्त सम्प्रदाय में भी यही छः प्रमाण स्वीकार किए।

ज्ञान की सत्यता–असत्यता सम्बन्धी सिद्धान्तों की विवेचना प्रमाण्यवाद कहलाती है। ज्ञान– प्राप्ति के पश्चात् यह तात्कालिक प्रश्न होता है कि वह ज्ञान सत्य है अथवा नहीं। यदि ज्ञान सत्य है तो कहा जाता है कि ज्ञान में प्रामाण्य है तथा यदि ज्ञान असत्य है तो उसमें अप्रमाण्य होता है। प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य में प्रमुख बात यह होती है कि ज्ञान कि ज्ञान की सत्यता का ज्ञान स्वतः होता है या किसी अन्य प्रकार से (परतः)। इन मुद्दों पर विस्तृत चर्चा प्रामाण्यवाद वाले बिन्दु में की जाएगी। ख्यातिवाद भ्रम का विवेचन है। हमें ज्ञान होता है कि भ्रम भी होता है। लौकिक अनुभव में शुक्ति के स्थान पर रजत दीखता है, रज्जु कभी–कभी हमें सर्प के रूप में दीखता है। इस प्रकार अनुभवों की व्याख्या ख्यातिवाद के तहत् की जाती है। छात्र इस बिन्दु के तहत् प्रभाकर एवं कुमारिल के ख्याति–सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे। इसके साथ ही इनकी तुलना के लिए अन्य दर्शनों के भ्रम सिद्धान्तों का विवेचन इस इकाई में होगा।

प्रस्तावना

'मीमांसा' का सामान्य अर्थ 'समीक्षा' है। वेदों पर आधारित दर्शन को इस संदर्भ में दो भागों में बॉटा जाता है– प्रथम भाग वेदों के पूर्व भाग के रूप में वैदिक कर्मकाण्ड पर आधारित है जिसे पूर्व मीमांसा, कर्ममीमांसा या धर्म मीमांसा कहा जाता है एवं द्वितीय भाग वेदों के उत्तर भाग या ज्ञान काण्ड पर आधारित है, जिसे

उत्तमीमांसा, ज्ञानमीमांसा या ब्रह्ममीमांसा कहा जाता है। सामान्यतः पूर्वमीमांसा को मीमांसा एवं उत्तरमीमांसा को 'वेदान्त' कहा जाता है। भारतीय दर्शन में जिस प्रकार सांख्य–योग एवं न्याय–वैशेषिक दर्शन समान–तंत्र या संयुक्त–तंत्र के रूप में आख्यात हैं उसी प्रकार मीमांसा–वेदान्त भी समान–तंत्र हैं। मीमांसा का जिज्ञासा विषय 'धर्म' है। (अथातो धर्मजिज्ञासा) तथा वेदान्त का जिज्ञासा विषय 'ब्रह्म' है (अथातो ब्रह्म जिज्ञासा)। कुछ विद्धानों ने यह माना है कि धर्म की जिज्ञासा के उपरान्त ही बह्म की जिज्ञासा सम्भव है। आचार्य रामानुज ने भी मीमांसा दर्शन एवं वेदान्त दर्शन में पूर्वापर सम्बन्ध स्वीकार किया है।

मीमांसा का मूल विषय 'धर्म' है एवं वेदविहित कर्त्तव्य ही धर्म है, अतः वेदों का सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक है। परन्तु इसमें प्रथम दृष्टया कुछ समस्या थी। पहली समस्या तो यह है कि सभी दर्शन वेदों को प्रामाणिक नहीं मानते, जैसे चार्वाक, जैन, बौद्ध जैसे नास्तिकतावादी दर्शन वेदों को अप्रामाणिक एवं दोषयुक्त मानते हैं। पुनः वेदों की गूढ़ार्थता को स्पष्ट करना एवं उनके अर्थो में परस्पर संगति बैठाना भी मीमांसा दर्शन के समक्ष एक प्रमुख चुनौती रहा है। अतः शब्दार्थ के उचित नियमों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी मीमांसा दर्शन का प्रमुख विवेच्य विषय बना। मीमांसा दर्शन वेदों को स्वतः प्रामाणिक एवं अपौरूषेय मानकर इसे किसी पुरुष की कृति नहीं मानता।

इस प्रकार मीमांसा दर्शन ने वैदिक कर्त्तव्यों, धर्म, अपूर्व आदि का संगततापूर्ण विश्लेषण किया। इस संदर्भ में विभिन्न दर्शनों के मतों का तार्किक खण्डन कर मीमांसा दर्शन ने वैदिक कर्मकाण्डकीय पक्ष को दार्शनिक आधार प्रदान किया। इस सन्दर्भ में मीमांसा दर्शन ने आत्मा, ईश्वर जीव, अपूर्व आदि की विस्तृत विवेचना किया। मीमांसा ने एक निश्चित, दार्शनिक तत्वमीमांसा की स्थापना की तथा अपनी एक ज्ञानमीमांसा का विकास किया। यहाँ उल्लेखनीय है कि ज्ञानमीमांसा प्रमाण एवं प्रामाण्य के सन्दर्भ एक विशेष साम्यता न्याय दर्शन से इसका रहा तथा न्याय दर्शन की कुछ बातों को मीमांसा में स्वीकार किया गया तथा शेष को नकार दिया गया।

मीमांसा–साहित्य के अन्तर्गत 'मीमांसा–सूत्र' प्राथमिक एवं प्रमुख है। महर्षि जैमिनी इसके रचायिता हैं। परन्तु इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि जैमिनी मीमांसा–सूत्र के सूत्रकार अवश्य हैं परन्तु मीमांसा दर्शन के प्रणेता नहीं है। मीमांसा –सूत्र बारह अध्यायों में विभाजित है, अतः इसे द्वाद्वशध्यायी या द्वाद्वशलक्षणी कहा गया है। इसके प्रथम अध्याया में धर्म–जिज्ञासा, धर्म, जिज्ञासा, धर्म–लक्षण, धर्म–प्रामाण्य, वेद–प्रामाण्य, शब्द–नित्यता तथा वेदअपौरुषेयतत्व पर विचार किया गया है। मीमांसा–सूत्र पर शबर स्वामी (200ई0) का 'प्रसन्न–गम्भीर भाष्य' है जिसे 'शाबर–भाष्य' भी कहते है।

शाबर–भाष्य पर कुमारिल भट्ट, प्रभाकर मिश्र एवं मुरारि मिश्र आदि ने भिन्न–भिन्न रूप में व्याख्या कर मीमांसा 'भाट्ट–मत', प्रभाकर मिश्र के मत को 'गुरु मत' एवं मुरारि मिश्र के मत को 'मिश्र मत' कहा जाता है। कुमारिल भट्ट 7वीं शताब्दी ई0 में हुए तथा शाबर भाष्य पर तीन वृहद ग्रन्थों की रचना की 'श्लोकवार्तिक; 'तन्त्रवार्तिक' एवं टुपटीका। वार्तिक ग्रन्थों की रचना के कारण कुमारिल को वार्तिकार भी कहा जाता है। ''लोकवार्तिक' पर पार्थसारथि मिश्र ने 'न्यायरत्नातकर' टीका लिखा। इसके अतिरिक्त उनका ग्रन्थ 'शास्त्रदीपिका' भी महत्वपूर्ण है।

प्रभाकर मिश्र को 'गुरु मत भी' कहा जाता है। वे आचार्य कुमारिल के शिष्य थे। कुमारिल ने उनकी प्रतिभा को देखकर उन्हें 'गुरु' नाम दे दिया था। प्रभाकर ने शाब्द भाष्य पर 'वृहती' एवं 'लघ्वी' नामक दो टीकां लिखी। उनके शिष्य शालिकग्राम 'वृहती' पर 'ऋजुविमला' नामक टीका लिखा। इसके अतिरिक्त शालिकनाथ की 'प्रकरण–पंचिच्का' भी प्रसिद्ध है। कुमारिल के प्रधान शिष्य मण्डन मिश्र माने जाते हैं। मण्डन मिश्र (7वीं–8वीं शताब्दी) ने 'भावना विवेक', विधि विवेक', विभ्रम विवेक, तथा मीमांसानुक्रमणी' ग्रन्थ लिखे। कुमारिल के दो अन्य शिष्य उम्बेक एवं रैवण का उल्लेख प्राप्त होता है। उम्बेक ने श्लोक वार्तिक पर 'स्वल्पाक्षरा' लिखा। मुरारि मिश्र के दो ग्रन्थ 'त्रिपादीनीतिन्यन' एवं 'एकादशाध्यायधिकरण' प्राप्त होते हैं।

इकाई–1

धर्म एवं अदृष्ट

<u>विषय–सूची</u>

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्‌देश्य

1.3 धर्म

1.4 समीक्षा

1.5 उपसंहार

1.6 उपयोगी पुस्तकें

1.7 बोध प्रश्न

1.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.1 उद्‌देश्य

इस इकाई में छात्र मीमांसा दर्शन में 'धर्म' का क्या अर्थ है, इसका ज्ञान प्राप्त करेंगे। मीमांसा में यज्ञ आदि का विधिपूर्वक सम्पादन ही धर्म है। इन कर्मो के अनुरूप ही व्यक्ति को सुख–दुःख प्राप्त होता है जिसे 'अपूर्व' के रूप में मीमांसा में तद्‌नुसार सुख–दुःख प्राप्त होता है, इस कार्य–कारण सम्बन्ध की दार्शनिक व्याख्या मीमांसक करते हैं, जिससे छात्र इस इकाई में परिचित होंगे।

1.2 प्रस्तावना

जैमिनी ने अपने मीमांसा सूत्र में धर्म–जिज्ञासा को मीमांसा का प्रमुख प्रतिपादन माना है तथा इसका ज्ञानमीमांसा एवं तत्वमीमांसा आनुषांगिक है। मीमांसा का प्रमुखय उद्‌देश्य धर्म की मीमांसा करना है। अतः पूर्वमीमांसा को धर्ममीमांसा भी कहा जाता है। धर्म के स्वरूप की व्याख्या ही मीमांसा का प्रमुख उपजीव्य है। नित्य एवं अपौरूषेय वेद ही धर्म का आधार है। वेदों में जो विहित है, उसके अनुसार आचरण करना ही धर्म है एवं वेदों में जो निषिद्ध है उसे न करना ही धर्म है। मीमांसा दर्शन वेदों के मन्त्र–ब्राहाण ग्रन्थों का प्रमुख उद्‌देश्य रूपी पूर्व भाग पर आधृत है। मन्त्रों एवं बाह्मणों ग्रन्थों का प्रमुख उद्‌देश्य याज्ञिक कर्मो का विधिवत् सम्पादन करना है। इस प्रकार धर्म वेद विहित कर्म हैं। 'अपूर्व' या 'आदृष्ट' की संकल्पना ही भी कर्म से जुड़ी है। कर्म में 'अपूर्व' नामक फलोत्पादक शक्ति होती है जो कर्म और फल के बीच की कड़ी है। 'अपूर्व' कर्म के अनुरूप फल को उत्पन्न करने वाली शक्ति है। जब व्यक्ति शुभ कर्म करता है तो सुख रूपी फल उत्पन्न होता है तथा जब व्यक्ति अशुभ कर्म करता है तो दुःख रूपी फल उत्पन्न होता है।

मीमांसा दर्शन में वेदों को 'अपौरूषेय' माना गया है अर्थात वेद किसी पुरूष की कृति नहीं है, यह किसी व्यक्ति की रचना नहीं है। अतः अकर्तृव्य के कारण वेद स्वतः प्रामाणिक है। उनका मानना है कि पौरूषेय वाक्यों में प्रामाणिकता के विषय में संशय होता है तथा किसी परवर्ती ज्ञान द्वारा उनके बाधित होने की भी संभावना रहती है। वेदों का कोई रचनाकार नहीं है, न ही जीव और न ही ईश्वर। मीमांसा दर्शन एक अनी'वरवादी दर्शन है।

आचार्य कुमारिल भट्ट वेदों को कर्मपरक आदेश मानते हैं। उनके अनुसार वेदवाक्य विधायक वाक्य होते हैं जो हमें किसी कर्म को करने का आदेश देते हैं। यह 'अभिहितान्वयवाद' है। वेद के विधिवाद एवं अर्थवाद दो भाग हैं। इनमें विधिवाद मुख्य है जो कर्मपरक आदेश देता है तथा अर्थवाद वर्णनात्मक है। प्रभाकर के अनुसार अर्थवाद भी कर्म का सहायक बनकर ही सार्थक हो सकता है। यह 'अन्विताभिधानवाद' है। मीमांसा में वेदों के अनुरूप आचरण ही धर्म है।

अपूर्व का सिद्धान्त भी धर्म से जुड़ा हुआ है। वेद विहित कर्म ही धर्म है और व्यक्ति जब धर्म के अनुरूप आचरण करता है तो उसके सुखद परिणाम प्राप्त होता हैं। 'अपूर्व' वस्तुतः एक अलौलिक शक्ति के रूप में कल्पित है जो कर्म एवं उसके परिणामों के बीच की कड़ी है। अपूर्व शाब्दिक अर्थ है 'जो पूर्व में न रही हो। यह कर्म और फल के बीच संबंध का जनक है। सामान्यतः व्यक्ति कुछ कर्म सम्पादित करता है जो भविष्य में अपना फल देते हैं। कि, गए कर्म के भावी परिणाम की व्याख्या के लिए एक 'अपूर्व' नामक आदृष्ट शक्ति को स्वीकार किया गया है। महर्षि जैमिनी इस शक्ति को अपूर्व कहते हैं जो समयानुसार यज्ञ के कर्त्ता को उसके कर्मो का फल प्रदान करता है। 'अपूर्व' की शक्ति के कारण ही व्यक्ति को कर्मानुसार सुख–दुःख का भोग करना पड़ता है। अन्याय दर्शनों में ईश्वर को कर्माध्यक्ष के रूप में मान्यता प्राप्त है जो व्यक्ति को उसके कर्मों के अनुरूप फल प्रदान करते हैं। परन्तु मीमांसा दर्शन में ईश्वर का स्थान नही है, अतः कर्मफल ईश्वर के अधीन नहीं है।

1.3 धर्म अपूर्व

मीमांसा का मुख्य प्रतिछाया 'धर्म' की मीमासां या व्याख्या करना है। वेद–निर्दिष्ट विधि और निषेध के अनुसार क्रिया में प्रवृत्ति तथा उससे निवृत्ति का होना ही धर्म का लक्षण है। वेद नित्य एवं अपौरूषेय हैं और अकर्तृव्य के कारण ही वेद स्वतः प्रामाणिक है। वेदों में लिखित विधि एवं निषेध का पालना करना ही धर्म है। मीमांसा –सूत्र में जैमिनी ने धर्म का लक्षण इस प्रकार दिया है– चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः अर्थात वेद क्रियात्मक वचन है और जो श्रम क्रियापकर नहीं है वह अर्थवाद है। अर्थवाद भी कर्म का सहायक बनकर ही सार्थक हो सकता है।

मीमांसा की दृष्टि में धर्म विधिनिषेधपरक है, अर्थात मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, यही धर्म की व्याख्या है। मनुष्य के लिए क्या कर्त्तव्य हैं एवं क्या अकर्त्तव्य है, इसके ज्ञान का एक मात्र आधार वेदवाक्य है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन में धर्म की व्याख्या मनुष्य की अन्तः प्रेरणा पर आधारित न होकर शास्त्र–निर्दिष्ट ही है। धर्म का एकमात्र प्रतिपादन वेदों में है। वेद ही धर्म के स्रोत हैं। मीमांसा दर्शन ने धर्म की व्याख्या के लिए वेद के अपौरूषेय एवं नित्यत्व को सिद्ध किया। वैदिक वाक्यों के अर्थ को समझने के लिए शब्द एवं वाक्य की व्युत्पत्ति के नियमों का प्रतिपादन किया जो कर्म एवं फल के बीच की कड़ी है तथा कर्माध्यक्ष के रूप में ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार किया। इस प्रकार मीमांसा का

मुख्य प्रतिपाया धर्म की मीमांसा करना है तथा इसके आनुषंगिक रूप में एक दर्शन–तंत्र की रचना हुई।

मीमांसा दर्शन कर्म को ही मुख्य मानता है। कर्म पर मीमासंकों ने इतना जोर दिया है कि मीमांसा में ईश्वर का स्थान समाप्त हो गया है। उल्लेखनीय है कि मीमांसक देवताओं का ही अस्तित्व इसलिए स्वीकार किया जाता है क्योंकि उनके नाम पर होम किया जाता है; उनको हवि प्रदान की जाती है। मीमासंको के अनुसार कर्म का उद्देश्य देवताओं को संतुष्ट करना ही है वरन् आत्मा की शुद्धि करना है। वैदिक युग में यज्ञ का उद्देश्य देवताओं को प्रसन्न और संतुष्ट करना रहा है परन्तु मीमांसा में यज्ञ का उद्देश्य स्वयं आत्मा की शुद्धि करना है।

चूँकि वेद कर्मपरक आदेष है। अतः कर्म की चर्चा मीमांसा दर्शन में महत्वपूर्ण है। मीमांसा दर्शन में यह बतलाया गया है कि मनुष्य के लिए करणीय एवं अकरणीय क्या हैं? मीमांसा में कर्म के निम्न प्रकार बताए गए हैं–

1. **नित्य कर्म** – नित्य कर्म वे कर्म हैं जो प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन करना अनिवार्य है। स्नान, ध्यान, पूजा, प्रार्थना आदि इस प्रकार के कर्मो का उदाहरण है। इन कर्मो को करने से पुण्य–लाभ होता है एवं नहीं करने से मनुष्य पाप का भागी बनता है।

2. **नैमित्तिक कर्म** – नैमित्तिक कर्म अवसर –विशेष पर किए जाने वाले कर्म है। विशेष व्रतों का पालन, पर्व–त्यौहार विशेष पर कृत धर्मानुष्ठान आदि इसके उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त जन्म, मृत्यु, विवाह आदि पर कृत कर्म की नैमित्तिक कर्मो के उदाहरण है। इन कर्मो को करने से कोई विशेष लाभ नहीं होता परन्तु यदि इन्हें नहीं करे तो पाप संचय होता है।

3. **काम्य कर्म** – ये ऐसे कर्म है जो किसी कामना की सिद्धि के लिए किए जाते हैं। इन कर्मों को वही व्यक्ति करते हैं जो किसी विशेष लक्ष्य की सिद्धि चाहते हैं। किसी कामना विशेष की सिद्धि के लिए कृत कर्मो को काम्य कर्म कहते हैं। पुत्र प्राप्ति, धन प्राप्ति, ग्रह शान्ति आदि के लिए जो कर्म किए जाते है वे काम्य कर्म के अन्तर्गत आते है। स्वयं की लालसा से किए जाने वाले यज्ञ भी इसके अन्तर्गत आते हैं (स्वर्गकामो यज्ञेत)। ऐसे कर्मो को करने से पुण्य संचय होता है परन्तु इनके नहीं करने से पाप नहीं होता है।

4. **प्रतिसिद्धि कर्म** – इन कर्मो को करने का निषेध वेदों में किया गया है। निषिद्ध या प्रतिषिद्ध कर्म वे हैं जिनका करना वर्जित है। ये अकरणीय कर्म हैं। इन कर्मो को करने से मनुष्य पाप का भागी होता है परन्तु नहीं करने से पुण्य की प्राप्ति नहीं होती।

5. **प्रायश्चित कर्म** – यदि असावधनाी या लापरवाही के कारण कभी प्रतिसिद्ध कर्म हो जाए तो उसके अषुभ परिणामों से बचने के लिए प्रायष्चित कर्मो का विधान किया गया है। यदि मनुष्य से कभी प्रमादवष आलस्य कर्म हो जाता है तो प्रायष्चित कर्मो का विधान है। जिसके द्वारा उसका पापोत्पादक वेग शमित कर दिया जाता है या कम कर दिया जाता है।

इन सभी कर्मो का पालन वेद का आदेष समझकर करना चाहिए। इन कर्मो का पालन इसीलिए करना चाहिए क्योंकि वेद ऐसा करने का आदेष देते हैं। इस प्रकार मीमांसा दर्शन का 'धर्म–सिद्धान्त' से विशेष रूप से साम्य रखता है। गीता के अनुसार 'कर्मण्येवाधिकारस्त मा फलेषु कदाचनफ' अर्थात केवल कर्म करो

परन्तु उसके फल की इच्छा मत करो। गीता के निष्काम कर्म का सिद्धान्त मीमांसा में भी प्रतिफलित है। काण्ट की 'परिणाम' निरपेक्ष नैतिकता' या 'परिणाम निरपेक्ष कर्त्तव्यता' का उपदेष देता है। काण्ट से हजारों वर्षो पूर्व मीमांसा दर्शन भी 'कर्त्तव्य' को साध्य मानकर करने का आदेष देती है, मात्र भावनात्मक संतुष्टि या सुख–प्राप्ति के लिए नहीं। इसके अतिरिक्त मीमांसा के धर्म–सिद्धान्त और काण्ट के दर्शन में कर्मफल प्रदाता के रूप में ईश्वर को स्वीकार किया गया है जबकि मीमांसा दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार किया गया है तथा कर्म–फल की व्याख्या के लिए 'अपूर्व' की शक्ति को स्वीकार किया गया है। मीमांसा एवं काण्ट में दूसरा महत्वपूर्ण अंतर यह है कि मीमांसा के अनुसार कर्त्तव्य का मूल स्त्रोत वेद है जबकि काण्ट के अनुसार, कर्त्तव्य का मूल श्रोत आत्मा का उच्चतर रूप (Higher Self) है।

मीमांसा के अनुसार धर्म का अर्थ वैदिक कर्मो का अनुष्ठान है। लौंगाक्षि भास्कर कहते हैं, कि यागादिदेव धर्मः वेद प्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थः अर्थात वेदप्रतिपाद्य यागादि ही धर्म है और वह प्रयोजनयुक्त अर्थ है। वेदों के पश्चात् मनुष्य के कर्त्तव्यों का वर्णन मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि स्मृति ग्रन्थों में किया गया है अतः स्मृतियॉ मीमांसा का पूरक हैं।

मीमांसा दर्शन के अनुसार धर्म और अधर्म के निर्णय में वेद ही एकमात्र आधार है। वेदमन्त्रों के अर्थ को भलीभॉति समझ लेने पर धर्म का अर्थ ज्ञात हो जाता है। जैमिनी का कथन है कि वेदों में कर्मकाण्ड का क्रियाकलाप ही या वेदों के अन्य भाग की व्याख्या भी कर्मकाण्ड संबंधी आदेषों के आधार पर होनी चाहिए। अन्य भाग केवल उसी अवस्था में सार्थक हैं जबकि कर्मसिद्धि में सहायक हो सकते है। मीमांसा यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि पवित्र वाङ्मय का प्रत्येक भाग कर्मो से सम्बद्ध है। मीमांसकों के अनुसार वेदों का आदेष होने के कारण उनका पालन करना धर्म है। वेद नित्य ज्ञान के भण्डार है। वे अपौरूषेय एवं स्वतः प्रामाणिक हैं। चूॅकि उनका कोई रचयिता नहीं है अतः उनमें त्रुटियों की कोई संभावना नहीं है। न्याय–दर्शन ने कृत्य होने के कारण वेद प्रामाणिक हैं जबकि मीमांसा दर्शन की मान्यता है कि वेद अपौरूषेय होने के कारण प्रामाणिक हैं। इनके समन्वय का कार्य आगे चलकर शंकराचार्य ने अपने अद्वैत–दर्शन में किया। शंकर के दर्शन में 'अपौरूषेय' का नवीन अर्थ प्राप्त होता है। शंकर मानते हैं कि वेदार्थ तो नित्य हैं परन्तु वेदमन्त्र नित्य नहीं है क्योंकि ईश्वर प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में उनका उच्चारण करता है। परन्तु ईश्वर केवल उनका उच्चारण करता है किन्तु उनके शब्दों के क्रम या आनुपूर्वी में कोई परिवर्तन नहीं करता। उनका क्रम ठीक वही कर रहा है जो पिछली सृष्टि में था।

उल्लेखनीय है कि प्रारंभ में मीमांसा धर्म पर अत्यधिक जोर देती थी तथा धर्म के विधिपूर्वक सम्पादन के फलस्वरूप प्राप्त स्वर्ग ही उनका लक्ष्य था। परंतु बाद में इन्होंने स्वर्ग के स्थान पर मोक्ष को परम–पुरूषार्थ के रूप में स्वीकार किया। मीमांसा दर्शन भी मोक्ष को दुःखों आत्यान्तिक अभाव के रूप में मानते हैं। प्रभाकर एवं कुमारिल दोनों का आत्मविषयक विचार न्याय–वैशेषिक के आत्म विचार से विशेष रूप से मिलता है। प्रभाकर और कुमारिल दोनों को द्रव्य मानते हैं एवं अनेक मानते हैं। प्रभाकर, न्याय वैशेषिक के समान ज्ञान को आत्मा आगन्तुक गुण के रूप में मानते हैं। आत्मा में ज्ञान, सुख, दुःख आदि गुणों की उत्पत्ति देहेन्द्रियमनःसंयोग के कारण होती है। मोक्षावस्था में देहेन्द्रियमनःसंयोग सम्बन्ध विलय के कारण आत्मा में ज्ञान, सुख, दुःख भी नहीं रहते। इस प्रकार मोक्ष में दुःख की आत्यान्तिक निवृत्ति के साथ–साथ ज्ञान, सुख की भी निवृत्ति रहती है।

मोक्षवस्था में ज्ञान, सुख आदि भी नहीं होता। कुमारिल ज्ञान के आत्मा की क्रिया या परिणाम मानते हैं। कुमारिल के अनुसार भी मोक्ष में दुःख की अत्यान्तिक निवृत्ति के साथ–साथ ज्ञान, सुख आदि स्थितियों की भी आत्यान्तिक निवृत्ति रहती है। यह अवष्य है कि मोक्षावस्था में भी आत्मा में 'ज्ञान शक्ति स्वभाव' बना रहता है।

यहाँ पर नारायण भट्ट ने एक अलग व्याख्या की है। वे कहते हैं कि मोक्ष में केवल विषय सुख का अभाव रहता है आत्म–सुख की स्थिति रहती है।

मीमांसा दर्शन में मोक्ष का साधन कर्म ज्ञान सम्मुच्चय को स्वीकार किया गया है। कुमारिल, प्रभाकर, मण्डन सभी ने कर्मज्ञानसम्मुच्चय को मोक्ष का हेतु स्वीकार किया है। कर्म तथा ज्ञान दोनों को स्वीकार कर कुमारिल ने पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा के बीच समन्वय का कार्य किया है।

मीमांसा दर्शन कर्म एवं उसके फल के बीच एक शक्ति की कल्पना करता है, उसे 'अपूर्व' कहा गया है। मीमांसा दर्शन कर्म एवं फल बीच अनिवार्य संबंध स्वीकार करता है। परन्तु अन्य दर्शनों की भॉति वह कर्माध्यक्ष के रूप में ईश्वर को स्वीकार नहीं करता वरन् ईश्वर को अस्वीकार करते हुए वह 'अपूर्व' नामक एक अदृष्ट शक्ति को स्वीकार करता है जो कर्म को फल से अनिवार्यतः सम्बद्ध करता है। वैदिक यज्ञों आदि के करने से तथा धर्म का पालन करने से जो स्वर्ग–सुख आदि उत्पन्न होते है वह गुण या शक्ति अपूर्व है–

अपूर्वो यागादिजन्यः स्वर्गादिजनकः कश्चन गुण विशेष :।

वास्तव में जो यज्ञ आज सम्पन्न होता है उसका फल सद्यः प्राप्त नही होता। परन्तु प्रश्न है कि उसका फल कैसे प्राप्त हो सकता है। अतः कर्म एवं फल के बीच एक तत्व को स्वीकार करना पड़ता है। वह तत्व अपूर्व है। 'अपूर्व' के अस्तित्व को अर्थापति से ही जाना जा सकता है। कर्म एवं फल की व्याख्या के लिए 'अपूर्व' को मानना आवश्यक है। यह एक सार्वभौमिक एवं स्वचालित सत्ता है। आचार्य कुमारिल 'अपूर्व' को कर्त्ता में एक योग्यता मानते हैं। जबकि प्रभाकर इसे कर्म में स्थित एक तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं।

1.4 समीक्षा

मीमांसा दर्शन में धर्मविषयक चिंतन है परन्तु धर्म को केवल यज्ञ एवं वेदविहित कर्म के रूप में सीमित कर देना आज वर्तमान में बहुत संतोषप्रद नहीं माना जा सकता। आत्मा की अवधारणा भी मीमांसा दर्शन में बहुत उच्च नहीं है। प्रभाकर ने आत्मा को ज्ञाता मानते हुए उसे ज्ञानस्वरूप न मानकर ज्ञान को आत्मा को समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान नहीं माना गया वरन् एक जड़द्रव्य के रूप में ही स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि मीमांसा दर्शन की मोक्षावस्था केवल दुःखनिवृत्ति की ही अवस्था है, सुख या आनंद की अवस्था नहीं है।

पुनः शंकर ने अपूर्व की भी आलोचना की है। शंकर कहते हैं कि अपूर्व का आश्रय न कर्म हो सकता है और न ही कर्त्ता। यदि अपूर्व का आश्रय कर्म हो तो कर्म स्वयं अचेतन होने के कारण तो वह कर्मफल नहीं दे सकता परंतु ऐसा नहीं है। शंकराचार्य ने ईश्वर को अपूर्व का आश्रय स्वीकार किया है जो कर्म का फल प्रदान करता है।

1.5 उपसंहार

मीमांसा का धर्म विषयक चिंतन सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में मान्य एवं केन्द्रीय महत्व रखता है। धर्म के माध्यम से मीमांसा दर्शन कर्म के महत्व को प्रतिपादन करता है। जो गीता के 'निष्काम कर्म' एवं काण्ट के 'कर्त्तव्य –सिद्धान्त' का स्मरण कराता है। कर्म–सिद्धान्त भारतीय दर्शन की रीढ़ है जिसका सम्यक् विवेचन मीमांसा में प्राप्त होता है। प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्म का फल अवश्य प्राप्त होना चाहिए जिससे इस विश्व में शाश्वत नैतिक व्यवस्था बनी रहती है जो इस विश्व की नियामिका शक्ति है। अपूर्व के माध्यम से मीमांसा इसी का व्याख्यान करती है।

उपयोगी पुस्तकें

1. Indian Philosphy vol I- (सर्वपल्ली राधाकृष्णन)
2. भारतीय दर्शनः आलोचना एवं अनुशीलन (चन्द्रधर शर्मा)
3. भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रुपरेखा (राममूर्ति पाठक)
4. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण (प्रो. संगम लाल पाण्डेय)

बोध प्रश्न

1. धर्म जिज्ञासा को स्पष्ट करें।
2. धर्म की व्याख्या करें।

****

इकाई–2

प्रामाण्यवाद एवं ख्यातिवाद

विषय–सूची

2.0 उद्देश्य

2.1 स्वतः प्रामाण्य एवं परतः प्रामाण्य

2.2 मीमांसा का स्वतः प्रामाण्यवाद

2.3 स्वतः प्रामाण्यवाद की न्याय दर्शन द्वारा आलोचना

2.4 बौद्धों का स्वतः अप्रामाण्यवाद

2.5 मीमांसा द्वारा न्याय का खण्डन एवं स्वतः प्रामाण्यवाद का प्रतिपादन

2.6 सारांश

2.7 उपयोगी पुस्तकें

2.0 उद्देश्य

भारतीय दर्शन अपने प्रमाणशास्त्र के अन्तर्गत प्रमा एवं प्रमाण के साथ–साथ ज्ञान के प्रामाण्य की भी विवेचना करता है। यथार्थ ज्ञान प्रमा है; प्रमा के करण या साधन को प्रमाण कहते है। 'प्रामाण्य' का तात्पर्य है– ज्ञान की सत्यता एवं अप्रामाण्य का तात्पर्य है– ज्ञान की असत्यता। यदि कोई ज्ञान सत्य है तो ज्ञान प्रामाण्य है तथा यदि कोई ज्ञान असत्य है तो ज्ञान में अप्रामाण्य है। कोई ज्ञान सत्य तब होता है जब वह वस्तु के गुणों को प्रकाशित करे तथा ज्ञान असत्य तब होता है जब वह वस्तु के गुणों को प्रकाशित करे तथा ज्ञान असत्य तब होता है जब वह वस्तु के गुणों से भिन्न गुणों का प्रकाश करें। शंख के ज्ञान में यदि हमें उसकी शुभ्रता (सफेदी) का ज्ञान हो तो ज्ञान में प्रामाण्य है अर्थात हमारा ज्ञान प्रामाणिक है तथा यदि हमें शंख की पीतता (पीलापन) का ज्ञान हो तो हमारा ज्ञान अप्रामाणिक है तथा उसमें अप्रामाण्य है। इस रुप में हम कह सकते हैं कि किसी ज्ञान द्वारा स्वविषय के गुणों को प्रकाशित करना 'प्रामाण्य' कहलाता है तथा उस ज्ञान द्वारा स्वविषय के गुणों से भिन्न गुणों का प्रकाशन करना 'अप्रामाण्य' कहलाता है।

प्रस्तुत इकाई में हम मीमांसा दर्शन के विशेष संदर्भ में प्रामाण्य–संबंधी सिद्धान्त (प्रामाण्यवाद) का अध्ययन करेंगे। साथ ही अन्य दर्शनों के प्रामाण्यवाद संबंधी विचारों से तुलना करते हु, चलेंगे। जिस प्रकार ज्ञान की सत्यता संबंधी सिद्धान्तों को प्रामाण्यवाद कहते हैं उसी प्रकार 'भ्रम के सिद्धान्त' को ख्यातिवाद कहते हैं जिसका विवेचना 'ख्यातिवाद' वाले इकाई में होगा।

2.1 स्वतः प्रामाण्य एवं परतः प्रामाण्य

प्रश्न है कि प्रामाण्य के सन्दर्भ में 'स्वतः' एवं 'परतः' का क्या तात्पर्य है? मूलतः ज्ञान की उपलब्धि में दो सामाग्रियों का विशेष योगदान रहता है:– प्रथम, जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है– ज्ञानोत्पादक सामग्री एवं द्वितीय, जिससे ज्ञान का हमारे द्वारा ग्रहण होता है– ज्ञान ग्राहक सामग्री। 'स्वतः' प्रामाण्य का अर्थ है कि ज्ञान की सत्यता ज्ञानोत्पादक सामग्री तथा ज्ञानग्राहक सामग्री से भिन्न किसी अन्य ज्ञान पर निर्भर नहीं करता। जो दोषरहित कारण –साम्रगी ज्ञान को उत्पन्न करती है वही सामग्री उस ज्ञान के प्रामा.य को भी साथ ही उत्पन्न करती है। इसके साथ ही 'परतः प्रामाण्य' कहता है कि ज्ञान की सत्यता ज्ञानोत्पादक एवं ज्ञान ग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री पर निर्भर करता है। स्वतः प्रामाण्यवाद के अनुसार ज्ञान की प्रामाणिकता ज्ञान में ही अन्तर्निहित है जबकि परतः प्रामाण्यवाद के अनुसार ज्ञान की प्रामाणिकता बाहर से आनी है अर्थात अन्य बातों पर निर्भर करती है।

भारतीय दर्शन में ज्ञान की यर्थाथता एवं प्रामाणिकता के संदर्भ में सभी दर्शनों ने स्वतः प्रामाण्य एवं परतः प्रामाण्य की चर्चा की है जिसे निम्नरुप में स्पष्ट किया जा सकता है–

	दर्शन	प्रामाण्य	अप्रामाण्य
1.	बौद्ध दर्शन	परतः	स्वतः
2.	सांख्य दर्शन	स्वतः	स्वतः
3.	न्याय दर्शन	परतः	परतः
4.	मीमांसा एवं वेदान्त	स्वतः	परतः

इस संदर्भ में जैन दर्शन की स्थिति थोड़ी भिन्न है। जैन दर्शन के उत्पत्ति की दृष्टि से प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य को परतः स्वीकार करता है जबकि ज्ञप्ति की दृष्टि से से प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य को स्वतः मानता है।

2.2 मीमांसा का स्वतः प्रामाण्यवाद

मीमांसा दर्शन स्वतः प्रामाण्यवाद को स्वीकार करता है। किसी ज्ञान की सत्यता ज्ञानोत्पादक सामग्री एवं ज्ञानग्राहक सामग्री पर ही निर्भर करती है। ज्ञान को प्रामाण्य बाहर से नहीं आता। जो ज्ञानजनक सामग्री ज्ञान को उत्पन्न करती है वही सामग्री उस ज्ञान के प्रामाण्य को भी साथ ही उत्पन्न करती है। ज्ञान की प्रामाणिकता भी ज्ञान के साथ ही उत्पन्न होता है और उसी सामग्री से उत्पन्न होती है जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान की उत्पत्ति एवं प्रामाण्य की उत्पत्ति में पूर्वापरता नहीं है। ऐसा नहीं है कि ज्ञान पहले उत्पन्न होता है एवं उसमें प्रामाण्यवाद में आता है वरन् दोनों समकालिक उत्पन्न होते हैं।

मीमासंकों के अनुसार ज्ञानोत्पादक सामग्री एवं ज्ञानग्राहक सामग्री तथा प्रामाण्योत्पादक सामग्री एवं प्रामाण्य ग्राहक सामग्री में कोई भिन्नता नहीं है। यही मीमांसा दर्शन का स्वतः प्रामाण्यवाद है। मीमांसा दर्शन के अनुसार यथार्थता ज्ञान का स्वरुप है परन्तु इस ज्ञान की यथार्थता के ज्ञान के लिए किसी अन्य साधन पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान उत्पन्न होते ही प्रकाश होता है। इसके

अतिरिक्त मीमांसक यह भी मानते हैं कि प्रामाण्य की उत्पत्ति एवं इस प्रामाण्य एवं इस प्रामाण्य का ज्ञान (ज्ञाप्ति) दोनों ज्ञान के साथ ही उत्पन्न हैं एवं उसी सामग्री से उत्पन्न होते हैं जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है।

प्रामाण्यं स्वतः उत्पद्यते स्वतः ज्ञायते च।

उत्पत्तौ स्वतः प्रामाण्यं ज्ञप्तौ च स्वतः प्रामाण्यम्।

मीमांसा दर्शन के अनुसार ज्ञान का अप्रमाण्य परतः होता है अर्थात् ज्ञान की अप्रामाणिकता बाहर से आती है। ज्ञान के अप्रामाण्य का अनुमान किया जाता है। यह अनुमान कारण–सामग्री के किसी दोष या फिर अन्य बाधक–ज्ञान के कारण किया जाता है। ज्ञान की असत्यता का अनुमान किया जाता है। यदि पीलिया का रोगी शुभ्र शंख को पीत शंख के रुप में देखता है तो ऐसा कारण–सामग्री के दोष के कारण होता है इसके अप्रामाण्य का अनुमान कारण सामग्री के दोष के कारण होता है। इसी प्रकार रज्जु–सर्प के भ्रम मे सर्प का ज्ञान बाद में रज्जु के ज्ञान से बाधित हो जाता है। अतः उसके अप्रामाण्य का अनुमान बाधक ज्ञान के कारण किया जाता है।

इस प्रकार मीमांसा दर्शन में प्रामाण्य को स्वतः तथा अप्रामाण्य को परतः स्वीकार किया जाता है। ज्ञान की सत्यता में ज्ञान में निहित जबकि ज्ञान की असत्यता वाह्य कारणों पर आधारित है। न्याय दार्शनिक परतः प्रामाण्यवाद को मानतें हैं। उनके अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः नही होता (ज्ञान में ही उसका प्रामाण्य निहित नही होता वरन् बाहर से आता है। न्याय दर्शन ज्ञान–ग्राहक सामग्री एवं प्रामाण्य–ग्राहक सामग्री में अन्तर मानता है, इसलिए न्याय दार्शनिक परतः प्रामाण्यवाद को स्वीकार करते हैं। ज्ञान का ग्रहण 'अनुव्यवसाय' द्वारा होता है। जैसे यह घट है' यह एक व्यवसायात्मक ज्ञान है। तदन्तर 'मै घट को जानता हूँ' इस प्रकार का अनुव्यवसायात्मक ज्ञान होता है। व्यवसाय का अर्थ है– ज्ञान और 'अनुव्यवसाय' का अर्थ है ज्ञान के बाद का ज्ञान अर्थात ज्ञान का ज्ञान। अतः न्याय दर्शन में ज्ञान ग्राहक सामग्री 'अनुव्यवसाय' को स्वीकार किया जाता है।

परन्तु न्याय दार्शनिक कहते हैं कि प्रामाण्य का ग्रहण 'अनुव्यवसाय' से ही नही होता है। ज्ञान की सत्यता – असत्यता या यर्थाथता–अयर्थाथता का निश्चय अनुव्यवसाय से नही वरन् सफल प्रवृत्ति सामर्थ्य द्वारा होती है। अनुव्यवसाय ज्ञान होने के बाद व्यक्ति उस विषय की ओर प्रवृत्त होता है, यदि उसकी यह प्रवृत्ति सफल एवं चरितार्थ होती है तो वह ज्ञान सत्य है एवं यदि उसका प्रयत्न निंष्फल होता है तो वह असत्य होता है।

न्याय दार्शनिक कहते हैं कि – जानाति इच्छति, यतते अर्थात ज्ञान के पश्चात व्यक्ति इच्छा करता है और तदनुसार यत्न करता है। यदि उसका यत्न सफल होता है तो वह ज्ञान सत्य होता है और यदि उसका प्रयत्न असफल होता है तो वह ज्ञान असत्य होता है। जैसे यदि हमें किसी वस्तु का ज्ञान घड़े के रुप में हो रहा है एवं यदि उसमे पानी भर जाय तो वह घट–ज्ञान सत्य होता है एवं यदि उसमें पानी भरने की सामर्थ्य न हो तो वह घट–ज्ञान असत्य है। इस प्रकार न्याय दर्शन यह मानता है कि ज्ञान ग्राहक सामग्री तो अनुव्यवसाय है परन्तु अनुव्यवसाय ही प्रामाण्य का ग्रहण करने में समर्थ नही हैं। इसके लिए हमें अन्य साधनों की अपेक्षा होती है। न्याय दार्शनिक प्रामाण्य ग्रहण के लिए 'अनुमान' को स्वीकार करते हैं। यह अनुमान ज्ञान के बाद तद्नुसार हुई हमारी प्रवृत्ति की सफलता पर निर्भर करती है। जैसे घट–ज्ञान के पश्चात् जब उसमें पानी भर जाता है तब हम यह अनुमान करते हैं कि 'वह घट है'। इसके विपरीत यदि हमें किसी वस्तु का ज्ञान

घट के रुप में हुआ और उसमें पानी को धारण करने की सामर्थ्य नही है तब हम यह अनुमान करते हैं कि वह घट–ज्ञान अप्रामाणिक था। इस प्रकार न्याय दार्शनिक कारण–सामग्री में विद्यमान गुण के कारण प्रामाण्य का अनुमान एवं कारण–सामग्री में दोष के कारण अप्रामाण्य के अनुमान को संभव मानता है। अतः न्याय दर्शन परतः प्रामाण्यवादी एवं परतः अप्रामाण्यवादी भी है।

2.3 स्वतः प्रामाण्यवाद की न्याय दर्शन द्वारा आलोचना

मीमांसा दर्शन के स्वतः प्रामाण्यवाद के सबसे बड़े आलोचक न्याय दार्शनिक रहे हैं। नैयायिक कहते है कि ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः नहीं है अपितु बाहर से आता है। ज्ञान की प्रामाणिकता ज्ञान में ही निहित नहीं है बल्कि अन्य ज्ञान से सिद्ध होता है। नैयायिकों का तर्क है कि यदि ज्ञानोत्पादक सामग्रियाँ स्वयं ही ज्ञान के प्रामाण्य का भी निश्चय करने में समर्थ हों तो सामान्य लोक व्यवहार में हमें भ्रम नहीं होना चाहिए। परन्तु हमारे दैनिक जीवन में हमें अनेक प्रकार के भ्रमों से दो–चार होना पड़ता है। कभी–कभी हमें रज्जु के स्थान पर सर्प दिखता है, कभी शक्ति के स्थान पर रजत दर्शन होते हैं। नैयायिकों का प्रश्न है कि यदि स्वयं ही अपने प्रामाण्य का भी उपपादन करता है तो हमें भ्रम क्यों होता है? भ्रम होना ही यह सिद्ध करता है कि ज्ञान स्वतः प्रामाण्य नहीं है।

पुनः नैयायिक मानते है कि ज्ञान एवं प्रमाण दोनों की स्थिति में भेद होता है। ज्ञान मनुष्य के अन्तः में उत्पन्न होता है जबकि प्रामाण्य बाह्य वस्तु पर निर्भर है। यदि प्रामाण्य को ज्ञान पर निर्भर माना जा, तो इसका तात्पर्य है कि वाह्य वस्तु भी अन्तर्जगत् पर निर्भर है जो कि मीमांसा के स्वयं के वस्तुवाद के विरुद्ध है। इस रूप में नैयायिक यह मानते हैं कि मीमांसा का स्वतः प्रामाण्यवाद युक्तिसंगत नहीं है।

वस्तुतः न्याय दर्शन ज्ञान के प्रामाण्य को परतः मानता है। नैयायिक मानते हैं कि ज्ञान आरम्भ में ज्ञान के रुप में ही रहता है, उसमें उस समय न तो प्रामाण्य होता है और न ही अप्रामाण्य। न्याय के अनुसार प्रमा या सम्यक ज्ञान सदैव यथार्थ एवं संवादी होता है तथा उसमें अर्थक्रिया सामर्थ्य एवं अप्रामाण्य दोनो को परतः मानता है अर्थात ज्ञान का प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों ज्ञान में निहित न होकर वाह्य पदार्थो पर निर्भर हैं। वे मानते है कि पहले ज्ञान उत्पन्न होता है तदृपरान्त ज्ञान में प्रामाण्य उत्पन्न होता है और प्रामाण्य के उत्पन्न होने के बाद उसका ज्ञान होता है। अतः प्रामाण्य की उत्पत्ति एवं ज्ञाप्ति दोनों परतः है।

उत्पत्तौ ज्ञप्तौ च परतः प्रामाण्यम्।

मीमांसा दर्शन की अवधारणा थी कि ज्ञान का प्रामाण्य ज्ञानोत्पादक एवं ज्ञानग्राहक सामग्रियों से भिन्न सामग्रियों पर निर्भर नहीं है जबकि न्याय दार्शनिक मानते हैं कि प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों ज्ञानोत्पादक एवं ज्ञान ग्राहक सामग्रियों से भिन्न सामग्रियों पर निर्भर हैं। उदाहरणार्थ हमें किसी घट का ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष होकर यह ज्ञान होता है कि 'यह घट है'। यह व्यवसायात्मक ज्ञान कहलाता है। तदुपरान्त मै घट को जानता हूँ' इस प्रकार का अनुव्यवसायात्मक ज्ञान होता है। अब इस घट–ज्ञान के प्रामाण्य का प्रश्न उपस्थित होता है कि यह घट ज्ञान सत्य है या असत्य। नैयायिक यह मानते हैं कि घट–ज्ञान के परीक्षण का आधार अर्धक्रिया सामर्थ्य है। यदि घट में अर्थक्रियाकारित्व है तो यह घट ज्ञान प्रामाणिक

है अन्यथा नहीं। यदि ज्ञान में सफलप्रवृत्ति सामर्थ्य नहीं है तो उसमें प्रामाण्य है और यदि उसमें सफलप्रवृत्तिसामर्थ्य नहीं है तो उसमें अप्रामाण्य है। घट–ज्ञान के परीक्षण में यदि उसमें भर जाए तो घट है अन्यथा नहीं। न्याय कहता है कि प्रवृत्ति की विफलता से ज्ञान में अप्रामाण्य उत्पन्न होता है। ज्ञान को उत्पन्न करने वाली कारण–सामग्री के गुण से ज्ञान में प्रामाण्य उत्पन्न होता है तथा कारण–सामग्री में दोष से ज्ञान में अप्रामाण्य दोनों को परतः मानते हैं।

2.4 बौद्धों का स्वतः अप्रामाण्यवाद

मीमांसा दर्शन के ठीक विपरीत बौद्ध दर्शन ज्ञान को स्वतः अप्रामाण्य मानता है। बौद्धों का मत है कि ज्ञान स्वतः तो अप्रामाणिक ही होता है, अतः पूर्ण प्रामाण्य की प्राप्ति सामान्य लोक जीवन में नहीं हो सकती। पूर्ण सत्य तो केवल तार्किक एवं गणितीय निष्कर्षों में ही सम्भव है। अतः व्यावहारिक ज्ञान सदैव प्रमाण एवं अप्रमाण के बीच ही होता है। व्यावहारिक ज्ञान मिथ्या है।

बौद्ध दर्शन का स्वतः अप्रामाण्यवाद वस्तुतः एक वैज्ञानिक अवधारणा है। वैज्ञानिक सत्य सदैव केवल तात्कालिक रुप से ही सत्य होता है, वैज्ञानिक सत्य परिवर्तनशीलता का दावा तो केवल धार्मिक सत्यों में होता है। प्रत्येक धर्म अपने मूल्यों, सिद्धान्तों, आदर्शो को पूर्ण एवं अपरिवर्तनशील मानता है। धार्मिक पुस्तकों में जो सत्य प्राचीन काल से चले आ रहें है वे देश–काल परिस्थिति निरपेक्ष हैं एवं सदैव सत्य हैं। धर्मपरायण व्यक्ति की आस्था उन सत्यों में दृढ़ होती है तथा वे किसी भी रुप में उनमें परिवर्तन को स्वीकार नहीं करते। परन्तु एक वैज्ञानिक सत्य नित्य प्रति नूतन होता रहता है एक सिद्धान्त को संशोधित करता हुए दूसरा सिद्धान्त आता है। जैसे–प्रकाश की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए पहले न्यूटन का 'कणिका–सिद्धान्त' आया, फिर हाइगेन्स ने प्रकाश को तरंग प्रकृति माना। इसके उपरान्त मैक्सवेल एवं आइस्टीन ने प्रकाश की भिन्न–भिन्न व्याख्याँए प्रस्तुत की। परन्तु धर्म अपनी आस्था के पुर्नरीक्षण को तैयार नहीं होता।

बौद्धों का स्वतः अप्रामाण्य का सिद्धान्त दिखाई देने में भले ही कुछ निराशाजनक लगे परन्तु यह पूरी तरह वैज्ञानिक है। बौद्ध व्यावहारिक ज्ञान को स्वतः अप्रामाणिक मानते है उसी प्रकार अद्वैत दर्शन भी व्यावहारिक ज्ञान को सापेक्ष सत्य ही स्वीकार करता है। व्यावहारिक ज्ञान हम चाहे जितना ज्यादा प्राप्त करते जाएं, वह पूर्ण सत्य कभी नहीं होता। इस दृष्टि से व्यावहारिक ज्ञान को स्वतः अप्रामाण्य ही मानना अधिक वैज्ञानिक लगता है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि न्याय दर्शन ज्ञान को बौद्धों की भांति स्वतः अप्रामाणिक तो नहीं मानता परन्तु वह किसी भी ज्ञान को प्रामाण्य–अप्रामाण्य से विरहित तटस्थ अवश्य मानता है। ज्ञान स्वंय में न सत्य होता और न असत्य। उचित परिस्थिति में उचित उपकरणों द्वारा जब ज्ञान प्राप्त होगा, तो वह सही होगा और गलत साधनों द्वारा जो दोषपूर्ण परिस्थितियों में जो ज्ञान प्राप्त होगा वह अयथार्थ होगा। इस प्रकार मूलतः ज्ञान तटस्थ होता है, उसकी सत्यता या असत्यता कुछ वाह्य परिस्थितियों पर निर्भर करता है। इस प्रकार न्याय दर्शन बौद्धों की अपेक्षा कुछ अधिक वैज्ञानिक ढंग से ज्ञान प्रामाण्य की व्याख्या करता है।

2.5 मीमांसा द्वारा न्याय का खण्डन एवं स्वतः प्रामाण्यवाद का प्रतिपादन

न्याय के परतः प्रामाण्य के प्रत्युत्तर में मीमांसक कहते हैं कि नैयायिक द्वारा स्वतः प्रामाण्यवाद की आलोचना वस्तुतः उनके ज्ञान विषयक भ्रान्ति का फल है। नैयायिकों की धारणा है कि कुछ सामग्रियों के एकत्रित होने पर ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है, परन्तु मीमांसक कहते हैं कि ज्ञान की यह अवधारणा ही गलत है। वस्तुतः ज्ञानोत्पादक सामग्रियों के एकत्रित होने पर ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो तो वरन् ज्ञान द्वारा विषय का प्रकाशन होता है; ज्ञान की यह विशेषता है कि ज्ञान के प्रकटीकरण में उसका प्रामाण्य भी निहित रहता है। प्रवृत्ति की सफलता या विफलता का ज्ञान भी एक ज्ञान ही है तथा इसे प्रामाण्य अप्रामाण्य का मानदण्ड मानना भी एक प्रकार से स्वतः प्रामाण्यवाद का प्रतिपादन करना ही है।

पुनः यदि ज्ञान में स्वतः प्रामाणिकता नहीं है तो बाहर से नहीं आ सकती। ज्ञान या तो प्रामाणिक होता है या अप्रामाणिक। ज्ञान यदि स्वतः प्रमाण शून्य है और इसमें प्रामाण्य उत्पन्न करने के लिए किसी अन्य ज्ञान की जैसे कारण, गुण के ज्ञान या यथार्थता के ज्ञान की या सफल प्रवृत्ति के ज्ञान की आवश्यकता स्वीकार किया जा, तो यह दूसरा ज्ञान भी ज्ञान होने के कारण स्वतः प्रमाण –शून्य होगा। पुनः इस ज्ञान में प्रामाण्य उत्पन्न करने के लिए किसी तीसरे ज्ञान की आवश्यकता होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होगा तथा कभी भी प्रामाणिक सिद्ध नहीं हो सकेगा।

वस्तुतः कारण–गुण, यथार्थकता एवं सफलप्रवुत्तिसामर्थ्य, जिन्हें न्याय ने प्रामाण्य की उत्पत्ति या अनुमिति का कारण माना है, वस्तुतः ज्ञान की कारण–सामग्री में ही अन्तर्मुक्त है। कारण–गुण वस्तुतः कारण–दोष रहितता है। यथार्थता ज्ञान का स्वरुप है तथा सफलप्रवृत्ति सामर्थ्य बाधक ज्ञान रहितता है। ये तीनों प्रमा को उत्पन्न करने वाली कारण सामग्री है। यही सामग्री ज्ञान को भी उत्पन्न करते हैं तथा उसके प्रामाण्य को भी उत्पन्न करते हैं। यही मीमांसा का स्वतः प्रामाण्यवाद है।

उल्लेखनीय है कि मीमांसा दर्शन के सभी आचार्य स्वतः प्रामाण्यवाद को स्वीकार करते हैं तथा यह स्वीकार करते हैं कि जिन सामग्रियों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उन्हीं सामग्रियों से उसके प्रामाण्य की भी उपलब्धि होती है तथा ज्ञानग्राहक सामग्रियाँ ही प्रामाण्य की भी उपलब्धि होती है तथा ज्ञानग्राहक सामग्रियाँ ही प्रामाण्य का ग्रहण कराने में समर्थ हैं। इसके बवाजूद मीमांसा दर्शन के तीनों महत्वपूर्ण आचार्य कुमारिल भट्ट, प्रभाकर मिश्र एवं मुरारि मिश्र तीनों ने स्वतः प्रामाण्यवाद की अलग–अलग व्याख्या की है।

प्रथमतः कुमारिल भट्ट स्वीकार करते हैं कि किसी भी ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता वरन् अनुमान होता है। परन्तु प्रश्न है कि किसी वस्तु का ज्ञान जब प्रत्यक्षतः नहीं होता तो फिर अनुमान किस आधार पर होता है। कुमारिल मानते हैं कि किसी वस्तु का ज्ञान होने पर उस वस्तु ज्ञाता द्वारा ज्ञात हो चुकी है। इसी ज्ञानता के आधार पर ज्ञान का अनुमान होता है। बिना किसी व्यक्ति में वस्तु का ज्ञान हुए वस्तु में 'ज्ञाता द्वारा ज्ञात हो चुकी है। इसी ज्ञातता के आधार पर ज्ञान का अनुमान होता है। बिना किसी व्यक्ति में वस्तु का ज्ञान हुए वस्तु में 'ज्ञतता' नामक धर्म का उदय नहीं हो सकता। इस ज्ञातता की सिद्धी के लिए कुमारिल ने अर्धापति प्रमाण को स्वीकार किया है। इसी 'ज्ञाततादन्यथानुपत्तिमूलक अर्धापति'

द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है तथा इसी के द्वारा तत्प्रामाण्य की भी उपलब्धि कुमारिल मानते है। यही कुमारिल कृत स्वतः प्रामाण्यवाद की व्याख्या है।

प्रभाकर मिश्र के अनुसार प्रमा अनुभूति है और अनुभूति स्वतः प्रकाश होती है। किसी वस्तु के ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान का प्रकाश होता है। इसलिए प्रभाकर मिश्र के अनुसार ज्ञान का स्वरुप होता है– अह्म (ज्ञाता), इदं (ज्ञेय), जानामि (ज्ञान)। इसलिए प्रभाकर के मत में ज्ञान में प्रामाण्य अन्तर्निहित माना गया है।

मुरारि मिश्र का स्वतः प्रामाण्यवाद कुमारिल एवं प्रभाकर से भिन्न है तथा बहुत कुछ न्याय दर्शन से मिलता है। मुरारि मिश्र मानते हैं कि ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय में होता है। 'यह घट है' यह व्यवसायात्मक ज्ञान है तथा इसके उपरान्त 'मै घट को जानता हूँ' इस प्रकार का अनुव्यवसायात्मक ज्ञान होता है। यह अनुव्यवसाय ही के द्वारा घट का ज्ञान होता है तथा इसी के द्वारा इसके प्रामाण्य की भी उपलब्धि होती है और यही मुरारि मिश्र में अन्तर यह है कि न्याय दर्शन में प्रथम दर्शन के मतों में अन्तर यह है कि न्याय दर्शन में प्रथम अनुव्यवसायात्मक ज्ञान संदिग्ध रहता है जबकि मुरारि मिश्र के मत में यह असंदिग्ध होता है। न्याय दर्शन अनुव्यवसाय द्वारा ज्ञान का ग्रहण करने के पश्चात उसके प्रामाण्य के लिए अर्धक्रियासामर्थ्य का सहारा लेकर परतः प्रामाण्यवाद का पोषक बन जाता है।

2.6 सारांश

सम्यक् ज्ञान (प्रमा), ज्ञान के साधनों (प्रमाण) के साथ–साथ भारतीय शास्त्र में ज्ञान के प्रामाण्य या ज्ञान की सत्यता को भी महत्व दिया गया है। मीमांसा दर्शन स्वतः प्रामाण्यवादी है। उसके अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः होता है अर्थात् ज्ञान की सत्यता ज्ञानोत्पादक एवं ज्ञान ग्राहक सामग्रियों से भिन्न किसी अन्य सामग्री पर निर्भर नहीं है। ज्ञान की सत्यता ज्ञान में ही निहित हैं। यह कहीं बाहर से नहीं आता। ज्ञान के अप्रमाण्य को मीमांसक परतः मानते हैं। ज्ञान का अप्रामाण्य अनुमित होता है। यह अनुमान कारण–दोष के आधार पर या बाधक–ज्ञान के आधार पर किया जाता है।

परन्तु न्याय दार्शनिक परतः प्रामाण्यवादी है। वे प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों को परतः स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञान का ज्ञान तो अनुव्यवसाय द्वारा जाना जाता है परन्तु उसके प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य (सत्यता एवं असत्यता) का निश्चय सफल प्रवृत्ति या विफल प्रवुत्ति पर निर्भर है। नैयायिक कहतें हैं कि यदि ज्ञान स्वतः प्रमाण है तो फिर भ्रम नहीं होना चाहिए। किन्तु भ्रम होता है। अतः ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य–सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है।

इस पर मीमांसा दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान या तो प्रामाणिक होता है या अप्रामाणिक। यदि ज्ञान में स्वतः प्रामाण्य न हो तो इसे कोई अन्य ज्ञान प्रामाणिक नहीं कर सकता। क्योंकि यह अन्य ज्ञान भी ज्ञान होने के कारण स्वतः प्रमाण–शून्य होगा तथा इस ज्ञान में प्रामाण्य उत्पन्न करने के लिए किसी तीसरे ज्ञान की आवश्यकता पड़ेगी एवं अनवस्था दोष आएगा। अतः ज्ञान को स्वतः प्रामाण्य मानना ही श्रेयस्कर है।

2.7 उपयोगी पुस्तकें

1. Indian Philosphy vol I- (सर्वपल्ली राधाकृष्णन)
2. भारतीय दर्शनः आलोचना एवं अनुशीलन (चन्द्रधर शर्मा)
3. भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रुपरेखा (राममूर्ति पाठक)
4. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण (प्रो– संगम लाल पाण्डेय)

बोध प्रश्न

1. स्वतः प्रामाण्यवाद का प्रतिपाद किस प्रकार कियागया?
2. न्यायदर्शन द्वारा स्वतः प्रामाण्यवाद की आलोचना की आलोचना किस प्रकार की गई है।

****

इकाई–3

प्रमाण मीमांसा

विषय–सूची

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 प्रत्यक्ष
3.3 अनुमान
3.4 शब्द
3.5 उपमान
3.6 अर्धापति
3.7 अनुपलब्धि
3.8 सारांश
3.9 उपयोगी पुस्तकें

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य मीमांसा दर्शन द्वारा मान्य प्रमाणों की जानकारी प्रदान करता है। वस्तुतः मीमांसा दर्शन की प्रमाण मीमांसा भारतीय दर्शन में सर्वाधिक व्यापक है। भारतीय दर्शन में सर्वाधिक व्यापक है। भारतीय दर्शन में चार्वाक दार्शनिक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण स्वीकार करते हैं। बौद्धों ने प्रत्यक्ष के साथ–साथ अनुमान को भी प्रमाण के रुप में स्वीकार करते है। जैन दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द को प्रमाण के रुप में स्वीकार किया गया है। सांख्य दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द उपमान एवं शंहद को प्रमाण माना है परन्तु वैशेषिक दर्शन केवल प्रत्यक्ष एवं अनुमान को स्वीकार करते हुए उपमान एवं शब्द का अर्न्तभाव अनुमान में किया है। मीमांसा एवं वेदान्त में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द के साथ–साथ अन्तिम रुप से अर्थापति एवं अनुपलब्धि को भी प्रमाण स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत इकाई में इन प्रमाणों का विशद् रुप से विवेचन किया गया है एवं न्याय दर्शन से तुलना करते हुए इसे व्याख्यातित किया गया है।

3.1 प्रस्तावना

मीमांसा दर्शन की ज्ञानमीमांसा में अन्य दर्शनों की भॉति प्रमा, प्रमाण (ज्ञान की सत्यता) का विवेचन किया गया है, उल्लेखनीय है कि मीमांसा दर्शन की ज्ञानमीमांसा न्याय दर्शन के समकक्ष ही विकसित हुई है। अतः कुछ बिन्दुओं में दोनों में मतभेद है तथा कुछेक में समय भी दृष्टिगोचर होता है। यथार्थ ज्ञान को

प्रमा कहते है। (यथार्थ अनुभवः प्रमा) इस प्रमा के करण या साधन को प्रमाण कहा जाता है। इस दर्शन की प्रमाणमीमांसा 'वस्तुवादी' है जिसका तात्पर्य है कि वस्तु (प्रमेय) की सत्ता ज्ञाता (प्रमाता) से स्वतंत्र होती है और प्रत्येक ज्ञान अनिवार्यतः किसी वस्तु की ओर संकेत करता है। आचार्य कुमारिल ने प्रमा की परिभाषा इस प्रकार दिया है– प्रमा दोषरहित कारण सामग्री से उत्पन्न अबाधित अर्थ ज्ञान है। प्रमा अज्ञात एवं सत्य पदार्थ का ज्ञान है। 'अज्ञान' पद से स्मृति की व्यावृत्ति हो जाती है अर्थात् 'स्मृति' को प्रमा के अन्तर्गत नहीं रख सकते। प्रमा 'सत्य' ज्ञान है अर्थात पदार्थ का ज्ञान है अर्थात जब हमें पूर्व में अज्ञात किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो उस ज्ञान को प्रमा कहते हैं। इस प्रकार कुमारिल प्रमा को 'नवीन' ज्ञान मानते हैं।

मीमांसा दर्शन के एक अन्य टीकाकार पार्थसारथि मिश्र ने अपनी 'शास्त्रदीपिका' में माना गया है कि प्रमा को कारणदोषरहित, बाधकज्ञानरहित, अगृहीग्राही एवं यथार्थ होना चाहिए। अर्थात जिस ज्ञान को उत्पन्न करने वाली कारण सामग्री में कोई दोष न हो (कारण दोष रहित), जो ज्ञान किसी अन्य परवर्ती ज्ञान द्वारा बाधित न (बाधक ज्ञान रहित), जिस ज्ञान में पूर्व में अज्ञात किसी वस्तु का ज्ञान हो (अगृहीतग्राहि अनधिगत) हो, वह प्रमा है। तथा उसके करण को प्रमाण कहते है। यहाँ उल्लेखनीय है कि मीमांसा दर्शन स्मृति की प्रमा नहीं स्वीकार करता क्योंकि वह अज्ञात पदार्थ का ज्ञान नहीं है। इसके साथ ही भ्रम एवं संशय असत्य होने के कारण प्रमा के अन्तर्गत नहीं आते। न्याय दर्शन ने भी संशय, विपर्मय को अप्रमा माना है तथा स्मृति को उसकी संस्कारजन्यता के कारण प्रमा के अन्तर्गत नहीं रखा है।

प्रमाण की मीमांसा के पूर्व प्रमाता या आत्मा का उल्लेख आवश्यक है क्योंकि प्रमा का मूल सम्बन्ध प्रमाता से है। प्रभाकर एवं कुमारिल दोनों ने आत्मा को नित्य एवं विभु द्रव्य माना है जो ज्ञान का आश्रय, आधार या अधिष्ठान है। आत्मा ही ज्ञाता है, कर्मो का कर्त्ता है एवं कर्मफल का भोक्ता है। आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से भिन्न है। ज्ञान आत्मा का स्वरुप नहीं है वरन् आत्मा ज्ञान नामक गुण का आश्रय या आधारभूत द्रव्य है। इस प्रकार मीमांसा में भी न्याय–वैशेषिक दर्शन की भॉति ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक धर्म माना गया है। मोक्ष की अवस्था में जब आत्मा का शरीरेन्द्रियादि से सम्बन्ध समाप्त हो जाता है तो आत्मा में ज्ञान रहता है, न सुख और न दुःख।

आचार्य कुमारिल ने ज्ञान को आत्मा की क्रिया या परिणाम माना है। कुमारिल के अनुसार आत्मा द्रव्यरुप भी है एवं गुण–कर्म रुप भी है। द्रव्य के रुप में आत्मा नित्य, विभु एवं अभेद रुप सत्ता है जबकि गुण–कर्म के रुप में आत्मा अनित्य एवं भेद रुप सत्ता है। आत्मा ज्ञानशक्ति स्वभाव होता है। कुमारिल कहते हैं कि मोक्षावस्था मे आत्मा के शरीरेन्द्रिय सम्बन्ध विलय के कारण आत्मा में भले ही ज्ञान, सुख, दुःख आदि न रहे पर आत्मा में ज्ञानशक्ति स्वभाव बना रहता है।

आत्मा एवं ज्ञानविषयक मत के सन्दर्भ में प्रभाकर एवं कुमारिल दोनों में मतभेद की स्थिति है। प्रभाकर के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाशक एवं अर्थप्रकाशक है। चूँकि ज्ञान आत्मा का आगन्तुक धर्म है एवं जब आत्मा का ज्ञेय पदार्थो से सम्पर्क होता तब आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान अर्थप्रकाशक है, ज्ञान का कार्य ज्ञेय पदार्थो को प्रकाशित करना है। जब ज्ञान किसी विषय के प्रकाशन के साथ ही स्वप्रकाश आत्मा भी प्रकाशित होती है। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान में ज्ञान, विषय एवं आत्मा की त्रिपुटी का प्रकाशन होता है। अतः जिस प्रकार दीपक का प्रकाश

सम्मुख उपस्थित पदार्थो को, स्वंय को एवं अपने आश्रय के रुप में दीपक को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार ज्ञान भी ज्ञेय को, स्वंय को एवं ज्ञाता को प्रकाशित करता है परन्तु इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि ज्ञान की प्रक्रिया में ज्ञान स्वंय को ज्ञान के रुप में ही प्रकाशित होता है। एक तरफ प्रभाकर मिश्र जहाँ ज्ञान को स्वप्रकाशक एवं अर्धप्रकाशक स्वीकार करते हैं वही न्याय दर्शन में ज्ञान को केवल अर्थप्रकाशक ही माना जाता है (अर्ध प्रकाशो बुद्धिः)।

आचार्य कुमारिल का ज्ञानमीमांसासीय–सिद्धान्त कहता है कि ज्ञान केवल अर्धप्रकाशक होता है अर्थात ज्ञान द्वारा केवल विषय का प्रकाशन होता है। यह मत न्याय–वैशेषिक मत के समान है। कुमारिल कहते हैं कि ज्ञान न तो स्वप्रकाशक होता है और न आत्मा ही प्रकाशित करता है। ज्ञान कार्य केवल विषय या अर्थ का ज्ञान प्रदान करना है। यहाँ पर एक अत्यन्त रोचक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि ज्ञान केवल विषय का ज्ञान प्रदान करता है तो फिर ज्ञान का ज्ञान एवं ज्ञाता 'आत्मा' का ज्ञान कैसे होता है? कुमारिल नैयायिकों के समान आत्मा के ज्ञान को अनुव्यवसायात्मक मानते हैं। उदाहरणार्थ किसी 'घट' का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर 'यह घट है' इस प्रकार का 'व्यवसायात्मक' ज्ञान होता है। इसके पश्चात इस 'घट–ज्ञान' का जो ज्ञान होता है वह अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहलाता है अर्थात् 'मै घट को जानता हूँ' यह अनुव्यवसायात्मक ज्ञान है– जिसमें आत्मा का ज्ञान होता है। 'मै' अर्थात् आत्मा का प्रकाश इस अनुव्यवसायात्मक ज्ञान में होता है।

यहाँ पर आचार्य कुमारिल का नैयायिकों से किंचित मतभेद है। नैयायिक मानते हैं कि अनुव्यवसाय में 'आत्मा' (ज्ञान का विषय बनकर प्रकाशित होता है जबकि कुमारिल मानते है अनुव्यवासायात्मक ज्ञान में आत्मा स्वयं अपना विषय बनकर प्रकाशित होता है। एक रुप में कह सकते हैं कि नैयायिक जहाँ आत्मा के ज्ञान को विषय–रुप में मानते हैं, वहीं कुमारिल आत्मा को 'अहंप्रत्ययवे।' मानते हैं।

पुनः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कुमारिल के अनुसार आत्मा का ज्ञान तो अनुव्यवसाय में होता है परन्तु ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है? नैयायिकों के विपरीत कुमारिल कहते हैं कि अनुव्यवसाय में सिर्फ आत्मा का ज्ञान होता है, विपरीत कुमारिल कहते हैं कि अनुव्यवसाय में सिर्फ आत्मा का ज्ञान होता है, ज्ञान का नही तो फिर कुमारिल के अनुसार ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है? कुमारिल कहते हैं कि ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता वरन् उसका अनुमान होता है। पुनः प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता तो अनुमान किस आधार पर होता है? कुमारिल का मानना है कि किसी विषय के सम्पर्क से जब आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है तो उस विषय में 'ज्ञातता' नामक धर्म उत्पन्न होता है। इसी 'ज्ञातता' को हेतु मानकर हम ज्ञान का अनुमान करते हैं। इस प्रकार कुमारिल के अनुसार ज्ञान अनुमान द्वारा ज्ञेय है। यही कुमारिल का 'ज्ञाततावाद' है।

'प्रमा करणं प्रमाणम्' अर्थात प्रमा के करण या साधन को प्रमाण कहते हैं। जैमिनी ने मीमांसा–सूत्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तीन प्रमाणों का उल्लेख किया है। प्रभाकर ने 'उपमान' एवं 'अर्थापत्ति' को जोड़कर पाँच प्रमाणों को स्वीकार किया है। कुमारिल 'अनुपलब्धि' को प्रमाण मानकर कुल छः प्रमाण मानते हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि वेदान्त भी इन्हीं छः प्रमाणों को मानता है हालांकि उसके प्रमाण की व्याख्या कुछ भिन्न है।

3.2 प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष दो शब्दों से मिलकर बना है— प्रति+अक्ष। अर्थात् प्रति विषयम् प्रति गतम् अक्षम् तत् प्रत्यक्षम् (जो इन्द्रियों के साक्षात् सम्पर्क से उत्पन्न हो)। प्रत्यक्ष वस्तुतः इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न साक्षात् ज्ञान है। प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय, अर्थ, मन एवं आत्मा का होना आवश्यक है। इन्द्रियाँ पंचविश हैं। यह अपने—अपने विषय सम्पर्क से पंचविश इन्द्रिय प्रत्यक्ष उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त मानस प्रत्यक्ष भी होता है जिसमें मन की सुखदुःखात्मक अवस्था का ज्ञान होता है।

इस प्रकार 'साक्षात् प्रतीति' को ही प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण स्वीकार किया जाता है। प्रभाकर ने प्रत्यक्ष की परिभाषा दी है।— साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षम् अर्थात प्रत्यक्ष साक्षात् प्रतीति है। किसी विषय का साक्षात् ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहलाता है। विषय का साक्षात् सम्पर्क इन्द्रिय के माध्यम से होता है या फिर मन के माध्यम से। इसलिए लौकि प्रत्यक्ष को दो भागों में विभाजित किया जाता है— प्रथम वाह्य प्रत्यक्ष एवं द्वितीय मानस प्रत्यक्ष। वाह्य प्रत्यक्ष में त्रिविध सन्निकर्ष अनिवार्य है— आत्मा का मन से सन्निकर्ष, मन का ज्ञानेन्द्रियों से सन्निकर्ष तथा ज्ञानेन्द्रियों का वाह्य पदार्थ से सन्निकर्ष। तथा मानस प्रत्यक्ष में द्विविध सन्निकर्ष होता है— आत्मा का मन से सन्निकर्ष तथा मन का मनोभावों से सन्निकर्ष। मीमांसा की प्रत्यक्ष की अवधारणा प्रायः न्याय के समान ही है। इनमें कुछ बातों को लेकर मतभेद है।

प्रथमतः न्याय के समान मीमांसा भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष एवं सविकल्पक प्रत्यक्ष की अवधारणा को स्वीकार करते हैं। निर्विकल्पावस्था पूर्ववर्ती होती है तथा सविकल्पावास्था उत्तरवर्ती। किसी वस्तु का सर्वप्रथम इन्द्रिय से सन्निकर्ष होने पर जब हमें मात्र सत्ता का अवबोध होता है तो वह अवस्था निर्विकल्पक अवस्था कहलाती है। बौद्ध दर्शन में इसे ही वास्तविक प्रत्यक्ष मानकर इन्हें 'स्वलक्षण' के रुप में मान्यता दी गयी है। परन्तु न्याय—दर्शन में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मात्र एक सैद्धान्तिक प्राक्कल्पना जो सविकल्पक प्रत्यक्ष की व्याख्य के लिए आवश्यक है। न्याय के लिए निर्विकल्प अवस्था की कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं है। परन्तु मीमांसा दर्शन के अनुसार निर्विकल्प प्रत्यक्ष भी महत्वपूर्ण है तथा उसकी व्यावहारिक उपयोगिता है। बच्चों की, पशुओं की, गूंगों की तथा मन्दबुद्धि वाले वयस्कों के प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक ही माना जाता है। इसके अतिरिक्त सामान्य व्यक्ति भी जल्दबाजी में या अस्थिर मनः अवस्था में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के आधार पर ही कार्यशील होता है। अतः निर्विकल्पक अवस्था में भी सफल प्रवृत्ति सामर्थ्य होता है और वह भी ज्ञान का भेद है।

एक अन्य अवधारणात्मक अन्तर न्याय एवं मीमांसा दर्शन में यह है कि जहाँ न्याय दर्शन में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष छः प्रकार का माना गया है वहीं मीमांसा दर्शन में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तीन ही प्रकार का माना गया है। न्याय दर्शन ने संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय ,समवेत समवाय एवं विशेषण —विशेष्यभाव ये षड्विध सन्निकर्ष माने है। किसी इन्द्रिय से विषय का सन्निकर्ष संयोग सन्निकर्ष कहा जाता है, जैसे चक्षु का घट के साथ सन्निकर्ष संयोग सन्निकर्ष है, जब सन्निकर्ष हेतु संयोग एवं समवाय दोनों की आवश्यकता होती है तो उसे 'संयुक्त समवाय' सन्निकर्ष कहते हैं। जैसे घट के रंग के ज्ञान हेतु संयुक्त समवाय सन्निकर्ष की आवश्यकता होती है। पहले चक्षु का घट से संयोग होता है तथा रंग (गुण) का घट से समवाय सम्बन्ध रहता है, अतः घट के रंग का ज्ञान संयुक्त समवाय सन्निकर्ष से होता है। इसके पश्चात् घट की लालिमा

के ज्ञान के लिए संयुक्त समवेत समवय की आवश्यकता होती है। शब्द के ज्ञान हेतु समवाय एवं शब्दत्व के ज्ञान हेतु समवेत समवायु तथा अभाव के ज्ञान लिए न्याय दर्शन विशेषण–विशेष्य सन्निकर्ष मानता है। परन्तु मीमांसा दर्शन संयोग, संयुक्त–तादात्मय एवं संयुक्त–तादात्म्य–तादात्म्य सन्निकर्ष स्वीकार करता है। मीमांसा दर्शन न्याय के 'समवाय' को अस्वीाकार करता है। क्योंकि समवाय आन्तरिक सम्बन्ध न होकर वाह्य सम्बन्ध है तथा साध, गुण, कर्म एवं सामन्य का द्रव्य के साथ 'तादात्म्य सम्बन्ध' होता है न कि समवाय सम्बन्ध। पुनः, मीमांसा दर्शन में यह माना गया है कि श्रोतोत्रेन्द्रिय का शब्द के साथ संयोग सन्निकर्ष होता है। अतः शब्द के ज्ञान के लिए 'समवाय सन्निकर्ष' की आवश्यकता नहीं पड़ती है। पुनः शब्दत्व के लिए 'संयुक्त तादात्म्य' सन्निकर्ष आवश्यक है न कि 'समवेत समवाय'। 'अभाव' के ज्ञान के लिए मीमांसा में अनुपलब्धि (कुमारिल) या 'अधिकरणरुपता' (प्रभाकर) को स्वीकार किया गया है, अतः विशेषण–विशेष्य भाव सन्निकर्ष अनावश्यक है।

3.3 अनुमान

अनुमान दो शब्दों से मिलकर बना है– अनु+मान। 'अनु' का अर्थ यहाँ 'पीछे' होता है। यह एक ज्ञान के बाद उसके आधार पर प्राप्त होने वाला ज्ञान है। जैसे 'पर्वत' में धूम के ज्ञान से पर्वत में अग्नि का ज्ञान अनुमान है। 'धूम' के ज्ञान के आधार पर्वत में अग्नि का अनुमान होता है। भारतीय दर्शन में चार्वाक को छोड़कर सभी दर्शन अनुमान को प्रमाण अवश्य स्वीकार करतें हैं।

वस्तुतः अनुमान के द्वारा अतीत, अनगित, समीप और दूरस्थ एवं सूक्ष्म पदार्थो का ज्ञान हो जाता है जिनका प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान संभव नही है। अतः प्रत्यक्ष एक सीमित ज्ञान है जबकि अनुमान का क्षेत्र काफी विस्तृत है। अगर ध्यानपूर्वक मनन किया जाए तो अनुमान के बिना लोक व्यवहार, पारलौकि व्यवहार एवं कर्मफल संबंध उत्पन्न नही हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति जब कोई कार्य करने की ओर प्रवृत्त होता है तो वह उस कर्म के परिणामों का प्रारम्भ में ही अनुमान करता है। यदि अनुमान को प्रमाण न माना जा, तो यह संभव ही नहीं है किसी कर्म का संबंध उसके फल से जोड़ जाए। वर्तमान युग की समाज व्यवस्था, राजव्यवस्था, अर्थव्यवस्था इन सबके केन्द्र में अनुमान प्रमाण ही है। आर्थिक नियोजन (Economic Planning) में योजनाओं का धनराशियों का एवं परिणामों का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण हमारे समस्त लोक व्यवहार एवं परलोक व्यवहार का मूल तत्व है।

पुनः अनुमिति प्रभा का करण याय असाधारणय कारण अनुमान प्रमाण है। (अनुमिति करणं अनुमानं) हेतु या लिंग के आधार पर उस लिंग को धारण करने वाले लिंगी का ज्ञान अनुमान है। पर्वत पर दृष्ट धूम के ज्ञान से जब पर्वत पर अग्नि का ज्ञान होता है तो यह अनुमान है जो व्याप्ति –ज्ञान, पक्षधर्मता आदि के द्वारा उत्पन्न होने वाला परोक्ष ज्ञान है। इस प्रकार अनुमान को हम इस प्रकार भी परिभाषित कर सकते हैं कि यह हेतु को किसी देश काल में देखकर उसके साध्य का परोक्ष ज्ञान अनुमान या अनुमिति है।

अनुमान का अध्ययन करने से पूर्व हमें कुछ पारिभाषिक शब्दों से परिचित होना आवश्यक है–

हेतु– व्याप्ति के कारण किसी स्थान विशेष में साध्य की सत्ता को प्रामाणिक करने वाला साधन हेतु है। इसे लिंग भी कहा जाता हैं। यह वह साधन

है जो साध्य का ज्ञान कराता है। इसे व्याप्य भी कहा जाता है पाश्चात्य न्यायवाक्य में Middle Term इसे कहा जाता है।

साध्य– जिसे सिद्ध करना है वह साध्य है। इसे व्यापक भी कहा जाता है। पाश्चात्य न्याय वाक्य में Major Terra इसे कहा जाता है।

पक्ष– साध्य को जिसमें सिद्ध किया जाता है, वह पक्ष है। यह वह स्थल है जिसमें साध्यक की सत्ता सिद्ध की जाती है। पाश्चात्य न्याय–वाक्य में यह Minor Term कहलाता है। उदाहरण के लिए पर्वत में धूम को देखकर पर्वत में अग्नि का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान में 'धूम' हेतु 'अग्नि' साध्य एवं 'पर्वत' पक्ष है।

हेतु एवं साध्य के परस्पर नियत–साह्चर्य सम्बन्ध को व्याप्ति कहा जाता है। हेतु की पक्ष में स्थिति पक्षधर्मता कहलाती है। मीमांसकों ने व्याप्ति एवं पक्षधर्मता को अनुमान हेतु आवश्यक माना है। पक्ष में हेतु विद्यमान हो तथा हेतु साध्य के साथ नियत साहचर्य सम्बन्ध ज्ञात हो तो सफलतापूर्वक कोई अनुमान किया जा सकता है। जब हमें यह ज्ञात है कि पर्वत (पक्ष) में धूम (हेतु) एवं धूम (हेतु) का अग्नि (साध्य) के साथ नियतसाहचर्य सम्बन्ध है तो पर्वत में अग्नि का सफल अनुमान कर सकते हैं।

अनुमान को कई दृष्टियों से विभाजित किया गया है। प्रयोजन की दृष्टि से अनुमान को दो प्रकारों में विभाजित करते हैं– 1– स्वार्थानुमान एवं 2– परार्थानुमान। स्वार्थानुामन स्वयं के लिए होता है। अतः यह मनुष्य के अन्तःकरण में होता है एवं एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। उपर्युक्त दोनों अनुमानों में अन्तर यह है कि स्वार्थानुमान स्वयं अपने लिए होता है अतः इसमें पंचवाक्य की आवश्यकता नही होती परन्तु परार्थानुमान दूसरों को अनुमान–प्रक्रिया को समझाने के लिए होता है। अतः इसमें एक क्रमबद्ध एवं तार्किक स्वरुप में प्रस्तुत करना होता है। यह रुप 'पंचावयवाक्य' कहलाता है। ये पंचवाक्य निम्न है–

1. **प्रतिज्ञावाक्य** – पक्ष का साध्य के साथ सम्बन्ध बनाना प्रतिज्ञा हैं। प्रारम्भ में ही इस वाक्य की अभिव्यक्ति की जाती है। जैसे– पर्वत में अग्नि है।

2. **हेतु वाक्य** – व्याप्ति के आधार पर साध्य की सत्ता प्रमाणिक करने वाला तत्व हेतु है। इस वाक्य में हेतु का निर्देश किया जाता है जिसका साध्य के साथ नियत साह्चर्य या अबिनाभाव संबंध होता है। हेतु में पंच गुण होने चाहिए – पक्षधर्मता (हेतु की पक्ष में सत्ता), सपक्षसत्व (हेतु की सपक्ष में सत्ता), विपक्षाअसत्व (हेतु की विपक्ष में असत्ता), सत्प्रतिपक्षत्व (साध्य से विपरीत वस्तु की सिद्धि के लिए अन्य हेतु का अभाव), अबाधित्व (हेतु का प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा बाधित न होना)। यदि हेतु में ये गुण न हो तो वह हेतु न रहकर हेत्वाभाव हो जाता है। जैसे क्योंकि वहाँ धूम है'

3. **उदाहरण वाक्य** – इस वाक्य में हेतु और साध्य के व्याप्ति संबंध का उदाहरण सहित उल्लेख किया जाता है। जैसे– जहाँ– जहाँ धूम है वहाँ–वहाँ अग्नि है। जैसे– रसोई घर।

4. **उपनय वाक्य** – इसमें व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान होता है। इस वाक्य द्वारा यह स्पष्ट होता है कि हेतु पक्ष में स्थित है जिसका साध्य के साथ नियतसाह्यर्च है। जैसे– पर्वत धूमवान है जिसका अग्निवान के साथ नियत साह्चर्य है।

5. **निगमन वाक्य** – इस वाक्य में प्रतिज्ञा की सिद्धि होती है की हमारा उद्‌देश्य होता है। जैसे– अतः पर्वत में अग्नि है।

शाबर स्वामी, कुमारिल एवं पार्थ सारथि मिश्र आदि ने अनुमान का लक्षण अपनी टिकाओं में दिया है। पार्धसारथि मिश्र कहते हैं कि ''जिस तरह के पदार्थ का जिस प्रकार के पदार्थ के साथ साक्षात् या परम्परा सम्बन्ध दृष्टान्त रुपी धर्मी (सपक्ष) में, जिस व्यक्ति को नियमतः ज्ञात है, उस पदार्थ का साध्य धर्मी (पक्ष) में जिस व्यक्ति ने ज्ञात (ज्ञान) किया है। उसको ही उस प्रकार के सम्बन्धी में प्रबल प्रमाण द्वारा तद्‌वत्ता और तद्‌वत्ताभाव से अपरिच्छिन्न (रहित) वस्तु में जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहते हैं। पदार्थ सारथि मिश्र की यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक है। इसमें कहा गया है कि जिस व्यक्ति ने जिन दो पदार्थो के बीच किसी स्थल विशेष में साहचर्य सम्बन्ध गृहीत किया है, उसे ही अनुमान कहते हैं।

मीमासकों एवं नैयायिकों का अनुमान का विवेचन समान है। परन्तु कुछ अन्तर है। मीमांसकों एवं नैयामिनों दोनो ने अनुमान का स्वार्धानुमान एवं परार्धानुमान में विभाजन किया है परन्तु स्वार्धानुमान एवं परार्धानुमान वाक्य की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि या स्वयं के लिए है एवं वाक्य की आवश्यकता नहीं ही होती है परन्तु जहाँ न्याय दर्शन परार्धानुमान में पंचावयव वाक्य की आवश्यकता बताता है जो इस प्रकार हैं– 1– प्रतिज्ञा 2– हेतु 3– उदाहरण 4– उपनय 5– निगमन। परन्तु मीमांसा दर्शन के अनुसार प्रधानवाक्य एवं चतुर्थ वाक्य में भी साम्य है अतः परार्धानुमान में तीन ही वाक्य अनिवार्य हैं– प्रथम तीन वाक्य या अन्तिम तीन वाक्य। इस प्रकार मीमासक परार्धानुमान में तीन ही वाक्य आवश्यक मानते हैं; जबकि न्याय में पंचवाक्य आवश्यक है।

3.4 शब्द

कर्णेन्द्रिय द्वारा जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह शब्द गुण है जो सार्थक अभिव्यक्ति या संचार का न्यूनतम रुप होता है। शब्द को मीमांसा दर्शन ने भी प्रमाण माना है जो शब्द प्रभा का साधन है। शब्दों का समूह वाक्य कहलाता है एवं वाक्य ही विचारों के संचार का कार्य करते हैं। यही कारण है कि शब्द प्रमा को वाक्यार्थ बोध के रुप में जाना जाता है।

वाक्य से वाक्यार्थ–बोध होता है। इसलिए वाक्य के स्वरुप को समझना आवश्यक है। वाक्य पदों का समूह है और पद वर्णो का समूह है। पदो के समूह के बारे में यह कभी नही भूलना चाहिए कि उससे शब्द के मुख्य उद्‌देश्य अभिप्राय–संक्रमण (Communication of Ideas) की पूर्ति अनिवार्य है। वाक्यार्थ–बोध के लिए आवश्यक हेतु निम्न चार प्रकार के होते है–

1. अकांक्षा – अकांक्षा से तात्पर्य है कि वाक्य के पदों का संबंध इस प्रकार होना चाहिए कि वाक्य से कोई आकांक्षा व्यक्त हो। वाक्य के पदों में अन्वय होना चाहिए एवं पद एक दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध होने चाहिए कि उनसे कोई आकांक्षा व्यक्त हो।

2. योग्यता – पदों में अर्थ को अभिव्यक्त करने की योग्यता होनी चाहिए। वाक्य के पदो के द्वारा जिन वस्तुओं का बोध होता है। उनमें यदि कोई विरोध न हो तो इस विरोध के अभाव को योग्यता कहते हैं। यदि यह कहा जाए कि इन पदों को आग से सीचों तो यह वाक्य सार्थक नही है। इसमें योग्यता का अभाव है क्योंकि सिंचाई पानी से होती है, आग से नही।

योग्यता का अभाव इसलिए भी है क्योंकि आग एवं सींचवा में परस्पर विरोध है।

3. सन्निधि – 'सन्निधि' का तात्पर्य यहाँ है कि वाक्य के पदों का अविलम्ब से उच्चारण या पास–पास लेखन, जिससे वाक्य के अर्थ का समग्रता में बोध हो सके। इसे 'आसक्ति' भी कह सकते है। कोई वाक्य तभी कोई अर्थ सूचित करता है जब समय एवं स्थान की दृष्टि से उनमें निकटता हो। यदि किसी वाक्य के पदों का उच्चारण एक–एक घंटे के अन्तराल पर हो या उसका लेखन कई पृष्ठों के अन्तराल पर हो तो उससे कोई अर्थ बोध नही होता।

4. तात्पर्य – एक ही पद के अनेक अर्थ होते हैं। किसी पद का अर्थ उस विशिष्ट परिस्थिति में वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर है। जैसे 'सैन्धव' शब्द का अर्थ है 'सिन्ध प्रदेश का घोड़ा और नमक। यदि कोई भोजन करते वक्त यह बोले कि 'सैन्धव लाओ' तो उस समय वक्ता का अभिप्राय 'नमक' होता है। सामान्य मनुष्यों द्वारा प्रयुक्त शब्दों का तात्पर्य हम उस प्रसंग –विशेष को दृष्टि में रखकर करते हैं।

मीमांसा दर्शन मे शब्द प्रमाण अत्याधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वह शब्द प्रमाण के आधार पर ही वेदों की नित्यता एवं स्वतः प्रामाण्य का प्रतिपादन करता है। सामान्यतः शब्द की परिभाषा दी गई है– आप्तोपदेशः शब्दः अर्थात किसी आप्त पुरुष (विश्वसनीय व्यक्ति) के वाक्य शब्द प्रमाण है। किसी विश्वसनीय व्यक्ति के लिखित या मौखिक शब्दों से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह शब्द प्रमा है। किसी विषय के प्रामाणिक विद्वान द्वारा उस विषय के संबंध में उच्चरित वाक्य संशयरहित एवं प्रामाणिक होते हैं। परन्तु मीमांसक पौरूषेय आप्तवाक्यों को प्रमाण नहीं मानते; क्योंकि पौरूषेय वाक्यों में दोषों की संभावना रहती है। यहाँ उल्लेखनीय है कि न्याय दर्शन में शब्द प्रमाण दो प्रकार के माने गए हैं– 1– लौकिक शब्द 2– वैदिक शब्द। लौकिक शब्द किसी आप्त पुरुष के वाक्य है जबकि वेदों के रचयिता ईश्वर हैं। परन्तु मीमांसा दर्शन में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। मीमांसकों के अनुसार वेदों का कोई रचयिता नहीं है न जीव और न ही ईश्वर। वेदों की प्रामाणिकता का आधार ही उनकी अपौरुषेयता है। वेद किसी पुरुष की कृति नहीं है।

यहाँ एक तथ्य उल्लेखनीय है कि प्रभाकर केवल वेदों को ही प्रामाणिक मानते हैं तथा आप्त वाक्य (लौकिक शब्द) को अनुमान के अन्तर्गत मानते है। जबकि कुमारिल भट्ट लौकिक शब्द एवं वेद दोनों को प्रामाणिक मानते हैं परन्तु इतना होते हुए भी कुमारिल वेदों की प्रामाणिकता का आधार उनकी अपौरुषेयता को स्वीकार करते हैं।

मीमांसा दर्शन में वेद वाक्य दो प्रकार के माने गये हैं– 1– सिद्धार्थ वाक्य 2– विधायक वाक्य। सिद्धार्थ वाक्य हमें किसी सिद्ध अर्थ या सिद्ध पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कराता है। सिद्धार्थ वाक्य एक प्रकार से हमें सैद्धान्तिक ज्ञान देता है। विधायक वाक्य कर्मपरक आदेश हैं जो हमें किसी कर्म को करने या न करने का आदेश देते हैं। वस्तुतः मीमांसा दर्शन के अनुसार वेद क्रियात्मक वचन है और यही क्रियात्मक वचन ही धर्म है (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः) और धर्म ही मीमांसा दर्शन का प्रमुख जिज्ञास्य विषय है (अथातो धर्म जिज्ञासा)। मीमांसा के अनुसार वेद विहित कर्म ही धर्म है तथा वेदों में जो निषिद्ध है वह अधर्म है। कुमारिल के अनुसार वेदवाक्य कर्मपरक आदेश हैं। वेद हमें कर्मो कर्त्तव्यों को करने का आदेश देतें हैं।

यही 'अभिहितान्वयवाद' है। प्रभाकर के अनुसार वेद का कर्मपरक भाग मुख्य है; विधायक वाक्य ही वेद का मुख्य भाग है तथा सिद्धार्थ वाक्य गौण है तथा सिद्धार्थ वाक्य कर्म का सहायक बनकर ही प्रामाणिक हो सकता है। प्रभाकर का यह मत 'अन्विताभिधानवाद' कहलाता है। मीमांसा–सूत्रकार ने भी स्पष्ट कहा है कि यदि सिद्धार्थ वाक्य, विधायक वाक्य का सहायक नहीं है तो वह निरर्थक है।

मीमांसा दर्शन वेदों को स्वतः प्रामाणिक स्वीकार करती है। वैदिक सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक सत्य है। वेद किसी पुरुष की कृति नहीं है। इनका कोई कर्त्ता नहीं है। वैदिक ऋषि केवल मंत्रद्रष्टा ही हैं, वे उनके कर्त्ता नहीं हैं। उनका तर्क है कि यदि ईश्वर शरीर है तो शरीर के दोषों से युक्त होने के कारण वेद प्रामाणिक वचन नहीं हो सकते तथा यदि ईश्वर अशरीरी है तो वह वेदों की रचना करने में असमर्थ होगा। अतः वेद किसी की (ईश्वर या जीव) कृति नहीं है। अकर्तृत्व के कारण वेद स्वतः प्रामाणिक हैं।

पुनः वेदों की नित्यता को प्रामाणिक करने के लिए मीमांसकों ने 'शब्दनित्यत्व' का प्रतिपादन किया। मीमांसा दर्शन में वैदिक शब्दों को नित्य माना गया है। शब्दों नित्यता एवं अक्षुण्णता को सिद्ध करने के लिए वर्णो को नित्य निरवयव एवं अपरिणामी स्वीकार किया गया है। वर्ण नित्य एवं अपरिणामी होते हैं। परन्तु इनका लिखित रुप या उच्चरित ध्वनि अनित्य, क्षुण्ण एवं परिणामी होतें हैं क्योकि लेखन या उच्चारण में शारीरिक दोष होता है। चूँकि वर्णो के मेल से शब्द बनते हैं। अतः नित्य वर्णो से निर्मित होने के कारण शब्द भी नित्य होते हैं। पुनः शब्दों के 'सामान्य होने के कारण शब्दो का अर्थ भी नित्य होता है।

परन्तु प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि शब्द और अर्थ नित्य हों तो सभी साहित्यिक ग्रन्थ स्वतः प्रामाणित हो जाएगें। मीमांसक कहते हैं कि नहीं। अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में शब्दों का क्रम रचयिता ही इच्छा पर निर्भर होता है, अतः साहित्यिक ग्रंथों में दोषो की संभावना रहती है। परन्तु वेदों का कोई रचयिता न होने के कारण वेदों में शब्दों एवं वाक्यों का क्रम स्वतः निर्धारित होता है। अतः वेद स्वतः प्रामा.िक ग्रन्थ हैं।

वेद की विषय वस्तु की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गीकरण प्राप्त होता है– विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद। विधिपरक आदेश पुरूष को विशेष फलों की आशा से प्रयोजन की दृष्टि से कर्म करने हेतु प्रेरित करता है– जैसे 'स्वर्ग की कामना से यज्ञ करना (र्स्वगकामों यजेत्)। मन्त्र यज्ञ कर्त्ता को यज्ञ से सम्बिन्धित विभिन्न विषयों का स्मरण कराने में उपयोगी सिद्ध होते हैं। नामधेय में उन फलों का निर्देश होता है जो यज्ञोपरान्त प्राप्त किए जाते हैं। निषेध सभी प्रकार के अनर्थो की निवृत्ति के लिए की जाने वाली विधियाँ हैं। अर्थवाद वे वाक्य हैं जो अदिष्ट कर्मो की प्रशंसा करते हैं और निषिद्ध कर्मो की निन्दा करते हैं। परन्तु मीमांसा दर्शन के अनुसार इसमें विधिवाक्य ही महत्वपूर्ण है। अर्थवाद, विधिवाद का पूरक बनकर ही सार्थक है।

वेदों के संदर्भ में नैयायिकों एवं मीमांसकों में किंचित मतभेद भी है। यद्यपि नैयायिक एवं मीमांसक दोनों वेद प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं एवं आस्तिक दर्शन हैं परन्तु मीमांसक ईश्वर हो नहीं मानते जबकि नैयायिक ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और वेद को ईश्वर की कृति मानते हैं। परन्तु वेदों के 'अकृर्तत्व' का प्रतिपादन करते हुए वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। मीमासंक ईश्वर –सृष्ट वेद की अवधारणा का खण्डन करते हें और कि यदि ईश्वर शरीर है तो वह शरीर के

दोषों से युक्त होने के कारण उसकी वाणी में कोई प्रामाणिक नही होगी एवं यदि ईश्वर अशरीर है तो वह वागिन्द्री के अभाव में वेदों का उच्चारण नही कर सकता।

3.5 उपमान

मीमांसा दर्शन भी न्याय के समान उपमान को एक स्वतंत्र प्रमाण मानता है यद्यपि उपमान प्रमाण के संदर्भ में मीमांसा एवं न्याय के मध्य मतभेद है। उपमान का सामान्य अर्थ समानता या सादृश्य है। दो वस्तुओ के मध्य सादृश्य के कारण जब हमें किसी नई वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है तो यह ज्ञान 'उपमिति प्रमा' कहलाता है तथा इसके साधन–रुप 'सादृश्यता' को उपमान प्रमाण कहते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी व्यक्ति ने गाय देखा हो परन्तु नीलगाय न देखा हो और वह व्यक्ति वन–प्रदेश में जाकर नीलगाय को देखता है तो उसे त्वरित रुप में गाय का स्मरण होता है कि गाय इस दृश्यमान पशु के समान है, और इस सादृश्यता के कारण हमें 'नीलगाय' नामक एक नई वस्तु का ज्ञान होता है, यही ज्ञान उपमिति है तथा 'सादृश्यता' जिसके आधार पर यह ज्ञान होता है वह उपमान प्रमाण है। 'सादृश्य' उपमिति का प्राण है। जिस प्रकार 'व्याप्ति'; अनुमिति का प्राण है उसी प्रकार 'सादृश्य' उपमिति का प्राण–तत्व है।

उपमान की मीमांसाकृत व्याख्या, न्यायमत से भिन्न है। न्याय दर्शन के अनुसार कोई व्यक्ति जिसने नीलगाय ने देखा हो किंतु यह जानता हो कि नीलगाय गाय के समान होती है, वन में जाकर गो–सदृश पशु को देखता है और उसे नीलगाय का ज्ञान होता है तो उसे यह उपमान प्रमाण के द्वारा होता है। परन्तु न्याय के उपमान विषयक मत को मीमांसक खण्डन करते हैं। मीमांसक कहते हैं कि न्याय द्वारा व्याख्यायित उपमान वस्तुतः प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द की मिश्रित प्रक्रिया है। वन में पहुंचकर हमें एक अज्ञात पशु का प्रत्यक्ष होता है। तत्पश्चात् 'नीलगाय गाय के समान होती है' इस आप्त वाक्य का स्मरण होता है तथा सादृश्य के आधार पर हम 'नीलगाय' का अनुमान करते हैं। अतः न्याय दर्शन का उपमान प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द एवं स्मृति की मिश्रित प्रक्रिया का परिणाम है अतः मीमांसा के अनुसार न्याय दर्शन में उपमान स्वतंत्र प्रमाण नहीं है।

अतः मीमांसा के अनुसार उपमान का स्वरुप स्पष्ट करेंगे। मीमांसकों के अनुसार उपमान में किसी आप्तपुरुष यह बताना आवश्यक नहीं है कि नीलगाय के समान होती है। कोई व्यक्ति जब वन में जाता है और उसे नीलगाय का प्रत्यक्ष होता है तो उसे गो–सादृश्य की स्मृति होती है और वह सोचता है कि स्मृत गो (गाय) इस दृश्यमान पशु के समान है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति को नीलगाय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तथा गाय का स्मरण होता है किन्तु गाय का नीलगाय से सादृश्य का ज्ञान स्वतंत्र उपमान प्रमाण द्वारा ही होता है। उपमान प्रत्यक्ष से भिन्न है क्योंकि गाय का प्रत्यक्ष न होकर स्मृतिज्ञान होता है। उपमान अनुमान से भी भिन्न है क्योंकि इसमें किसी प्रकार का व्याप्ति ज्ञान नहीं है। पुनः उपमान स्मृति से भी भिन्न है क्योंकि उपमान का मूल आधार स्मृत वस्तु (गाय) का प्रत्यक्षगोचर वस्तु (नीलगाय) से सादृश्य का ज्ञान है, जो स्मृति नहीं है बल्कि उससे कुछ अधिक है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन में उपमान को एक स्वतंत्र प्रमाण माना गया है।

3.6 अर्धापति

प्रभाकर ने सर्वप्रथम अर्थापति को एक स्वतंत्र प्रमाण माना है। दो परस्पर विरुद्ध या असंगत तथ्यों में संगति स्थापित करने के लिए एक अन्य अर्थ की कल्पना कर ली जाती है जिसे अर्थापति कहते है। किसी दृष्ट विषय या श्रुत विषय में उपस्थित दो विरोधी तथ्यों के विरोधाभास को दूर करने के लिए एक तीसरे अर्थ की उपपत्ति की जाती है, जिसे अर्थापति कहते हैं। उदाहरण के लिए, 'जीवित देवदत्त घर में नहीं है', इस वाक्य में दो विरोधाभास है– प्रथम देवदत्त के जीवित होने में और उसका घर में न होने में और इस विरोधाभास का निराकरण 'देवदत्त के घर के बाहर होने' की अर्थ–कल्पना से हो जाता है। यदि देवदत्त जीवित है और घर में नहीं है तो इसका सीधा–सा तात्पर्य है कि वह घर से कहीं बाहर है क्योंकि यदि देवदत्त मृत नहीं है तो घर उसकी अनुपस्थिति का मतलब सिर्फ यही है कि वह घर से बाहर कहीं उपस्थित है। इसी प्रकार 'मोटा देवदत्त दिन में नही खाता' इस वाक्य में देवदत्त के 'मोटा होने' एवं 'दिन में न खाने में जो विरोधाभास प्रतीत हो रहा है। उसका निराकरण देवदत्त के रात में खाने की अर्थ–कल्पना से हो जाता है।

प्रभाकर एवं कुमारिल दोनों ने अर्थापति को एक स्वतंत्र प्रमाण माना है। अर्थापति में प्रभाकर के अनुसार दो विरुद्ध तथ्यों की सत्यता में सन्देह होता है जबकि कुमारिल के अनुसार अर्थापति की आवश्यकता दो तथ्यों की सत्यता में असंगति या विरोधाभास के कारण पड़ती है। इसी संशय या असंगति का निराकरण अर्धापति के द्वारा होती है।

मीमांसा दर्शन में अर्धापति को दो प्रकार का माना जाता है– प्रथम दृष्टार्थापति एवं द्वितीय श्रुन्तार्थापति।

1. **दृष्टार्थापति–** दृष्टार्थापति के अन्तर्गत किसी देखी हुई घटना या तथ्य की व्याख्या हेतु किसी अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है। उदाहरणार्थ 'मोटा देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता' इस वाक्य में देवदत्त का स्थूल काय होना दृष्ट विषय है, अतः 'देवदत्त के रात्रि में भोजन करने की अर्थ–कल्पना दृष्टार्थापति का उदाहरण ळें

2. **श्रुन्तार्थापति–** इसमें किसी श्रुन्त विषय की व्याख्या हेतु अर्थान्तर की कल्पना कर ली जाती है। उदाहरणार्थ–'जीवित देवदत्त घर में नहीं है। इस श्रुत विषय में उपस्थित विरोधाभास को दूर करने के लिए देवदत्त के घर से बाहर होने की अर्ध–कल्पना कर ली जानी है। चूँकि यह अर्थापन्ति श्रुत विषय के सन्दर्भ में है, अतः यह श्रुतार्थापन्ति है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि न्याय–दार्शनिक अर्थापति का अन्तर्भाव अनुमान में ही कर देते हैं जिसे नियोजक या विधायक न्यायवाक्य के रुप में व्यक्त किया जा सकता है। इसका वियोजक तर्क–रुप इस प्रकार है–

मोटा देवदत्त या तो दिन में खाता है या रात में खाता है

मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता।

अतः मोटा देवदत्त रात में खाता है।

इसका विधायक न्यायवाक्य–रुप इस प्रकार है– सभी मोटे व्यक्ति जो दिन में नहीं खाते, वे व्यक्ति है, जो रात में खाते है देवदत्त मोटा व्यक्ति जो दिन में नही खाता, अतः देवदत्त मोटा व्यक्ति है जो रात में खाता है।

परन्तु मीमासक अर्धापति को स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं जिसका अन्तर्भाव अनुमान में नही किया जा सकता। प्रथमतः अर्धापति में दो विरुद्ध कोटिक तथ्यों में संदेह या विरोधाभास होता है किन्तु अनुमान में इस प्रकार का कोई विरोधाभास नहीं होता अतः अर्थापति अनुमान भिन्न है। पुनः अर्थापन्ति में कोई हेतु या लिंग नहीं होता और इसलिए भी अर्धापति अनुमान से भिन्न है।

3.7 अनुपलब्धि

कुमारिल ने 'अनुपलब्धि' को छठां प्रमाण माना है। कालान्तर में वेदान्त दर्शन में भी इसे प्रमाण के रुप में स्वीकार किया गया। किसी वस्तु के अभाव अर्थात् नहीं होने का ज्ञान 'अनुपलब्धि' नामक प्रमाण द्वारा जाना जाता है। जहाँ पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रवृत्ति न हो, वहाँ पर किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि के द्वारा होता है। यहाँ उल्लेखनीय है कि न्याय दर्शन में छः भाव पदार्थो के साथ 'अभाव' नामक सातवॉ पदार्थ भी स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार आचार्य कुमारिल ने भी अपनी तत्वमीमांसा में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य जैसे भाव पदार्थो के साथ अभाव को भी पदार्थ माना है। इस संबंध में प्रभाकर की स्थिति कुछ भिन्न है। प्रभाकर मिश्र अभाव को स्वतंत्र पदार्थ न मानकर उसे अधिकरण स्वरुप ही मानते हैं। अधिकरण का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है, अतः अभाव के ज्ञान हेतु अनुपलब्धि जैसी किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

न्याय दर्शन 'अभाव' को स्वतंत्र पदार्थ मानते हुए भी उसके ज्ञान के लिए अनुपलब्धि जैसी किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। नैयायिक कहते हैं कि यदि भाव पदार्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा होता है तो उस पदार्थ का अभाव भी प्रत्यक्ष द्वारा ही ज्ञेय होगा तथा यदि किसी पदार्थ के भाव का ज्ञान अनुमान होता है तो उस पदार्थ का अभाव भी अनुमान द्वारा ही ज्ञेय होगा। अतः विषयक ज्ञान के लिए किसी प्रकार इतर प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

कुमारिल भट्ट ने अभाव को स्वतंत्र पदार्थ माना है एवं उसके ज्ञान के लिए अनुपलब्धि नामक प्रमाण को स्वीकार किया है। उनके अभाव की प्रमिति (ज्ञान) हेतु अनुपलब्धि प्रमाण को स्वीकार करना अनिवार्य है। कुमारिल के अनुसार अनुपलब्धि मात्र से अभाव नहीं माना जाता। गहन अन्धकार मे वस्तु की अनुपलब्धि होने पर भी वस्तु का अभाव नहीं होता। जिस परिस्थिति में जिस वस्तु की उपलब्धि होनी चाहिए, उस परिस्थिति में उस वस्तु की उपलब्धि नहीं होने पर उसका अभाव माना जाता है तथा इसका ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है।

कुमारिल भट्ट ने न्याय दर्शन द्वारा अभाव के प्रत्यक्ष एवं अनुमान द्वारा ज्ञेय होने के मत का खण्डन किया है वे कहते हैं कि चूँकि अभाव से किसी इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं हो सकता, अतः अभाव प्रत्यक्षगम्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार अभाव का ज्ञान अनुमान द्वारा भी सम्भव नहीं है। अनुमान द्वारा अभाव का ज्ञान तभी हो सकता है जब उसका कोई हेतु हो तथा साध्य के साथ उसका व्याप्ति संबंध हो। परन्तु अभाव में किसी प्रकार का व्याप्ति सम्बन्ध भी नहीं है, अतः अभाव का अनुमान भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार ने ख.डन किया है। प्रभाकर कहते हैं कि 'भूतल पर घट नहीं है' में घटाभाव का ज्ञान नहीं है वरन् भूतल (अधिकरण)

का ज्ञान है। परन्तु उसका खण्डन करते हुए कुमारिल कहते हैं कि अभाव अधिकरण–मात्र नहीं है। घट का ज्ञान एवं घटाभाव का ज्ञान दोनों ही भूतल–मात्र के प्रत्यक्ष से भिन्न है। इस प्रकार अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि नामक स्वतंत्र प्रमाण से ही सम्भव है।

3.8 सारांश

मीमांसा दर्शन की ज्ञानमीमांसा में कुल छः प्रमाण स्वीकार किए गए है–प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्धापति, अनुपलब्धि। अद्वैत वेदान्त भी इन्ही छः प्रमाणों को स्वीकार करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान साक्षात् प्रतीति है। यह इन्द्रियों के द्वारा होता है। मीमांसा के इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तीन ही माना गया है–संयाग, संयुक्ततादात्म्य, संयुक्त तादात्म्य–तादात्म्य। अनुमान की प्रक्रिया भी न्याय के अनुमान के समान है। अनुमान हेतु द्वारा पक्ष में साध्य की सिद्धि का ज्ञान है। न्याय के पंचावत के स्थान पर इसमें तीन अवयव ही मान्य हैं– प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण या उदाहरण, उपनय, निगमन। शब्द को लौकिक एवं वैदिक दो रूपों में माना गया है, वैदिक शब्द को अपौरुषेय माना गया है। उपमान सादृश्य ज्ञान है। दो विरुद्ध तथ्यों के मध्य से किसी अर्थ की उत्पत्ति अर्धापति है। अभाव के ज्ञान के लिए कुमारिल ने अनुपलब्धि प्रमाण स्वीकार किया है।

3.9 उपयोगी पुस्तकें

1. Indian Philosphy vol I- (सर्वपल्ली राधाकृष्णन)
2. भारतीय दर्शनः आलोचना एवं अनुशीलन (चन्द्रधर शर्मा)
3. भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रुपरेखा (राममूर्ति पाठक)
4. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण (प्रो.– संगम लाल पाण्डेय)

बोध प्रश्न

1. आर्धपत्ति प्रमाण को स्पष्ट करें?
2. शब्द प्रमाण की व्याख्या करें।

****

इकाई–4

ख्यातिवाद

विषय–सूची

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 अख्यातिवाद
4.3 विपरीतख्यातिवाद
4.4 अन्यथाख्याति
4.5 रामानुज का यथार्थख्याति
4.6 जैन दर्शन का सद्सत्ख्यातिवाद
4.7 बौद्ध दर्शन का विज्ञानख्याति एवं शून्यता
4.8 अद्वैत वेदान्त का अनिर्वचनीय ख्याति
4.9 सारांश
4.10 उपयोगी पुस्तकें
4.11 बोध प्रश्न
4.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

भारतीय दर्शन की ज्ञान मीमांसा में सत्य के सिद्धान्तों के साथ–साथ भ्रम के सिद्धान्तों का भी विवेचन किया गया है। भ्रम के सिद्धान्त को भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद कहा गया है। मीमांसा दर्शन में प्रभाकर के भ्रम–सिद्धान्त को अख्यातिवाद तथा कुमारिल के भ्रम के विवेचन को विपरीत ख्याति कहते हैं। प्रस्तुत इकाई में प्रभाकर एवं कुमारिल के भ्रम–सिद्धान्तों को स्पष्ट किया जाएगा तथा साथ ही इनके तुलनार्थ अन्य दर्शनों के भ्रम–सिद्धान्तों का भी निरूपण किया जाएगा।

4.1 प्रस्तावना

मीमांसा दर्शन ज्ञान को स्वतः प्रकाश एवं स्वतः प्रमाण मानता है। परन्तु प्रश्न है ज्ञान यदि स्वतः प्रमाण है तो हमें अप्रामाणिक एवं अयथार्थ ज्ञान क्यों होता है? दैनिक जीवन में हमें रज्जु के स्थान पर सर्प एवं शक्ति के स्थान पर रजत का ज्ञान हमें होता है जो पश्चातवर्ती ज्ञान द्वारा अप्रामाणिक सिद्ध होता है। भ्रम का होना स्वतः प्रमाण ज्ञान–सिद्धान्त के प्रतिकूल है। जब प्रत्येक ज्ञान स्वतः प्रमाण

होता है तथा उत्पन्न होते ही साथ ही अपने प्रामाण्य को उत्पन्न करता है तो फिर कभी–कभी अयथार्थ ज्ञान क्यों होता है और इसकी प्रक्रिया क्या है? लगभग प्रत्येक दर्शन ज्ञान के साथ–साथ भ्रम को स्वीकार करता है तथा अपनी–अपनी मान्यताओं के अनुरुप भ्रम की व्याख्या करने का प्रयास किया है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि भ्रम का होना वस्तुवाद के लिए अधिक चिन्ता का विषय रहा है क्योंकि वस्तुवाद मानता है कि प्रत्येक ज्ञान यथार्थ होता है। अतः वस्तुवादी दर्शनों में भ्रम की व्याख्या अधिक महत्वपूर्ण है। मीमांसा दर्शन भी वस्तुवादी सम्प्रदाय है। अतः प्रभाकर एवं कुमारिल ने भी वस्तुवादी मान्यताओं के भीतर इस समस्या को स्पष्ट किया है। प्रभाकर का भ्रम–सिद्धान्त अख्यातिवाद कहलाता है एवं कुमारिल का भ्रम सिद्धान्त विपरीतख्याति कहलाता है जिनका विवेचन क्रमशः किया जाएगा। इसके साथ ही न्याय के अन्यथाख्याति, सद्सत्ख्यातिवाद एवं अद्वैतवेदान्त के अनिर्वचनीयख्याति का भी विवेचन इस इकाई में होगा।

4.2 अख्यातिवाद

प्रभाकर का भ्रम–सिद्धान्त अख्यातिवाद कहलाता है। प्रभाकर ज्ञान को स्वतः प्रमाण एवं यथार्थ मानते हैं। उनका मानना है कि कोई ज्ञान अप्रामाणिक एवं अयथार्थ नहीं होता। जो भ्रम है वह अयथार्थ ज्ञान नहीं है वरन् वह आंशिक एवं अपूर्ण ज्ञान है। समस्त ज्ञान स्वतः प्रमाण एवं यथार्थ ही होता है किंतु सारा ज्ञान पूर्ण नहीं होता है। अतः अयथार्थवाद ज्ञान के रुप में भ्रम सम्भव नहीं है। भ्रम आंशिक एवं अपूर्ण ज्ञान है, प्रमा समग्र ज्ञान है। अतः प्रमा एवं भ्रम का भेद गुणात्मक भेद नहीं है वरन् मात्रात्मक भेद है। प्रभाकर के अनुसार भ्रम अज्ञान है, अन्यथा ज्ञान नहीं है। भ्रम आंशिक ज्ञान है, अयथार्थ ज्ञान नहीं है। भ्रम अग्रहण है, अन्यथा ग्रहण नहीं है। प्रभाकर का भ्रम विशयक यह मत ही अख्यातिवाद कहलाता है।

प्रभाकर के अनुसार किसी वस्तु का समग्र उस वस्तु के द्रव्य या विशेष्य का ज्ञान तथा उस वस्तु के धर्म या विशेषण–विशेष्य सम्बन्ध का ज्ञान होता है। जब हमें केवल वस्तु के द्रव्यांश का या केवल वस्तु के धर्मांश का ही ज्ञान हो तो वह आंशिक एवं अपूर्ण ज्ञान होता है। प्रभाकर के अनुसार जो भ्रम है वह भी इसी प्रकार का आंशिक एवं अपूर्ण ज्ञान होता है।

प्रभाकर के अनुसार भ्रम एक ज्ञान नहीं है, भ्रम में दो भिन्न ज्ञान होते हैं जिनके दो अलग–अलग विषय होते हैं। ये दोनों ज्ञान आंशिक होते हैं तथा इनके विषय भी अंशतः प्रकाशित होतें हैं। भ्रम में इन दोनों भिन्न ज्ञानों के भेद का तथा इनके दोनों अलग–अलग विषयों का अज्ञान अग्रहण होता है। भ्रम की अवस्था में हम यह कह सकते हैं कि ये दो भिन्न ज्ञान हैं तथा इनके विषय अलग–अलग हैं। हम इनकी पृथकता को नहीं समझ पाते।

जब हम शुक्ति को रजत समझते हैं तो इस भ्रम में दो आंशिक ज्ञान हैं तथा इनके दो अलग–अलग विषय है। प्रथम आंशिक ज्ञान शुक्ति के द्रव्य का ज्ञान तो हो रहा है किंतु उसका शुक्तित्व धर्म प्रकाशित नहीं हो रहा है। दूसरा आंशिक ज्ञान रजतत्व धर्म का प्रकाश न है। रजत के द्रव्यांश के बिना रजतत्व धर्म प्रकाशित हो रहा है। यहाँ दो आंशिक ज्ञान है तथा इनके दो अलग–अलग विषय हैं। एक विषय शुक्ति के केवल द्रव्यांश का ज्ञान है, इसका शुक्तित्व धर्मांश

प्रकाशित नहीं है। रजत द्रव्यांश के बिना उसका रजतत्व धर्मांश प्रकाशित है। शुक्ति के द्रव्यांश के बिना उसका रजतत्व धर्मांश प्रकाशित है। शुक्ति के द्रव्यांश का ज्ञान होता है तथा सफेदी एवं चमकीलापन आदि समान अर्थो के कारण पूर्वदृष्ट रजत का स्मरण हो जाता है एवं रजत मानसिक संस्कार स्मृति में उपस्थित हो जाता है तथा रजत के स्मृति में विद्यमान संस्कार को ही वास्तविक रजत के रुप में प्रत्यक्षीकृत किया जाता है तथा शुक्ति एवं रजत के आंशिक ज्ञानों तथा इनके अलग–अलग विषयों के भेद का अज्ञान हमें शुक्तिरजत भ्रम को उत्पन्न करता है।

कभी–कभी भ्रम में दोनों आंशिक ज्ञान प्रत्यक्ष भी होते हैं। जैसे पीलिया का रोगी शुभ शंख को पीत दिखता है तथा यहाँ पर भी दो आंशिक ज्ञान है। प्रथम आंशिक ज्ञान शंख के द्रव्यांश का प्रत्यक्ष का ज्ञान है तथा उसका शुभत्व धर्म प्रकाशित नहीं हो रहा है। इसके साथ ही पीत के द्रव्यांश का ज्ञान नहीं होता जबकि उसके पीतत्व धर्म का प्रत्यक्ष हो रहा है। इस भ्रम में शंख के द्रव्यांश ज्ञान का और पीत के पीतत्व धर्मांश के भेद का ग्रहण नहीं होता। तथा पीतशंख का भ्रम पीलिया रोगी को होता है।

सामान्य भ्रम में रज्जु–सर्प का भ्रम भी आम है। रज्जु के स्थान पर सर्प का दर्शन होता है। इस भ्रम में भी एक ज्ञान नहीं है। यहाँ भी दो ज्ञानों की पृथकता का अज्ञान या अग्रहण ही भ्रम का जनक है। रज्जु का द्रव्यमात्र प्रकाशित है तथा रज्जुत्व धर्म का ज्ञान नहीं हो पर रहा है। सर्प अपने द्रव्यांश के बिना सर्पत्व धर्मांश के रुप में प्रकाशित है। रज्जु और सर्प के समान धर्मो के कारण सर्प का स्मरण हो जाता है तथा स्मृति–दोष के रज्जु और सर्प के आंशिक ज्ञानों के भेद का ग्रहण नहीं हो पाता तथा सर्प केवल स्मृति–रुप है, इसकी विस्मृति हो जाती है। तथा रज्जु के प्रत्यक्ष ज्ञान एवं सर्प के स्मरणात्मक ज्ञान का भेद नहीं हो पाता एवं रज्जु–सर्प का प्रत्यक्ष होता है। यहभ्रम ज्ञानेन्द्रियों के दोषों एवं रज्जु तथा सर्प के कुछ समान धर्मों के कारण उत्पन्न होता है।

प्रभाकर कहतें हैं कि भ्रम में एक घटक नहीं बल्कि इसके दो घटक हैं– प्रथम घटक भावात्मक है एवं द्वितीय अभावात्मक। भ्रम में दोनों आंशिक ज्ञानों तथा इनके दो अलग–अलग विषयों की उपस्थिति इसका भावात्मक घटक है। इसके साथ–साथ जब हम दोनों आंशिक ज्ञानों एवं इनके अलग–2 विषयों में भेद नहीं कर पाते तो यह इसका अभावात्मक घटक है। इस प्रकार प्रभाकर यह विशलेषित करते हैं कि भ्रम ज्ञान नहीं है, भ्रम में दो आंशिक ज्ञान हैं तथा इनके दो अलग–2 विषय हैं। जब हम इन दोनों परस्पर भिन्न ज्ञानों का भेद नहीं कर पाते तो इस अज्ञान से ही भ्रम की उत्पत्ति होती है।

4.3 विपरीतख्यातिवाद

प्रभाकर मिश्र के अख्यातिवाद में भ्रम की व्याख्या अज्ञान के रुप में है परन्तु भ्रम अज्ञानमात्र से 'कुछ अधिक' है। इस 'कुछ अधिक' की व्याख्या प्रभाकर नहीं कर पाते। भ्रम अज्ञानमात्र या ज्ञान का अभाव नहीं है। वरन् यह हमें अयथार्थ ज्ञान के रुप में प्रत्यक्ष होता है। शुक्ति को रजत के रुप में प्रत्यक्ष होते ही मनुष्य उसको उठाने के लिए कियाशील होता है। भ्रम हमें भ्रम के रुप के में नहीं होता वरन् यह हमें ज्ञान के रुप में होता है जो परवर्ती साधनों से अयथार्थ सिद्ध हो जाता है। ये सब बातें यह सिद्ध करती हैं कि भ्रम अज्ञान नहीं है जैसा कि प्रभाकर मानते हैं। अतः अख्यातिवाद एक अपूर्ण सिद्धान्त है। इसलिए आचार्य कुमारिल भ्रम को अज्ञान

के रुप में नहीं लेते वरन् इसके अन्तर्गत एक वस्तु विपरीत वस्तु के रुप में उपलब्ध होती है। अतः कुमारिल का भ्रम–सिद्धान्त 'विपरीतख्याति' के रुप में जाना जाता है।

कुमारिल भी प्रभाकर की भॉति वस्तुवादी हैं परन्तु वे भ्रम की यथार्थवत्ता को स्वीकार करते हैं। कुमारिल प्रभाकर की तरह भ्रम की अभावात्मक व्याख्या नहीं करते आंशिक ज्ञानो का उद्देश्य–विधेय के रुप में संसर्गित कर देते हैं। इस संसर्ग के कारण शुक्ति–रजत का भ्रम होता है।

4.4 न्याय दर्शन का अन्यथाख्यातिवाद

न्याय दर्शन का भ्रम विषयक सिद्धान्त अन्यथाख्यादिवाद कहलाता है। न्याय दर्शन भी भ्रम कुमारिल की भॉति भ्रम की वास्तविकता को स्वीकार करता है, प्रभाकर की भॉति नकारता नहीं। भ्रम को न्याय दर्शन 'अयथार्थ ज्ञान' मानता है। न्याय दर्शन में ज्ञान दो प्रकार का होता है– प्रमा या यथार्थ ज्ञान एवं अप्रमा या अयथार्थ ज्ञान। प्रमा चार प्रकार की होती है– प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति एवं शब्द ज्ञान। अप्रमा तीन प्रकार की होती है– संशय, विपर्यय एवं तर्क। यही विपर्यय ही मिथ्या ज्ञान या अन्यथा ज्ञान के रुप में भ्रम है। भ्रम मिथ्या ज्ञान या अन्यथा ज्ञान है।

'अन्यथाख्याति' में 'अन्यथा' शब्द के दो अर्थ हैं– अन्यत्र एवं अन्य रुप में। न्याय दर्शन कहता है कि भ्रम की अवस्था में एक वस्तु (शक्ति या रज्जु) दूसरी वस्तु की सत्ता वहॉं नहीं होती वरन् अन्यत्र होती है। न्याय के अनुसार भ्रम की अवस्था में किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु के रुप प्रत्यक्ष होता है तथा इस अन्य वस्तु की सत्ता वस्तुतः यहॉं नहीं है वरन् स्मृति के वरन् भ्रम को एक विशेष ज्ञान के रुप में देते हैं। कुमारिल भी भ्रम की व्याख्या में दो भिन्न ज्ञानों एवं दो अलग–अलग विषयों की उपस्थित को प्रभाकर के समान स्वीकार करते हैं। जब हमें शक्ति के स्थान पर रजत दिखायी देता है तो वहॉं शक्ति एवं रजत के चमक आदि समान गुणों के कारण रजत का स्मरण होता। परन्तु कुमारिल प्रभाकर के समान यह नहीं कहते कि हम दृश्यमान एवं स्मर्ययाण वस्तु में भेद नहीं कर पाते वरन् वे कहते हैं कि भ्रम में वे दोनो मिलाकर एक कर दिए जाते हैं एवं हमें शक्ति के स्थान पर रजत का 'यह' (द्रव्यांश) एवं रजत (धर्मांश) दोनों अपने–अपने अंश में सत्य है। भ्रम तो यह है कि प्रभाकर एक ज्ञान का रुप दे देते हैं।

प्रभाकर एवं कुमारिल दोनों के भ्रम–विचारों में मूल अन्तर यह है कि प्रभाकर के अनुसार भ्रम का कारण इन दोनों को मिला देना है। प्रभाकर मानते हैं कि भ्रम का कारण अज्ञान है किंतु कुमारिल का मानना है भ्रम का कारण विपरीत ज्ञान है। प्रभाकर के मत में भ्रम की प्रक्रिया में दो आंशिक ज्ञानों के भेद का अज्ञान है जबकि कुमारिल कहते हैं भ्रम का कारण है हम दो भिन्न संस्कारों में है।

न्याय के अनुसार भ्रम की प्रक्रिया इस प्रकार रज्जु–सर्प के भ्रम में 'रज्जु' के सामान्य लक्षणों का ग्रहण होता है। तथा विशेष लक्षणों का ग्रहण नहीं हो पाता तथा इन सामान्य लक्षणों की सर्प से समानता के कारण सर्प का स्मरण होता है। जिसे व्यक्ति दृश्य रज्जु पर आरोपित कर देता है। इस प्रकार रज्जु का स्मृत सर्प क रुप में (अन्य रुप में) प्रत्यक्ष होता है। जिसकी सत्ता वस्तुतः यहॉं नहीं है वरन् अन्यत्र है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि न्याय दर्शन रज्जु में सर्प के, शुक्ति में रजत के आरोप की व्याख्या एक विशेष 'ज्ञानलक्षण' प्रत्यक्ष के माध्यम से व्याख्या करता है। न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष के दो भाग है– प्रथम लौकिक प्रत्यक्ष एवं द्वितीय अलौकिक प्रत्यक्ष। लौकिक प्रत्यक्ष में पंचविश वाह्य प्रत्यक्ष एवं मानस प्रत्यक्ष के रुप में होता है एवं अलौकिक प्रत्यक्ष त्रिविध है– सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष, ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष एवं योगज प्रत्यक्ष के रुप में त्रिविध है। सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति 'सामान्यों' का प्रत्यक्ष है। ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष में ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अपने स्वाभाविक गुण के साथ–साथ किसी अन्य गुण को भी ग्रहण करने की कल्पना की जाती है, जिसे ग्रहण करने में वह ज्ञानेन्द्रिय सक्षम नहीं है। योग प्रत्यक्ष योगियों द्वारा लैकालिक (त्रैकालिक) प्रत्यक्ष है।

न्याय दर्शन स्मृति में विद्यमान सर्प या रजत के संस्कार को रजत के वास्तविक प्रत्यक्ष के रुप में व्याख्यायित करने के लिए ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष का सहारा लिया है। भ्रम में जब रज्जु के स्थान पर सर्प एवं शक्ति के स्थान पर रजत का मानसिक संस्कार रज्जु या शक्ति आरोपित कर दिया जाता है और सर्प या रजत का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है।

न्याय के अन्यथाख्याति एवं कुमारिल के विपरीतख्याति दोनों भ्रम की यथार्थवत्ता स्वीकार करते हैं तथा भ्रम को अन्यथाज्ञान या मिथ्याज्ञान के रुप में लेते हैं। परन्तु आचार्य कुमारिल भ्रम की अवस्था में वस्तुवाद का परित्याग कर विषयीमूलकता पुरुषतंत्रता को स्वीकार करते हैं। एवं भ्रम की विषयीमूलक व्याख्या करते हैं जबकि न्याय दर्शन भ्रम की अवस्था में रज्जु में सर्प के अलौकिक ज्ञान लक्षण द्वारा प्रत्यक्ष मानकर वस्तुवाद के प्रति ईमानदार बना रहता है।

4.5 रामानुज का यथार्थख्याति

भारतीय दर्शन में वैष्णव दर्शन के विशिष्टद्वैतवादी दार्शनिक यथार्थख्याति या संख्याति के माध्यम से भ्रम की व्याख्या करतें हैं। रामानुज प्रभाकर के समान प्रमा एवं भ्रम में मात्रात्मक भेद मानतें हैं। गुणात्मक भेद नहीं। भ्रम आंशिक सत्य विद्यमान होता है। प्रभाकर की भॉति रामानुज भी मानते हैं कि समस्त ज्ञान यथार्थ होता है। भ्रम अज्ञान या अग्रहण है, अन्यथाज्ञान नहीं है। अन्यथाज्ञान के रुप में भ्रम सम्भव नहीं है। भ्रम में भी सत् यथार्थ का ही ज्ञान होता है।

संसार के प्रत्येक पदार्थ में तीन गुण होते हैं– सत्व, रजस्, तमस्। अग्नि से सत्व गुण उत्पन्न होता है, जल से रजोगुण उत्पन्न होता है तथा पृथ्वी से तमागुण उत्पन्न होता है। इन तीनों गुणों के सम्मिश्रण से संसार के सभी विषय उत्पन्न होते हैं। यही सम्मिश्रण की प्रक्रिया 'त्रिवृत्त–करण' कहलाती है।

इसके अतिरिक्त विशिष्टाद्वैत दर्शन में सृष्टि–प्रक्रिया को पंचीकरण के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक स्थूल महाभूत में आधा भाग (1/2) इस महाभूत का अपना होता है और शेष आधे भाग में अन्य महाभूतों के बराबर–2 अंश (1/8) होतें हैं। यथा– आकाश महाभूत–1/2 आकाश + 1/8 वायु + 1/8 जल + 1/8 अग्नि + 1/8 पृथ्वी। इस प्रकार सभी महाभूत परस्पर मिले हुए रहते हैं।

इस त्रिवृत–करण या पंचीकरण के कारण सभी महाभूत परस्पर घुले रहते हैं। अतः शक्ति में भी रजत के कुछ कण मिले रहते हैं। अतः इसी कारण शक्ति में रजत का वास्तविक प्रत्यक्ष होता है। यहाँ प्रभाकर के अख्यातिवाद एवं रामानुज के

सत्ख्याति में भेद यह है कि प्रभाकर रजत को स्मृति रुप में मानकर समस्त दोष स्मृति को देतें हैं जबकि रामानुज शुक्ति में रजत के अंश का प्रत्यक्ष मानते हैं।

4.6 जैन दर्शन का सद्सत्ख्यातिवाद

जैन दर्शन का भ्रम–सिद्धान्त सद्सत्ख्यादिवाद कहा जाता है। जैन दर्शन यह मानता है कि भ्रम का विषय एक रुप में सत् भी है ओर असत् भी। इसलिए जैन दर्शन का यह मत सद्सत्ख्यातिवाद कहा जाता है। जैन दर्शन भी कुमारिल एवं न्याय दर्शन की भॉति भ्रम को अन्यथाज्ञान या मिथ्याज्ञान के रुप में स्वीकार करते हैं। जैन दर्शन यह कहते हैं कि शुक्ति और रजत दोनों अलग–अलग सत्य है तथा जगत् में इनका सत्य अस्तित्व है। इस कारण यह सिद्धान्त सत्ख्याति भी है तथा शुक्ति और रजत को मिलाकर एक ज्ञान के रुप में देखने के कारण; शुक्ति के स्थान पर रजत को देखने के कारण असत् भी है। अतः यह अख्याति भी है। सत्ख्याति एवं असत्ख्यादि दोनों को स्वीकार करने के कारण जैन दर्शन का यह सिद्धान्त सद्ख्याति कहलाता है। उल्लेखनीय है कि उत्तरसांख्य दर्शन भी सद्सत्ख्यातिवाद को मानता है।

4.7 बौद्ध दर्शन का विज्ञानख्याति एवं शून्यताख्यातिवाद

बौद्ध दर्शन की महायानषाखा के दो सम्प्रदाय हैं– विज्ञानवाद (योगाचार दर्शन) एवं शून्यवाद। विज्ञानवाद के प्रणेता मैत्रयानाथ है तथा शून्यवाद के प्रणेता नागार्जुन हैं। उल्लेखनीय है कि विज्ञानवाद एवं शून्यवाद दोनों सम्प्रदाय विर्वतवादी दर्शन है जो जगत् को आभास मात्र मानते हैं। इसी प्रकार आलोक में विज्ञानवाद के विज्ञानख्याति एवं शून्यताख्याति की विवेचना होगी।

विज्ञानख्यादिवाद, विज्ञानवाद का भ्रम सिद्धान्त है। विज्ञानवाद के अर्न्तगत व्यावहारिक आत्मा के रुप में आलयविज्ञान को माना जाता है जो सभी विज्ञानों का आश्रय है। इन्द्रिय–विज्ञानों (इन्द्रिय–प्रत्यक्ष) को प्रवृत्ति–विज्ञान कहा जाता है। इसके साथ ही 'मनस्' को भी स्वीकार किया जाता है जो सभी प्रवृत्ति–विज्ञानों में एकीकरण करता है। विज्ञानवाद के अन्तर्गत विज्ञान ही एकमात्र सत्य है तथा विज्ञान ही वाह्य पदार्थो का आकार लेकर प्रतीत होते हैं, अतः व्यावहारिक सत्ता भी विज्ञानों की ही है। वाह्य पदार्थ नितान्त असत् है। जीव (पुद्गल) एवं धर्म (वस्तुऍ) नितान्त असत् है।

शुक्ति–रजत भ्रम में रजत कोई वाह्य पदार्थ नहीं है वरनफ रजत–विमान ही रजत के रुप में प्रतीत होता है। भ्रम की अवस्था में विज्ञान ही रजत का आकार लेकर प्रतीत होता है तथा हम उसे वाह्य पदार्थ (रजत) के रुप में प्रत्यक्ष होता है। विज्ञानवाद में शुक्ति–रजत, रज्जु–सर्प भ्रम आदि वैयक्तिक मनस् के आकार हैं एवं व्यावहारिक पदार्थ आलयविज्ञान के आकार है। पुद्गल (जीव) एवं धर्म (वस्तुएं) नितान्त असत् है। व्यावहारिक सत्ता भी केवल विज्ञानों की है। इस क्षणिक विज्ञान प्रवाह के माध्यम से ही भ्रम–पदार्थ प्रतीत होते हैं।

शून्यताख्याति, 'षून्यवाद का भ्रम–सिद्धान्त' है। शून्यताख्याति को असत् ख्याति भी कहा जाता है। परन्तु शून्यवाद सर्वनिषेधवादी दर्शन नहीं। 'शून्य' का अर्थ पारमार्थिक दृष्टि से प्रपन्च–शून्य अर्थात परमार्थ में किसी प्रकार का प्रपन्च्च नहीं है वहाँ निरपेक्ष अद्वैतवाद है। व्यवहार में शून्य का अर्थ 'स्वभाव शून्य' है

अर्थात प्रत्येक व्यवहारिक पदार्थ की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वाह्य पदार्थ सापेक्ष है अर्थात वे न तो सत् है और न असत्। सत् का तात्पर्य शाष्वतवाद है तथा असत् का अर्थ उच्छेदवाद है, तथा दोनों अतिवादी दृष्टिकोण है। सत् और असत् तमः प्रकाश वत् व्याघाती संकल्पना है अतः कोई पदार्थ सदृष्ट भी नहीं कहा जा सकता। अतः व्यावहारिक पदार्थ सद्सद्भिन्न है। भ्रम पदार्थ भी सद्सदृभिन्न हैं। शून्यवाद में दो सत्य स्वीकार किया जाता है– परमार्थ सत्य एवं संवृत्त सत्य। संवृत्त सत्य भी दो प्रकार का है– लोक संवृत्ति एवं मिथ्या संवृत्ति। लोक संवृत्ति हमारा व्यवहार है एवं मिथ्या संवृत्ति के अन्तर्गत व्यक्तिगत भ्रम आते है।

4.8 अद्वैत वेदान्त का अनिर्वचनीय ख्याति

अद्वैत वेदान्त में सत्ता की चार कोटियाँ हैं सबसे निम्न स्तर पर 'असत्' है जिनकी त्रिकाल में कोई सत्ता नहीं है। जिनमें सत् के रुप में प्रतीत होने की भी सामर्थ्य नहीं है जैसे वन्ध्यापुत्र एवं खपुष्प आदि। इसके ऊपर प्रतिभास' है। जिसके अन्तर्गत व्यक्तिगत भ्रम एवं स्वप्न आदि आते हैं। व्यक्तिगत भ्रम का बाध सम्यक् ज्ञान से ,एवं स्वप्न का बाध जाग्रत में होता है जो 'व्यवहार' के स्तर का ज्ञान है। सबसे महत्वपूर्ण स्तर परमार्थ है जो कि त्रिकालाबाध सत् है। अद्वैत वेदान्त में प्रतिभास ,एवं व्यवहार दोनों सद्सद्निर्विचनीय, मायिक ,एवं मिथ्या हैं। प्रतिभास ,एवं व्यवहार न तो सत् है क्योंकि उच्चतर ज्ञान से ये बाधित हो जाते हैं तथा ये असत् भी नहीं क्योंकि इनकी प्रतीति होती है। ये सत् और असत् दोनों नहीं हो सकते क्योंकि सत् और असत् दोनों तमः प्रकाशवत् विरुद्ध) है। अतः ये दोनों सद्सद्निर्वचनीय हैं।

अद्वैत वेदान्त रज्जुसर्प, शुक्तिरजत आदि भ्रमों को प्रतिभास के स्तर का मानता है। अद्वैत वेदान्त में भ्रम अध्यास के कारण होता है जो माया का कार्य है। माया भावरुप भी है अभाव रुप भी। इसका अमानपक्ष 'आवरण' कहलाता है जो तत्व को आवृत कर देता है जिससे तत्व का ज्ञान नहीं हो पाता। माया का दूसरा कार्य 'विक्षेप' है जो तत्व पर किसी वस्तु का अध्यास या आरोप करती है जिससे तत्व की अन्यथाप्रतीति होने लगती है। माया अपने आवरण शक्ति से रज्जु को आहत शक्ति से रज्जु पर सर्प का आरोप कर देती है जिससे रज्जु के स्थान पर सर्प की अन्यथाप्रतीति होती है। इस रुप में भ्रम सद्सद्निर्वचनीय है। भ्रम पदार्थ सत् नहीं है क्योंकि सम्यक् ज्ञान से इसका बाध हो जाता है। भ्रम पदार्थ असत् भी नहीं है क्योंकि यह प्रतीति होता है। इसे सद्सत् भी नहीं कह सकते क्योंकि सत् और असत् प्रकाश और अन्धकार की भॉति परस्पर विरुद्ध हैं। अतः भ्रम पदार्थ सद्सदृनिर्वचनीय है। यही अद्वैतवेदान्त का अनिर्वचनीयख्याति कहा जाता है।

4.9 सारांश

भारतीय दर्शन में भ्रम–सिद्धान्त एक रोचक अध्याय है। लगभग प्रत्येक दर्शन ने भ्रम की व्याख्या अपनी–अपनी मान्यताओं के अनुरुप किया है। इस ईकाई में प्रभाकर ,वं कुमारिल के ख्यातिवाद के साथ अन्य दर्शनों के ख्याति–सिद्धान्त का भी संपेक्ष वर्णन किया गया है। प्रभाकर का अख्यातिवाद भ्रम को ज्ञान का अभाव मानता है, अन्यथा ज्ञान या मिथ्या ज्ञान नहीं। भ्रम का कारण यह है कि हम भ्रम में दो आंशिक ज्ञानों ,एवं उनके अंशतः प्रकाशित विषयों में भेद नहीं कर पाते। कुमारिल ने अपने विपरीतख्याति में ज्ञान को मिथ्याज्ञान माना है तथा भ्रम का कारण दो भिन्न आंशिक ज्ञानों के भेद का अग्रहण न मानकर यह मानते हैं कि भ्रम

में हम इन दोनों आंशिक ज्ञानों को मिलाकर एक कर देते हैं एवं वस्तु का मिथ्या ज्ञान प्राप्त करते है। रामानुज अपने पंचीकरण सिद्धान्त के अनुरुप शुक्ति में रजत के अंश का वास्तविक प्रत्यक्ष मानतें हैं। सांख्य एवं जैन दर्शन भ्रम पदार्थ को सत् एवं असत् दोनों मानते हैं। बौद्ध एवं अद्वैत वेदान्त विवर्तवाद को स्वीकार करते हए भ्रम को आभास मानतें हैं। विज्ञानवाद, क्षणिकविज्ञान प्रवाह का आरोप मानता है। शून्यवाद एवं अद्वैतवाद भ्रम– पदार्थ को सद्सद्निर्वचनीय मानते हैं।

4.10 उपयोगी पुस्तकें

1. Indian Philosphy vol I – (सर्वपल्ली राधाकृष्णन)
2. भारतीय दर्शनः आलोचना एवं अनुशीलन (चन्द्रधर शर्मा)
3. भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रुपरेखा (राममूर्ति पाठक)
4. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण (प्रो.– संगम लाल पा.डेय)

बोध प्रश्न

1. न्यायदर्शन का अन्य व्याख्यातिवाद क्या है?
2. अख्यातिवाद का प्रतिपादन कीजिए।

****

MAPH-106
भारतीय दर्शन का परिचय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 4

शंकराचार्य एवं रामानुज

इकाई – 1 141–156
शंकराचार्य एवं रामानुज के अनुसार ब्रह्म की अवधारणा

इकाई – 2 157–168
मायावाद (शंकर और रामानुज के अनुसार)

इकाई – 3 169–178
जगत एवंजीव (शंकराचार्य एवं रामानुज के अनुसार)

इकाई – 4 179–198
शंकराचार्य एवं रामानुज के दर्शन में 'आत्मा' एवं 'जीव'

इकाई – 5 199–208
शंकराचार्य, रामानुज एवं मध्व के वेदान्त दर्शन में मोक्ष की अवधारणा

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

एम.ए.पी.एच.–106(**MAPH-106**)

सरंक्षक मार्गदर्शक

प्रो.के.एन. सिंह – कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

विशेषज्ञ समिति

डॉ.आर.पी.एस. यादव – निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

प्रो. रामलाल सिंह (से.नि.) – दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

प्रो.दीप नारायण यादव – दर्शनशास्त्र विभाग, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

प्रो. द्वारिका – विभागाध्यक्ष, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

प्रो. सभाजीत यादव – दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मागांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

लेखक

प्रो. सुरेन्द्र वर्मा – सेवानिवृत्त, 10 एचआईजी / 1 सर्कुलर रोड, प्रयागराज।

डॉ. श्यामकान्त – असिस्टेंट प्रोफेसर, आर्यकन्या डिग्री कालेज, इला0 वि.वि. प्रयागराज।

डॉ. अतुल कुमार मिश्र – शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

सम्पादक

प्रो. जटाशंकर – पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

परिमापक

प्रो. आर.पी.एस. यादव – निदेशक मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

समन्वयक

डॉ. अतुल कुमार मिश्र – शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

2023 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021

ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि अण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ें आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज– 211021

प्रकाशक – कुलसचिव, विनय कुमार, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज –2023

मुद्रक – के0 सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स , पंचवटी, मथुरा – 281003.

भारतीय दर्शन

इकाई–1

शंकराचार्य एवं रामानुज के अनुसार ब्रह्म की अवधारणा

<u>इकाई की रुपरेखा</u>

0.0 उद्‌देश्य

1.0 प्रस्तावना

1.1 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म की अवधारणा

1.2.1 शंकर के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म का स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण

1.3.1 ब्रह्म का तटस्थ लक्षण

1.3.2 ब्रह्म का स्वरूप लक्षण

1.3 ब्रह्म का विष्वगत और विश्वातीत रुप

1.4 अद्वैत वेन्दान्त में ब्रह्म के दो रूप–र्निगुण और सगुण

1.5 ब्रह्म की अभेद सत्ता

1.6 आचार्य शंकर के अनुसार बह्म अनिवर्चनीय है।

1.7 आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति्

1.8 रामानुज का ब्रह्म विचार

1.9 रामानुज का ब्रह्म सगुण है।

1.10 रामानुज के बह्म का जीव और जगत से सम्बन्ध

1.11 रामानुज का ईश्वर उपासना का विषय है।

1.12 शंकर के ब्रह्म एवं रामानुज के ब्रह्म की तुलनात्मक व्याख्या

1.13 निष्कर्ष

1.14 सारांश

1.15 बोध प्रश्न

1.16 सहायक पुस्तकें

0.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में शंकराचार्य एवं रामानुज के ब्रह्म विषयक अवधारणा को तुलनात्मक रूप में निरुपित ककिया जगया है। इस इकाई में यह दिखाया गया है कि यद्यपि आचार्य शंकर एवं रामानुज दोनों ही पारमार्थिकए दृष्टि से ब्रह्म को सर्वोपरि सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैंए किन्तु ब्रह्म के स्वरूप को लेकर दोनों ही दार्शनिकों के दृष्टिकोण में अन्तर पाया जाता है। जहाँ आचार्य शंकर अद्वैतवाद के रूप में ब्रह्म की अवधारणा का निरूपण करते हैंए वहीं रामानुज विषिश्टाद्वैत के रूप में ब्रह्म की सत्ता का निरूपणकरते हैं। आचार्य शंकर ने ब्रह्म के दो लक्षण बतलायें हैं– स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण। ब्रह्म के भी दो रूप हैं– निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म। रामानुज के विषिश्टाद्वैतब में शंकर के निर्गुणब्रह्म की अवधारणा को अस्वीाकर करके ब्रह्म के सगुण रूप का समर्थन किया गया है। इस प्रकार जहाँ आचार्य शंकर सगुण ब्रह्म को मायोपहित ब्रह्म के रूप में वर्णन करते हुए उसे ईश्वर की संज्ञा देते हैंए तथा पारमार्थिक दृष्टि से केवल निर्गुण ब्रह्म की सत्ता का प्रतिपादन करते हैंए वहीं रामानुज सगुण ब्रह्म को ही ईश्वर की संज्ञा देते हैं और उसे ही पारमार्थिक दृष्टि से भी एकमात्र सर्वोच्च सत्ता मानते हैं। आचार्य शंकर का ब्रह्म सभी प्रकार के भेदों से रहित हैए रामानुज का ब्रह्म स्वागत भेद से युक्त है। आचार्य शंकर का ब्रह्म अनिवर्चनीय है तथा उसके स्वरूप का केवल निषेधात्मक रूप में वर्णन हो सकता है। रामानुज का ब्रह्म भक्त के अराधना का विषय हैए इसलिए वह भक्त के करूण क्रन्दन को सुनता है और उन पर अपनी कृपा करता है।

1.0 प्रस्तावना

आचार्य शंकर और रामानुज ने अपने ब्रह्म विषयक अवधारणा में पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म के सर्वोपरि सत्ता का प्रतिपादन करते हैं। यद्यपिआचार्य शंकर एवं रामानुज दोनों ही वेदान्त दर्शन की विचारधारा को ही प्रतिष्ठापित करते हैंए किन्तु दोनों ही भिन्न–भिन्न दृष्टिकोंण के आधार पर अपने वेदान्त दर्शन का निरूपणकरते हैं। आचार्य शंकर अद्वैत वेदान्त की विचारधारा को जहाँ प्रबल तर्को के आधार पर प्रतिष्ठापित करते हैंएवही रामानुज विषिश्टाद्वैत वेदान्त की विचारधारा को शंकर के विचारों का खण्डन करते हुए प्रतिपादित करते हैं। आचार्य शंकर केवल पारमार्थिक दृष्टि से निर्गुणब्रह्म को हो ही एकमात्र सत्ता मानते है और ब्रह्म को सर्वभेद रहित मानते है। वहीं रामानुज का सगुण ब्रहम ही ईश्वर है और वह स्वागतभेद से युक्त है। रामानुज ईश्वर भक्त के आराधना का विषय हैए जबकि शंकर का ब्रह्म ज्ञान का विषय है। इस प्रकार वेदान्त सम्प्रदाय के ये दोनों ही दार्शनिक ब्रह्म की अवधारणा को लेकर भिन्न–भिन्न दृष्टिकोंण के आधार पर ब्रह्म के अद्वैतवादी सिद्धान्त का और ब्रह्म के विषिश्टाद्वैत वादी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। अब क्रमशः आचार्य शंकर के ब्रह्म की अवधारणा और रामानुज के ब्रह्म की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया जायेगा और उसके पश्चात् दोनों के ब्रह्म की अवधारणा के अन्तर को स्पष्ट किया जायेगा।

1.1 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म की अवधारणा

आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता मानी गयी है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म के पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र यथार्थता का निरूपणकरते हुए कहा है कि– 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' अर्थात ब्रह्म ही एकमात्र सत्य हैए जगत् मिथ्या है तथा जीव या आत्मा और ब्रह्मा अभिन्न हैं। इस प्रकार आचार्य शंकर का यह मानना है कि ब्रह्म के अतिरिक्त ईश्वर जगत् की पारमार्थिक दृष्टि से सत् नहीं है। शंकर के अनुसार ब्रह्म पूर्ण और एकमात्र सत्य हैए क्योंकि ब्रह्म का किसी काल में बाध नहीं होता है। ब्रह्म त्रिकालाबाधित सत्ता है। शंकर का ब्रह्म सब भेदों से रहित निर्वेव्याक्तिक सत्ता है। शंकर का ब्रह्म अनन्त एवं असीम हैए क्योंकि उसका न आदि है और न अंत है। ब्रह्म सर्वव्यापकए अनन्तए पूर्ण एवं आनन्द स्वरूप है। वह एकरस एवं अपरिवर्तन'ील है। ब्रह्म को जगत् का मूल कारण सृष्टिकर्ताए पालकए संहारकए सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान कहा गया है। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म को सगुण ब्रह्म या ईश्वर भी कहा जाता है। परन्तु ब्रह्म को सृष्टिकर्ता या जगतकर्ता कहना केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य है अर्थात जब तक हम जगत् को सत्य मानते हैं। जगत कर्त्तृव्य ब्रह्म का स्वरूप लक्षण नहींए वरन् केवल उसका तटस्थ लक्षण है अर्थात सृष्टि कर्ता होना ब्रह्म का औपाधिक गुण हैए वास्तविक स्वरूप नहीं।

1.2 शंकर के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म का स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के दो लक्षण प्राप्त होते हैं– तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण। किसी भी वस्तु का आन्तरिक स्वरूप न होते हुए भी अन्य वस्तुओं से भेद करना वाला (व्यवच्छेदक) लक्षण तटस्थ लक्षण कहलाता है– 'स्वरुपान्तराभूत्वे सति इतरव्यावर्तकं तटस्थ लक्षण'। तटस्थ लक्षण किसी भी वस्तु का आगन्तुक गुण है। 'स्वरुपान्तरभूत्वेसति इतर व्यावर्तकं स्वरूप लक्षणम्' अर्थात किसी भी वस्तु का आन्तरिक स्वरुपए जो उसे अन्य वस्तुओं से पृथक करता हैए स्वरूप लक्षण है। स्वरूप लक्षण किसी भी वस्तु का अनिवार्य गुण है। तटस्थ एवं स्वरूप लक्षण को एक दृष्टान्त के धारा ब्रहुत अच्छे ढंग से समझा जा सकता है। एक गड़ेरिया रंगमंच पर राजा बनकर अभिनय करता हैए वह दे'ा जीतकर उसपर शासन करता हैए यह रंगमंच पर अभिनय करने वाले गड़ेरिया का तटस्थ लक्षण हैए जब उसका स्वरूप लक्षण वास्तविक दृष्टि गड़ेरिया होना है। इस प्रकार तटस्थ लक्षण किसी भी वस्तु का वह गुण हैए जो उस वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकट नहीं करता तथा स्वरूप लक्षण वह है जो वस्तु के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करता है। इस प्रकार आचार्य शंकर ने ब्रह्म के तटस्थ एवं स्वरूप लक्षण के रूप में दो लक्षणों का बड़ा स्पष्ट विवेचन किया है।

1.3.1 ब्रह्म का तटस्थ लक्षण

अद्वैत वेदान्त में सृष्टि–कर्त्तृत्व' ब्रह्म का तटस्थ लक्षण माना जाता है। शंकराचार्य ने 'ब्रहमसूत्र' के त्रितीय सूत्र 'जन्मा।स्य यतः' के धारा 'ब्रह्म' के तटस्थ लक्षण को ही व्याख्यायित किया है। शंकराचार्य का यह मानना है कि इस जगत का जन्मादि (जन्म अर्थात उत्पत्तिए धारण और विनाश) जिस मूल तत्व से होता

हैए वह ब्रह्म है। आचार्य शंकर ने श्रुतिवाक्यों की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि 'संसार के समस्त प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैंए वे जिसके सहारे जीवित रहते हैं और अन्ततः वे जिसमें विलीन हो जाते हैं वह ब्रह्म है। आचार्य शंकर के अनुसार जगत की वास्तविक उत्पत्ति नहीं होती हैए केवल उसकी उत्पत्ति का आभास होता है। वास्तविकता यह है कि ब्रह्म का 'सृष्टि–कर्त्तृत्व' व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य हैए पारमार्थिक दृष्टि से न कोई सृष्टि है और न कोई सृष्टिकर्ता। इस प्रकार जगत कारणत्व ब्रह्म का औपाधिक गुण हैए वास्तविक स्वरूप नहीं। यही कारण है कि आचार्य शंकर परिणामवाद और असत्कार्यवाद का खण्डन करते हुए 'ब्रह्म विवर्तवाद' का प्रतिपादन करते हैं और मायायुक्त ब्रह्म को जगत् का कारण बतलाते हैं तथा माया से सम्पृक्त ब्रह्म को 'ईश्वर' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। यह ब्रह्म का ऐसा लक्षण हैए जो उसके यथार्थ स्वरूप को स्प'ा नहीं करता है।

1.3.2 ब्रह्म का स्वरूप लक्षण

आचार्य शंकर ब्रह्म के स्वरूप लक्षण के धारा उसके यथार्थ स्वरूप व्यक्त किया है। उन्होंने 'साच्चिदानन्द' के रूप में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपणकिया है। ब्रह्म के इसी 'साच्चिदानन्द' स्वरूप को उपनिषदों में 'सत्यज्ञानमनन्तं' के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। आचार्य शंकर ने 'सत्यज्ञानमनन्तं' श्रुतिवाक्य की व्याख्या के धारा यह दिखाया है कि ब्रह्म असत्ए अचित् और अपूर्ण नहीं है। ब्रह्म में सब प्रकार के भेदों का अभाव होने के कारण उसमें विशेष–विशेषता की कल्पना नहीं की जा सकती। वस्तुतः सत्ए चित् और आनन्द ब्रह्म के गुण न होकर ब्रह्म स्वरूप है। सत्ए चित् एवं आनन्द तात्विक दृष्टि से एक ही हैं क्योकि जो सत् है वही चित् है और वही आनन्द है।

आचार्य शंकर ने ब्रह्म के तटस्थ लक्षण एवं स्वरूप लक्षण क विवेचन के धारा यह स्पष्ट किया है कि पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म अपरिवर्तन'ाील सत्ता हैए जिसकी अभिव्यक्ति या नाना रुपात्मक प्रपंचात्मक जगत् हैए जिसकी हमें प्रतीतिमात्र होती है। इसीलिए आचार्य शंकर इस बात पर बल देते हैं कि ब्रह्म का तटस्थ लक्षण केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य हैए पारमार्थिक दृष्टि से जगत की कोई सत्ता नहीं है। पारमार्थिक दृष्टि से जगत के सम्बन्ध को लेकर ब्रह्म पर जितने भी विशेषता आरोपित किये जाते हैंए वह उनसे अतीत है। आचार्य शंकर ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप और औपाधिक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए जादूगर (मायावी) का दृष्टांत देते हैं। आचार्य शंकर का कहना है कि जिस प्रकार जादूगर केवल उन्हीं लोगों के लिए अद्भुत है जो उसके जादू या माया से प्रभावित होते हैं और उसके दिखाये हुए जादू के खेल को सत्य मानते हैंए किन्तु जो लोग उसके माया जाल से नहीं प्रभावित होते हैं और उसके मायावी स्वरूप को समझ जाते हैं उसके लिए वह अद्भुत नहीं होता है। इसी प्रकार जो अज्ञानी हैंए जो जगत् रुपी माया जाल के भुलावे में आ जाते हैं अर्थात् जो लोग अज्ञानी हैं वे ही ईश्वर को मायावी अर्थात माया से ब्रह्म को संयुक्त देखते हैं और ब्रह्म को सृष्टिकर्ता मानते हैं किन्तु जो तत्व ज्ञानी हैं वे समझते हैं कि न कोई वास्तविक सृष्टि है और न ही कोई सृष्टिकर्ता हैए अपितु पारमार्थिक दृष्टि से जगत् की कोई सत्ता नहीं हैं।

1.3 ब्रह्म का विष्वगत और विश्वातीत रुप

आचार्य शंकर का कहना है कि ब्रह्म विश्व में व्याप्त है और विश्वातीत है। आचार्य शंकर सामान्य अनुभव के आधार पर यह दिखाते हैं कि ब्रह्म कैसे जगत् मे व्याप्त है और जगत् से परे भी है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि जगत् जब तक भासित होता हैए तब तक वह एकमात्र सत्ता ब्रह्म के ही आश्रित रहता है जैसे रस्सी में आभासित सॉप उस रस्सी के अलावा और कहीं नहीं रहताए किन्तु जिस प्रकार उस रस्सी में सर्पत्व की भ्रान्ति के कारण कोई विकार नहीं आता उसी प्रकार जगत में सुख–दुःखए पाप–पुण्यादि विषयों से ब्रह्म प्रभावित नहीं होता। वास्तवतिकात यह है कि वाह्य जगत् तत्वरुपेण ब्रहम से अभिन्न है।

1.4 अद्वैत वेन्दान्त में ब्रह्म के दो रुप–निर्गुणऔर सगुण

आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म पारमार्थिक दृष्टि से निर्गुणहै। ब्रह्म को निर्गुणकहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह शून्य है। इसका तात्पर्य केवल यह है कि बुद्धि धारा निर्मित कोई भी अवधारणा उस पर लागू नहीं होती है। वस्तुतः शंकर का ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष, निरवच्छिन्न होने के कारण ही पर ब्रह्म है। निर्गुणब्रह्म सभी प्रकार के विशेषताों से परे हैं। जगत् के कारण की दृष्टि से ब्रह्म सगुण है। ब्रह्म विश्वसृष्टि के लिए जब माया से संयुक्त होता है तो ईश्वर कहलाता है। व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म ईश्वर कहलाता है और शंकर ईश्वर को 'सगुण ब्रह्म' कहते हैं। अज्ञानव'ा भेद बुद्धि से निर्गुणब्रह्म को सगुण ब्रह्म समझ बैठते है और सगुण ब्रह्म को उपास्य समझने लगते हैं। सगुण ब्रह्म का उपसना का विषय इसलिए भी माना जाता है क्योंकि उसे जगत का कर्त्ता एवं स्वामी समझा जाता है। इस प्रकार उपासना और उपास्य ईश्वर व्यावहारिक दृष्टि से सम्बन्ध रखते हैंए जिसके अनुसार जगत सत्य प्रतीत होता है और ईश्वर तत्सम्बन्धी अनेक गुणों से युक्त दिखलायी पड़ता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि अद्वैत वेदान्त पारमार्थिक स्तर पर ब्रह्म के सगुण रूप को अस्वीकार करता है। जीव और जगत् के साथ सगुण ब्रह्म के सम्बन्ध की तार्किक व्याख्या नहीं की जा सकती। आचार्य शंकर के अनुसार सगुण ब्रहम की अवधारणा अध्यास–गर्भित है। और निर्गुणब्रह्म की भॉति अन्तिम नहीं है। यद्यपिसगुण ब्रह्म का आद'ा दर्शन का अन्तिम तत्व होने के लिए अपर्याप्त हैए तथापि वह मूल्यवान है। सगुण ब्रह्म मनुष्य की सामान्य एवं व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह हमें एक नैतिक आद'ा प्रदान करता है। साधक अपने जीवन में इन नैतिक आद'ाे को अपनाकर वह नैतिक योग्यता प्राप्त कर सकता हैए जो मोक्ष की प्राप्ति के लिए आव'यक है। आचार्य शंकर का यह कहना है कि यद्यपिब्रह्म का निर्गुणएवं सगुण दो प्रकार की है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि निर्गुणब्रह्म सगुण ब्रह्म की व्या?ाती सत्ता हैए बल्कि निर्गुणब्रह्म सगुण ब्रह्म में अभेद ह। सगुण ब्रह्म जिसे ईश्वर कहा जाता हैए निर्गुणब्रह्म का ही प्रतिरूप है। निर्गुणब्रह्म जगत की अपेक्षा से सगुण एवं अपर ब्रह्म है।

1.5 ब्रह्म की अभेद सत्ता

आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म सभी प्रकार के भेदों से रहित सत्ता है। ब्रह्म अभेद सत्ता है। ब्रह्म सजातीयए विजातीय एवं स्वागत, सभी प्रकार के भेदों से रहित सत्ता है। एक ही प्रकार की वस्तुओं के मध्य भेद सजातीय भेद है, जैसे–

एक गाय और दूसरी गाय में भेद। दो असमान वस्तुओं में विद्यमान भेद विजातीय भेद है, जैसे गाय और घोड़े में भेद। एक ही वस्तु में अंगागि भेद स्वागत भेद है, जैसे– किसी वृक्ष केक जड़, तना, शाखा आदि का भेद स्वागत् भेद है। आचार्य शंकर का मानना है कि ब्रह्म में सजातीय भेद नहीं है, क्योंकि उसके समान कोई अन्य सत्ता नहीं है। ब्रह्म में विजातीय भेद नहीं है क्योंकि ब्रह्म की कोई विरूद्धधर्मी सत्ता नहीं है। ब्रह्म में अंगागि भेद का अभाव होने के कारण स्वतगत भेद भी नही है। इस प्रकार ब्रह्म सभी प्रकार के भेदों से रहित निर्गुण निर्विशेष एवं निरुपाधिक सत्ता है। क्योंकि ब्रह्म में चित् एवं अचित् ये दोनों तत्व वि।मान हैं। इसलिए ब्रह्म में स्वागत भेद है। आचार्य शंकर का कहना है कि विश्वातीत रूप में ब्रह्म सभी प्रकार के उपाधियों से रहित है। यही कारण है कि शंकर पर ब्रह्म को ही निर्गुणब्रह्म मानते हैं। आचार्य शंकर का कहना है कि 'सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्य और अनन्त ज्ञान स्वरूप है) के रूप में जो ब्रह्म क परिभाषा दी जाती है। यद्यपियह परिभाषा ब्रह्म के तटस्थ लक्षण की अपेक्षा उसके स्वरूप की अधिक उपयुक्त परिभाषा मानी जा सकती है और इसे ब्रह्म का स्वरूप लक्षण भी कहा जाता हैए तथापि यह भी ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के निरूपणमें समर्थ नहीं मानी जाती है। ब्रह्म की यह परिभाषा भी केवल इतना ही संकेत देती है कि ब्रह्म का स्वरूप असत् और सान्त नहीं है और इस प्रकार यह केवल बुद्धि को ब्रह्म की ओर प्रेरित करती है।

1.6 आचार्य शंकर के अनुसार बह्म अनिवर्चनीय है।

आचार्य शंकर के अनुसार ब्रहम का निर्वचनीय बुद्धिकी कोटियों में वाणी धारा संभव नहीं है। ब्रहम निर्गुणएवं निर्विशेष होने के कारण गुणों एवं उपाधियों से रहित सत्ता है। ब्रहम पर जब भी कोई विशेषता आरोपित किया जाता है तो वह निरपेक्ष एवं असीमित नहीं रह जाता है। उद्देश्य के सम्बन्धों में किसी गुण का विधान करना मानों उस उद्‌देश्य को सीमित कर देना है। आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा भी ईश्वर को निर्गुणऔर अनिर्वचनीय सत्ता मानते हैं। स्पिनोजा का भी यह भी कहना है कि 'प्रत्येक विशेषता निषेधात्मक है (Every determination is a negation)। वस्तु में किसी गुण (विशेषणों) का विधान करने पर अन्य गुणों (विशेषणों) का निषेध हो जाता है। बुद्धि धारा ब्रहम को जानने के सभी प्रयास ब्रहम को सगुण एवं सविशेष ब्रहम के सम्प्रत्यय तक सीमित बना देता है। यही कारण है कि आचार्य शंकर उपनिषदों के 'नीति–नेति' की परिभाषा को ही ब्रहम की सर्वोत्तम व्याख्या मानते हैं अर्थात ब्रहम में यह गुण नहीं हैए ब्रहम में वह गुण नहीं है। इसी तरह किसी गुण का उपास्यता तक का ब्रहम में आरोप नहीं किया जा सकता। इसीलिए आचार्य शंकर ने पारमार्थिक स्तर पर केवल 'निर्गुणब्रहम की ही एकमात्र सत्ता स्वीकार करते हैं। आचार्य शंकर के धारा ब्रहम को अनिवर्चनीय कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रहम अज्ञेय है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में ब्रहम तर्कमूलक विचार से परे हैए किन्तु यह अज्ञेय नहीं है। यह सही है कि हम ज्ञान का विषय बनाकर ब्रहम को ही नहीं जान सकते हैंए किन्तु ब्रहम का अनुभव करने के अन्य साधन भी हैं। वस्तुतः ब्रहम का साक्षात्कार सामान्य अनुभव से नहीं हो सकताए अपितु उसे अपरोक्षानुभूति से जाना जा सकता है। अपरोक्षानुभूति में अनुभव का वह रूप हैए जिसमें ब्रहम होकर ब्रहम को जाना जाता है।

1.7 आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति्

आचार्य शंकर के अनुसार ब्रहम को अपरोक्षानुभूति से जाना जा सकता है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि एक विषय दूसरे विषय में भेद ज्ञाता–ज्ञेय का भेद और निर्गुणएवं सगुण ब्रह्म का भेद 'माया' की उपज है। उनका मानना है कि वस्तुतः एक ही तत्व है और अनेकत्व मिथ्या है। अखिल विश्व का आधार शुद्ध सत्ता मात्र हैए प्रत्येक विषय में ब्रह्म अभिव्यक्ति होता है। यद्यपि यह जगत अनेक नामरुपात्मक आभसित होता है, तथापि इसका एकमात्र अधिष्ठान ब्रह्म ही है। यही कारण है कि आचार्य शंकर उपनिषदों में बतायी गयी जीव और ब्रह्म की एकता का पूर्णतः समर्थन करते हैं। आचार्य शंकर अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म, तत्वमसि, अह्म ब्रह्मास्मि इत्यादि उपनिषदीय महावाक्यों के धारा जीव और ब्रह्म में यथार्थतः अभेद सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हैं। तात्विक दृष्टि से जीव और ब्रह्म अभिन्न है। वेदान्त के इसी शिक्षा के कारण आचार्य शंकर मत विशुद्ध ब्रह्म के अभिन्नता की अनुभूति को ब्रह्मानुभूति कहा है। यह ब्रह्मानुभूति अपरोक्षानुभूति हैए जिसमें आध्यात्मिक दृष्टि उन्नत मनुष्य को आत्मदर्पण या ब्रह्म साक्षात्कार होता है और वह स्पष्ट रूप से यह अनुभूति करता है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ब्रह्म को ही सत्ता से अनुप्राणित हो रहा है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर का ब्रह्म वह पारमार्थिक सत्ता हैए जिसके अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि शुद्ध सत् होने के कारण ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व का आश्रय है। ब्रह्म संसार के सभी परिच्छिन्न और परिवर्तनशील विषयों का मूल अधिष्ठान होने के कारण निमित्तपादेन'ववाद (Panentheism) कहलाता है। आचार्य शंकर निर्विशेष एवं निर्गुणब्रह्म को ही संसार का मूलतत्व या उपादान कहते हैं और इसी सत्ता को ही ब्रह्म कहते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार संसार के सभी विषयों की सत्ता परस्पर बाधित होने के कारण पूर्णतः सत्य नहीं मानी जा सकतीए केवल ब्रह्म ही एक ऐसी सत्ता है जो शुद्ध सत्ता होने के कारण सभी अनुभूत एवं संभाव्य विरोधों से रहित होने के कारण एकमात्र निरपेक्ष सत्य है। ब्रह्म शुद्ध सत्ता होने के कारण अपरिच्छिन्न एवं अनन्त स्वरूप है। आचार्य शंकर का यह स्पष्ट अभिमत है कि अपरिणामी एवं अपरिवर्तशील ब्रह्म में विकार या परिवर्तन नहीं हो सकते हैं। इसलिए संसार के सभी परिवर्तन या विकास ब्रह्म की 'माया' ही के खेल हैं। इस अव्यक्त माया का आश्रय होने के कारण ही ब्रह्म को सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। 'ईश्वर' को ही शंकर 'सगुण ब्रह्म' के रूप में निरुपित करते हैं और यह दिखाते हैं कि यह ब्रह्म का वह रूप है जो वास्तविक सृष्टि के पूर्व अव्यक्त माया के साथ रहता है। जब माया सूक्ष्म रूप में व्यक्त होती है तो उसका आधार 'हिरण्यगर्भ' (सूत्रात्मा या प्राण) कहलाता है। इस अर्थ में ब्रह्म का अर्थ है सकल सूक्ष्म विषयों की समष्टि। जब माया स्थूल रूप में अर्थात दृश्यमान विषयों में अभिव्यक्ति होती हैए तब उसका आधार ब्रह्म 'वै'वानर' (विराट) कहलाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म वह पारमार्थिक सत्ता है जो सभी सूक्ष्म और स्थूल विषयों की समष्टि है और जिसकी सत्ता के कारण ही नाम रुपात्मक प्रपंचात्मक जगत भी आभसित होता है।

1.8 रामानुज का ब्रह्म विचार

रामानुज सगुण ब्रह्म के रूप में ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता का प्रतिपादन करते हैं। रामानुज ईश्वर के विषिश्टाद्वैत स्वरूप का प्रतिपादन कियें हैं, क्योंकि इनके अनुसार ईश्वर या ब्रह्म चित् (जीव) और अचित् (अचेतन प्रकृति) दो तत्वों से विशिष्ट सत्ता है। रामानुज ईश्वर या सगुण ब्रह्म की ही एक मात्र सत्ता को स्वीकार करते हैं अर्थात उससे पृथक या स्वतंत्र किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। यद्यपि रामानुज यह स्वीकार करते हैं कि केवल ईश्वर की ही एकमात्र यथार्थ सत्ता हैए किन्तु ईश्वर में विशेषता के रूप में वि।मान चित् (जीव) और अचित् (अचेतन प्रकृति) भी यथार्थ है। इसीलिए रामानुज का अद्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद कहलाता है है, क्योंकि उनकी यह स्पष्ट मान्यता है कि चित् एवं अचित् अंशों से विशिष्ट होते हुए भी ब्रह्म एक ही है। रामानुज का ब्रह्म शंकर के ब्रह्म की भॉति भेदरहित सत्ता नहीं हैए अपितु उसमें भेद पाया जाता है। वेदान्त में सजातीयए विजातीय और स्वागत भेद माने गये हैं। रामानुज ब्रह्म को सजातीय एवं विजातीय भेद से तो रहित मानते हैंए किन्तु ब्रह्म में स्वागत भेद को स्वीकार करते हैंए क्योंकि उसमें वि।मान चित् एवं अचित् अंश दोनों ही एक दूसरे से भिन्न हैं।

1.9 रामानुज का ब्रह्म सगुण है

रामानुज का ब्रह्म सगुण है। रामानुज के अनुसार ब्रह्म अनन्त गुणों से युक्त है। रामानुज का ब्रह्म सर्वज्ञए सर्व'ाक्तिमान और परम दयालु होने के कारण सगुण है। 'रामानुज' का मानना है कि उपनिषदों में वर्णित निर्गुणब्रह्म की अवधारणा से आ'ाय यह है कि ब्रह्म में 'जीव' के हेय गुणों (राग–द्वेषादि) का अभाव होता है, क्योंकि ब्रह्म या ईश्वर ही सृष्टि की उत्पत्तिए स्थिति एवं लय के मूल अधिष्ठान हैं। रामानुज का कहना है कि जब प्रलय होता है और भौतिक विषय का ना'ा हो जाता हैए तब भी ब्रह्म में चित् एवं अचित् ये दोनों ही तत्व बीजावस्था में निहित रहते हैं। भौतिक विकारों के परिणाम स्वरूप विषय बनते– बिगड़ते और बदलते रहते हैंए किन्तु उनका आधारभूत तत्व सर्वदा वि।मान रहता है। इसी प्रकार जीवों के शरीर बनते–बिगड़ते रहते हैंए किंतु उसके चित् तत्व सर्वदा वि।मान रहते हैं। प्रलयावस्था में विषयों के अभाव में ब्रह्म शरीरी जीवों और भौतिक विषयों में व्यक्त होता है। ब्रह्म की इस व्यक्त अवस्था को रामानुज 'कार्य ब्रह्म' कहते हैं। वस्तुतः 'अव्यक्त ब्रह्म' जो 'कारण ब्रह्म' कहलाता हैए का उपनिषदों में जहाँ–तहाँ वर्णन हुआ है। उपनिषदों में जब ब्रह्म को 'नेति–नेति' (वाणी और मन से अगोचर) और सांसारिक विषयों को असत् कहा गया हैए वहाँ उपनिषदों का आ'ाय अव्यक्त ब्रह्म (कारण ब्रह्म) से ही होता है।

1.10 रामानुज के ब्रह्म का जीव और जगत् से सम्बन्ध

रामानुज के ब्रह्म के विषय में प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि जब चित् एवं अचित् स्वागत भेद से ब्रह्म के अंश हैंए तब भौतिक विकार का अर्थ हुआ ब्रह्म विचार। इस प्रकार ब्रह्म का परिणामी होना सूचित होता है। इसी प्रकार जब जीव ब्रह्म के वास्तविक अंश हैंए तब जीव के सुख–दुःख क्या ब्रह्म के सुख–दुख नहीं कहे सकते? ऐसी स्थिति में जगत् के सारे दोष ब्रह्म पर भी आरोपित हो जाते हैं। इन आपत्तियों का रामानुज अनेक प्रकार से निराकरण करने का प्रयास करते हैं। कभी वे शरीर एवं आत्मा की उपमा देते हुए कहते हैं कि जीव–जगत्

शरीर है और ईश्वर उसकी आत्मा है। जिस प्रकार आत्मा भीतर से नियंत्रण करता है उसी प्रकार ईश्वर जीव–जगत का नियंत्रण करता है। इसलिए ईश्वर अन्तर्यामी (भीतर से विश्व का नियंत्रण करने वाला) कहलाता है। इसी उपमा के सहारे रामानुज यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि ब्रह्म में कोई दुःख या दोष व्याप्त नहीं होता। जिस प्रकार शारीरिक विकारों या दोषों से ईश्वर प्रभावित नहीं होता। ईश्वर या ब्रह्म जगत के विकारों एवं दोषों से अतीत है। कभी–कभी रामानुज जीव–जगत् एवं ईश्वर के सम्बन्ध को समझाने के लिए राजा एवं प्रजा की उपमा देते हैं और यह दिखाते हैं कि जिस प्रकार राजा की आज्ञा के पालन या उल्ल?ान से प्रजा को जो सुख–दुख होता है उसका भागी राजा नहीं होता हैए उसी प्रकार जीव–जगत् के सुख–दुःख से ईश्वर के सम्बन्ध की विभिन्न प्रकार की व्याख्याओं से यह सूचित हौता है कि ईश्वर एवं जीव–जगत् के सम्बन्ध की विभिन्न प्रकार की व्याख्याओं से यह सूचित होता है कि ईश्वर एवं जीव–जगत् का ठीक क्या सम्बन्ध हैए इस विषय में रामानुज का सिद्धान्त बड़ा ही जटिल सा लगता है। रामानुज धारा ईश्वर एवं जीव–जगत् के सम्बन्ध को लेकर जितने भी समाधान दिये गये हैंए उसके सम्बन्ध राजा और प्रजा के सम्बन्ध से बिल्कुल भिन्न है और इन दोनों में किसी अंशी एवं अंश का सम्बन्ध नहीं है (जैसा ब्रह्म एवं जीव में माना जाता है) पुनः रामानुज ब्रह्म को वि'ोष्य और जगत् को उसका विशेषता मानते हैंए किन्तु यदि ऐसी बात है तो फिर जगत् में जो दोष है उनसे ब्रह्म अक्षुण्ण कैसे रह सकता है? रामानुज स्वयं भी इस कठिनाई का अनुभव किया है और एक जगह तो उन्होंने स्वीकार किया है कि ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप अपरिणामी है और जगत् के विकारों से वह विकृत नहीं होता है। यदि इस स्वीकारोक्ति को प्रामाणिक मान लिया जाए तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विचारशील भूततत्व ब्रह्म का यथार्थ आन्तरिक स्वरूप नहींए किन्तु उसका केवल एक बाह्य रूप है। परन्तु ऐसा मान लेने पर उनका यह मुख्य सिद्धान्त की भूत एवं जीव ब्रह्म के वास्तविक अंश हैंए काफी कमजोर पड़ जाता है। विकार'ीाल भूत और जीवों को ब्रह्म का वास्तविक अंश समझना और साथ ही ब्रह्म को अविकारी कहना इन दोनों परस्पर बातों को मानने से रामानुज के विषिश्टाद्वैत सिद्धान्त में कुछ दुविधा और कठिनाई आ गयी हैए जिसका समुचित समाधान उनके दर्शन में नहीं मिलता है।

1.11 रामानुज का ईश्वर उपासना का विषय है।

रामानुज का ईश्वर सम्बन्धी विचार पाश्चात्य दर्शन के थीज्म (Theism) के सदृश है। थीज्म का संकुचित अर्थ है– ऐसे ईश्वर में विश्वास। जो जगत में व्याप्त है और उससे परे भी हैए जिनका कोई विशिष्ट व्यक्तित्व है और जो अपनी इच्छा शक्ति के धारा किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जगत् की सृष्टि करते हैं। रामानुज ईश्वर में ऐसे सभी गुणों को स्वीकार करते हैं जो किसी भी भक्त की भावना की संतुष्टि के लिए आवश्यक है। रामानुज का ईश्वर साधक या भक्त के लिए उपासना का विषय और धार्मिक साधना का लक्ष्य होने के कारण अपने भक्तों के प्रति दयावान होता है। रामानुज का ईश्वर हथगुणरहित और अशेष कल्याण गुण सागर है। ईश्वर ही नारायण या वासुदेव हैए उनकी पत्नी लक्ष्मी हैंए शुद्ध तत्व निर्मित बैकुण्ठ उनका निवास है। वे सर्वज्ञए सर्वशक्तिमान और करूणासागर हैं। उनके दिव्यगुण नित्यए शुद्ध और अनन्त है। उनका ज्ञान आनन्दए प्रेमए ऐ'वर्यए बलए शक्तिए कृपा आदि अपार है। यद्यपि रामानुज का ईश्वर एक है किन्तु अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के कारण स्वयं पाँच रुपों में प्रकट करते हैं। अन्तर्यामीए परए व्यूहए विभव और अर्यावतार। चिद्चित् रूप विश्व में अन्तयार्मी आत्मा के रूप में व्याप्त रहकर उसका नियमन करना ईश्वर का अन्तर्यामी रूप है। ईश्वर का

दूसरा रूप 'पर' हैए जिसमें वे 'परस्पर नारायण' या वासुदेव के रूप में व्यक्त होते हैं। ईश्वर का तीसरा रूप 'व्यूह' है जिसमें वे चर्तुव्यू हके रूप में प्रकट होते हैं।

रामानुज ईश्वर के 'चर्तुव्यूह' रूप में ईश्वर के जिन चार रुपों का उल्लेख किया है, वह वासुदेवए संकर्षण प्रद्युन्न और अनिरुद्ध है। चर्तुव्यूह में प्रथम रूप पर वासुदेव से भिन्न भगवत् तत्व है। ईश्वर का दूसरा व्यूह रूप संकर्षण है। जो जीव तत्व या बुद्धितत्व का नियन्ता है। ईश्वर का तीसरा व्यूह रूप प्रद्युन्न मनस्तत्व के नियन्ता हैं और चौथा व्यूह रूप अनिरुद्ध अहंकार के नियन्ता हैं।

रामानुज ईश्वर के जिन पाँच रुपों का वर्णन किया हैए उसमें ईश्वर का चौथा रूप 'विभव' या अवतार है। ईश्वर का पाँचवा रूप 'अर्यावतार' है जिसमें वे भक्तों पर असीम कृपा के कारण श्रीरङग्म आदि के प्रसिद्ध मन्दिरों की मूर्तियों के रूप में प्रकट होते हैं। रामानुज ने ईश्वर क सम्बन्ध में ये विचार भा•वत सम्प्रदाय से लिये हैं।

रामानुज ब्रह्म के विषय में निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि रामानुज 'त्रितयं ब्रह्म एतत्' अर्थात तत्व लीन हैं– अचित्ए चित् और ईश्वर और ये तीनों सम्मिलित रूप में ब्रह्म हैं। रामानुज के विषिश्टाद्वैत में चित् और अचित् की सत्ता परतंत्र और गौण है तथा ईश्वर की ही स्वतंत्र और मुख्य सत्ता है। इस प्रकार रामानुज के ब्रह्म की अवधारणा में ईश्वर ही एकमात्र तत्व या स्वतंत्र सत्ता है और चित्त तथा अचित ईश्वर के गुण मात्र हैं। वस्तुतः रामानुज अपने विशिष्टाद्वैतवाद में अद्वैत के साथ ही द्वैत को भी तात्विक दृष्टि यथार्थ मानना चाहते हैंए जो तर्कसंगत नहीं है। वास्तविकता यह है कि अद्वैत के साथ व्यावहारिक द्वैत ही संगत हो सकता हैए तात्विक द्वैत नहीं। परन्तु रामानुज वैष्णव आगम के प्रभाव के कारण तात्विक वस्तुवाद से चिपके रहे हैं। यह तो रामानुज के समक्ष उत्पन्न समस्या का कोई समुचित समाधान नहीं है। औपनिषद अद्वैतवाद और तात्विक द्वैतवाद का समन्वय असम्भव है। रामानुज ने चिदचित को विशेषता या गुण के स्तर पर रखा हैए किन्तु वस्तुवाद के प्रबलमोह के कारण चिद्चित को भी ईश्वर के समान तत्व या नित्य पदार्थ स्वीकार कर लिया है। रामानुज यह समझने की भूल कर बैठते हैं कि निरपेक्षवाद और बहुत्वाद एक साथ नहीं रह सकते और इस प्रकार विरोधी विचारधारा का ही वे अपने विशिष्टाद्वैतवाद में प्रतिवाद कहते हैं। रामानुज ब्रह्म के विषय में यह विचार व्यक्त किये हैं कि ईश्वर की आत्मा नित्य और पूर्ण है किन्तु शरीर विकारास्पद और कर्म–तंत्र है। आचार्य शंकर रामानुज के इस प्रकार के ब्रह्म के विषय में कहते है कि यह उसी प्रकार का कथन हैए जिसे यह कहा जाए कि मुर्गी का आधा भाग पका लिया जाए और आधा भाग अण्डे देने के लिए सुरक्षित रखा जाय।

1.12 शंकर के ब्रह्म एवं रामानुज के ब्रह्म की तुलनात्मक व्याख्या

शंकर एवं रामानुज दोनों ही ब्रह्म को सत्य माना है। दोनों ही एकमात्र ब्रह्म को ही परम सत्य मानने केक कारण एकतत्ववादी है। परन्तु आचार्य शंकर ने अपने ब्रह्म को अद्वैतवाद के रूप में वर्णित किया हैए क्योंकि शंकर ने ब्रह्म की निषेधात्मक व्याख्या की है और यह दिखाया है कि 'ब्रह्म क्या नहीं है'। शंकर की ब्रह्म निरूपणमें निषेधात्मक प्रवृत्ति इतनी तीव्र है कि वह ब्रह्म को एक कहने के बजाय अद्वैत कहता है। शंकर अपने ब्रह्म को 'अद्वैत' इसलिए भ्ज्ञी कहते हैं कि

क्योंकि ब्रह्म की पारमार्थिक दृष्टि से सत्य है और ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता पारमार्थिक रूप से सत्य नहीं है। इतना ही नही शंकर ने आत्मा एवं ब्रह्म और ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध की व्याख्या इस प्रकार की हैए जिससे उनके अद्वैतवाद मत की ही पुष्टि होती है। उनका यह स्पष्ट मानना है कि आत्मा और ब्रह्म में अभेद है। यद्यपि रामानुज भी शंकर की ही भॉति ब्रह्म को ही एकमात्र सत मानते हैं किन्तु रामानुज का ईश्वर या ब्रह्म एक विशेष अर्थ में एकतत्ववाद का उदाहरण कहा जा सकता हैए क्योंकि ब्रह्म में तीन तत्व सम्मिलित हैं– अचित्ए चित् एवं ईश्वर। रामानुज ईश्वर को चित् और अचित् की आत्मा मानते हैंए जबकि चित् और अचित् ईश्वर की शरीर है। रामानुज के अनुसार यद्यपि ब्रह्म तीन तत्वों की समष्टि हैए फिर भी वह अद्वैत है। रामानुज ब्रह्म को विशेष्य और अचित् और चित् को ब्रह्म का विशेषता मानते हैंए इसलिए उनका ब्रह्म विषिश्टाद्वैतया विशिष्ट अर्थ में अद्वैत कहा जाता है। इस प्रकार शंकर एवं रामानुज दोनों ही वेदान्त दर्शन के प्रबल समर्थक होते हुए भी ब्रह्म के सम्बन्ध में भिन्न–भिन्न विचारों को व्यक्त किये हैंए जो निम्नलिखित है–

शंकराचार्य एवं रामानुज के अनुसार ब्रह्म की अवधारणा

1. शंकर का ब्रह्म निर्गुणहैए जबकि रामानुज का ब्रह्म सगुण है। शंकर का ब्रह्म अमूर्त हैए इसलिए वह निर्गुण निराकार एवं निर्विशेष है। रामानुज का ब्रह्म व्यक्तित्व सम्पन्न हैए इसलिए रामनुज ब्रह्म में शुद्धताए सुन्दरताए शुभए धर्मए दया आदि गुणों का समावे'ा मानते हैं। उपनिषद में ब्रह्म को 'निर्गुण कहा गया है। जहाँ शंकर निगुर्ण का तात्पर्य ब्रह्म के निषेधात्मक वर्णन से लिया है वहीं रामानुज का तात्पर्य है कि ब्रह्म में दुर्गणों का अभाव है।

2. आचार्य शंकर का ब्रह्म व्यक्तित्व रहित सत्ता हैए जबकि रामानुज का ब्रह्म व्यक्त्वपूर्ण सत्ता है। शंकर के ब्रह्म में आत्मा और अनात्मा के बीच भेद नहीं किया जा सकता किन्तु रामानुज के ब्रह्म के निरूपणमें आत्मा एवं अनात्मा के बीच भेद स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। वस्तुतः आचार्य शंकर केवल ब्रह्म को ही पारमार्थिक दृष्टि से सत्य माना है, जबकि रामानुज ब्रह्म को अचित्–चित् एवं ईश्वर को समवेत रूप माना है।

3. आचार्य शंकर का ब्रह्म सभी प्रकार के भेदों से रहित है। वेदान्त दर्शन में तीन प्रकार के भेद का उल्लेख किया गया है–सजातीयए विजातीय और स्वागत। आचार्य शंकर का कहना है कि ब्रह्म के समान कोई दूसरा तत्व नहीं है। ब्रह्म में विजातीय भेद नहीं हैए क्योंकि ब्रह्म से भिन्न कोई तत्व नहीं है। ब्रह्म में स्वागत भेद नहीं हैए क्योंकि ब्रह्म निरवयव है।

रामानुज ब्रह्म में स्वागत भेद मानते हैं। रामानुज के अनुसार ब्रह्म के अन्दर तीन तत्व हैं– चित्ए अचित और ईश्वर। ब्रह्म एवं चित् तथा अचित में वि'ोष्य और विशेषता के रूप में भेद रहने के कारण ब्रह्म के अन्दर स्वागत भेद है।

4. आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म और ईश्वर के बीच भेद किया गया है। आचार्य शंकर का यह स्पष्ट अभिमत है कि–'ब्रह्मसत्यंजगिन्मथ्या जीवो ब्रह्मैवनापरः' ब्रह्म की एकमात्र सत्य हैए जगत मिथ्या है और जीव तथा ब्रह्म अभिन्न हैं। आचार्य शंकर पारमार्थिक दृष्टि से केवल निर्गुणब्रह्म को ही सत् मानते हैं और जीव जगत् तथा ईश्वर की व्यावहारिक दृष्टि से सत्यता को मान्यता प्रदान करते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है जो कि व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से असत्य है। वस्तुतः आचार्य शंकर ने सत्ता के तीन स्तर माने हैं– पारमार्थिकए व्यावहारिक और प्रतिभासिक। पारमार्थिक सत्य त्रिकाल अबाधित होता है। व्यावहारिक सत्य पारमार्थिक सत्य से बाधित हो

जाता है। प्रतिभासिक सत्य वह है जिसके अन्तर्गत स्वप्नए भ्रम इत्यादि रखे जाते हैं। इस प्रकार सत्ता की तीनों स्तरों में ब्रह्म ही केवल वह सत्ता है जिसका कभी तथा किसी काल में बाध नहीं होता हैए इसलिए वह ही पारमार्थिक दृष्टि से सत्य है। शंकर ने निर्गुणब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म के भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ईश्वर मायोपहित ब्रह्म हैए इसलिए माया ईश्वर की शक्ति हैए जिससे जगतकर्त्तृत्व की क्रिया में संलग्न होता हैए जबकि निर्गुणब्रह्म में माया शक्ति से ब्रह्म बिल्कुल अप्रभावित बना रहता है। इस प्रकार आचार्य शंकर ईश्वर को स्रष्टाए पालनकर्त्ता एवं संहारकर्त्ता मानते हैं।

रामानुज अपने विषिश्टाद्वैतमें ब्रह्म एवं ईश्वर में कोई भेद नहीं मानते हैं और ब्रह्म एवं ईश्वर शब्द का प्रयोग एक ही सत्ता के अर्थ में करते हैं। रामानुज का ईश्वर चित्–अचित् से विशिष्ट सत्ता है और धार्मिक व्यक्ति एवं भक्त के उपासना का विषय है।

5. आचार्य शंकर अपने अद्वैत वेदान्त में पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र ब्रह्म को ही सत्य मानने के कारण ब्रह्म विवर्तवाद का प्रतिपादन करते हैंए जबकि रामानुज अपने विशिष्टाद्वैतवाद में ब्रह्म परिणामवाद का समर्थन करते हैं क्योंकि रामानुज के अनुसार ब्रह्म का ही अचित् एवं चित् अंश हैए इसलिए ब्रह्म जितना सत्य है उतना ही सत्य अचित् एवं चित् है। चूँकि सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म का ही कार्य है और ब्रह्म सृष्टि का मूल कारण हैए इसलिए रामानुज 'ब्रह्म परिणामवाद' का प्रतिपादन करते हैं।

6. शंकर का ब्रह्म अमूर्त होने के कारण निराकार है तथा पारमार्थिक रूप से केवल ब्रह्म ही सत्य है किन्तु रामानुज का ब्रह्म मूर्त होने के कारण उतना ही सत्य है जितना कि जीव एवं जगत। इसलिए रामानुज ईश्वरए जीव और जगत् तीनों के ही सत्यता का प्रतिपादन करते हैं।

7. आचार्य शंकर का मानना है कि आत्मा एवं ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ब्रह्म हो जाता है – 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' जबकि रामानुज के अनुसार ब्रह्म की कृपा और उसकी कृपा से उत्पन्न ज्ञान से व्यक्ति केवल ब्रह्म के सदृश हो जाता हैए वह स्वयं ब्रह्म नहीं हो सकता।

1.13 निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर एवं रामानुज दोनों ही अपने मतो का पोषण प्रस्थानत्रयी (उपनिषदए भगवतगीता एवं ब्रह्मसूत्र) के आधार पर ही करते हैं और दोनों ही उपनिषद को ही मूल प्रस्थान मानते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि आचार्य शंकर ने ब्रह्म का निरूपणही औपनिषद दर्शन हैए क्यों कि आचार्य शंकर ने ब्रह्म का निरूपणकरते हुए जिस प्रकार ब्रह्म के अद्वैत स्वरूप का युक्तियुक्त रूप में प्रतिपादन किया हैए वह रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद में संभव नहीं है। आचार्य शंकर ने निर्गुणब्रह्म पारमार्थिक दृष्टि से एक मात्र सत् है और वह निरवयव होने के कारण सभी प्रकार के भेदों से रहित हैए वहीं रामानुज का ब्रह्म या ईश्वर पारमार्थिक दृष्टि से सत्य होते हुए भी स्वागत भेदों से युक्त हैए जिससे उनके ब्रह्म सम्बन्धी अवधारणा में जो दोष उत्पन्न हुए और जो आपत्तियां उठायी गयी हैंए उनका वे कोई समुचित समाधान नहीं कर सके हैं। यही कारण है कि वेदान्त दर्शन के जितने सम्प्रदाय प्रचलित हुए हैं उसमें सबसे

अधिक प्रचलित और लोकप्रिय आचार्य शंकर का अद्वैत वेदान्त ही है। कुछ भी हो किन्तु इतना स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जहाँ आचार्य शंकर अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के ज्ञान को अपरोक्षानुभूति का विषय माना हैए वहीं रामानुज उसे उपासना का विषय बनाकर ब्रह्म के अनुग्रह को सर्वसामान्य तक सुलभ बना दिया है। शंकर एवं रामानुज दोनों ने ही मानव जीवन का प्रमुख लक्ष्य ब्रह्मानुभूति को माना है। यद्यपि शंकर और रामानुज दोनों ही ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठा करना ही अपने दर्शन का लक्ष्य माना है किन्तु दोनों ने ही ब्रह्मविद्या की प्रतिष्ठा में भिन्न–भिन्न दृष्टिकोंण के आधार पर किया है।

1.14 सारांश

अद्वैत के प्रमुख दार्शनिक शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत् है। जगत मिथ्या है और जीव भी परमार्थतः ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के दो लक्षण प्राप्त होते है– तटस्थ लक्षण एवं स्वरूप लक्षण है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के त्रितीय सूत्र 'जन्मा।स्य यतः' धारा ब्रह्म के तटस्थ लक्षण का ही निरूपण किया है। उनके अनुसार जगत् वास्तविक उत्पत्ति नहीं होती हैए केवल उसकी उत्पत्ति का आभास होता है। इस प्रकार जगत्ए कारजत्वए ब्रह्म का औपाधिक गुण हैए वास्तविक स्वरूप नहीं है क्योंकि ब्रह्म का 'सृष्टि' केवल व्यावहारिक दृष्टि से सत्य हैए 'परमार्थिक दृष्टि' से नही। ब्रह्म का स्वरूप लक्षण 'सच्चिदानन्द' एवं 'सत्यंज्ञनमनन्तम' है।

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म के दो रूप होते हैं– 'निर्गुणएवं सगुण'। ब्रह्म निर्गुण है, क्योंकि बुद्धिधारा कल्पित कोई भी रूप उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। जगत के कारण की दृष्टि से ब्रह्म सगुण है, वह ईश्वर है। परन्तु अद्वैत वेदान्त में सगुण ब्रह्म की अवधारणा अध्यासगार्भित है। सगुण ब्रह्म की केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही उपयोगी है। निर्गुण ब्रह्म सगुण ब्रह्म का व्याघाती नहीं है, बल्कि उसका अन्तस्थ सत्य है। वास्तविकता यह है सगुण ब्रह्म एवं निर्गुण ब्रह्म तात्विक दृष्टि से एक ही है, जगत् की अपेक्षा जो सगुण है, वही निरपेक्ष रूप से निर्गुणहै।

अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म सजातीयए विजातीय एवं स्वागत सभी भेदों से रहित है। सभी प्रकार के भेदों से रहित होने के कारण उसकी अभेद सत्ता है। वह निर्गुणएवं निर्विशेष सत्ता होने के कारण अनिर्वचनीय है। नेति–नेति के रूप में उसका निर्वचन संभव है।

इस प्रकार अद्वैतवादी शंकराचार्य एवं विषिश्टाद्वैत वादी रामानुज ब्रह्म की अवधारणा में निम्नलिखित भेद है–

1. शंकाराचार्य के अनुसार ब्रह्म निर्गुणएवं सगुण दोनों है। पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म निर्गुणहै किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सगुण है।

रामानुज के अनुसार ब्रह्म केवल सगुण एवं सविशेष है। वह कभी भी निर्गुणएवं निर्विशेष नही हो सकता।

2. शंकराचार्य का ब्रह्म सजातीयए विजातीय एवं स्वागत सभी प्रकार के भेदों से रहित है।

रामानुज का ब्रह्म स्वागत भेद से युक्त है। रामानुज का ईश्वर चित् एवं अचित् की अपृथकसिद्ध एकता है। 'चिदचिद्धिशिष्ट' ब्रह्म के रूप में परमसत्ता का निरूपण

करने के कारण ही उनका दर्शन विशिष्टाद्वैतवाद कहा जाता है। उनके अनुसार अद्वैत सदैव द्वैत विशिष्ट होता है।

3. शंकर का ब्रह्म व्यक्तित्वरहित एवं अमूर्त है। रामानुज का ब्रह्म व्यक्तित्वपूर्ण एवं मूर्त सामान्य है। ब्रह्म को अमूर्त कहना व्यावहारिक बुद्धिएवं धार्मिक मांग की उपेक्षा करना है। वेद ब्रह्म को शुभ गुणों से युक्त मानते हैं।

4. शंकर ब्रह्म एवं ईश्वर में भेद करते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता है और ईश्वर ब्रह्म का विवर्तमात्र है। परन्तु रामानुज सगुणए सविशेष एवं व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर को ही ब्रह्म मानते हैं और ब्रह्म एवं ईश्वर में कोई भेद नहीं है।

5. शंकर एवं रामानुज दोनों ही ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहते हैं। परन्तु जहां शंकर की दृष्टि में सत्ए चित् एवं आनन्द ब्रह्म के गुण न होकर स्वरूप हैं, वहीं रामानुज सत् चित् एवं आनन्द को ब्रह्म का गुण मानते हैं।

6. शंकर की दृष्टि में माया ब्रह्म की उपाधिमात्र हैए नित्य स्वरूप नहींए किन्तु रामानुज माया को ब्रह्म का नित्य अंश मानते है।

शंकराचार्य मायोपहित ब्रह्म को ईश्वर कहते हैं। यह ब्रह्म का सर्वोच्च आभासस है। वह सृष्टिकर्ता, पालक एवं संहारक है। ईश्वर सृष्टि में अन्तर्यामी हैए किन्तु विश्वातीत है। परमार्थः ईश्वरस एवं ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। ईश्वरस निर्वैयाक्तिक ब्रह्म का व्यक्तित्वयुक्त रूप है। अतएव शंकर ईश्वर को जगत् का 'अभिन्ननिमित्तोपादान कारण' स्वीकार करते हैं।

रामानुज ब्रह्म के दो रूप मानते हैं– कारण ब्रह्म एवं कार्य ब्रह्म। कारण ब्रह्म की अवस्था में चित् एवं अचित सूक्ष्मावस्था में स्थित होते हैं। चित् एवं अचित् दोनों स्थूल होकर जब नाम रूप धारण कर लेते हैं तो यह ब्रह्म की कार्यावस्था होती है। और इसे कार्य ब्रह्म कहते हैं। रामानुज ईश्वर को 'विष्णु' कहते हैं और 'विष्णु' के पाँच रुपों की चर्चा करते हैं– पराए व्यूहए विभवए अन्तर्यामी एवं चतुर्विध है– वासुदेवए संकर्षणए प्रद्युम्न एवं अनिरु)। इन विभिन्न रुपों में ईश्वर उपासना का विषय है तथा अपने भक्तों पर करूणा करता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर ज्ञान–मार्ग के पोषक होने के कारण तार्किक दृष्टि से जहाँ एक मात्र निरपेक्ष रूप से निर्गुणब्रह्म की सत्ता का प्रतिपादन करते हैं वहीं भक्ति मार्ग के समर्थक होने के कारण रामानुज सगुण ब्रह्म के रूप में ईश्वर के व्यक्तित्वपूर्ण स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। आचार्य शंकर एवं रामानुज भिन्न–भिन्न सम्प्रदायों की स्थापना करते हुए भी अपना लक्ष्य ब्रह्म का साक्षात्कार की बनाया है। यद्यपि शंकर एवं रामानुज के ब्रह्म की अवधारणा के विषय में दृष्टिकोण की भिन्नता पायी जाती है। किन्तु दोनों ही अपने मत के प्रतिपादन का आधार प्रस्थानत्रयी को ही बनाया है।

1.15 बोध प्रश्न

1. आचार्य शंकर के ब्रह्म विषयक अवधारणा का विवेचन कीजिये।
2. रामानुज के ब्रह्म के अवधारणाा का निरूपण कीजिये।
3. आचार्य शंकर एवं रामानुज के ब्रह्म विषयक अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उसके भेदों को स्पष्ट कीजिये।

4. आचार्य शंकर के धारा ब्रह्म के निर्गुणएवं सगुण स्वरूप का विवेचन कीजिये।

शंकराचार्य एवं रामानुज के अनुसार ब्रह्म की अवधारणा

5. रामानुज का ईश्वर चिदचिद्विशिष्ट है– समीक्षात्मक विवेचन कीजिये।

1.16 सहायक पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन – चटर्जी एवं दत्त
2. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण–डॉ. संगम लाल पाण्डेय भारतीय दर्शन

****

इकाई–2
शंकराचार्य और रामानुज

मायावाद (शंकर और रामानुज के अनुसार)

<u>इकाई की रुपरेखा</u>

2.0 उद्‌देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में माया

2.3 माया का निवास ब्रह्म में है।

2.4 मायाए अविद्या और भ्रम

2.5 शंकर एवं रामानुज के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण

2.6 परिणामवाद और विवर्तवाद

2.7 आचार्य शंकर माया को अध्यासरूप मानते हैं।

2.8 आचार्य शंकर के अनुसार यथार्थ प्रत्यक्ष और भ्रम में भेद

2.9 आचार्य शंकर के मायावाद की सामान्य विशेषताएं

2.10 रामानुज धारा शंकर के मायावाद की आलोचना

- 2.10.1 आश्रयानुपपत्ति
- 2.10.2 तिरोधानानुपपात्ति
- 2.10.3 स्वरुपानुपपात्ति
- 2.10.4 अनिर्वचनीयानुपपात्ति
- 2.10.5 प्रमाणानुपपात्ति
- 2.10.6 निर्वतकानुपपात्ति
- 2.10.7 निवृत्यानुपपात्ति

2.11 निष्कर्ष

2.12 सारांश

2.13 बोध प्रश्न

2.14 सहायक पुस्तकें

2.0 उद्देश्य

आचार्य शंकर ने एक ओर सृष्टि का वर्णन किया हैए दूसरी ओर नाना विषयात्मक जगत् की मिथ्या कहा है। इन दोनों बातों का सामंजस्य कैसे किया जाय? यदि सृष्टि को सत्य मानते हैं तो फिर नाना रुपात्मक जगत् की सत्यता को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है? इस प्रकार के प्रश्न के साथ ही आचार्य शंकर इस प्रश्न पर भी विचार करते हैं कि यदि ब्रह्म वस्तुतः निर्गुणऔर निर्विकार हैए तो फिर वह सृष्टिकर्त्ता कैसे हो सकता है। यदि उसका कर्त्तृत्व सत्य है तो वह निर्गुणऔर अविकारी कैसे है? ये दोनों ही बातें एक साथ कैसे सत्य हो सकती हैं? पुनश्च शास्त्रों में यह बात कही गयी है कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर नानात्व दूर हो जाता है। यदि सृष्टि को सत्य मान लिया जाय तो यह भी समझ में नहीं आ सकता कि ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर कैसे नानात्व दूर हो जाता है? यदि जगत् सत्य है तो तिरोहित कैसे हो जाता है? ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर केवल मिथ्या ज्ञान (सत् में असत् की प्रतीति) का बाध हो सकता है। यदि जगत् सत्य है तो उसके नानात्व ज्ञान का कैसे बोध होगा? आचार्य शंकर ने जगत् एवं ब्रह्म के सम्बन्ध को लेकर उठने वाले अनेक प्रकार के प्रश्नों का समाधान मायावाद के धारा करने का प्रयास किये हैं।

2.1 प्रस्तावना

आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में 'माया' की अवधारणा के धारा ब्रह्म को एकमात्र पारमार्थिक दृष्टि से सत्य सिद्ध किया है तथा प्रपंचात्मक जगत् को ब्रह्म के माया शक्ति की उपज बताया है। इसलिए आचार्य शंकर के अद्वैतवाद 'माया' की अवधारणा से पृथक करके समझा जा सकता है। आचार्य शंकर की यह स्पष्ट मान्यता है कि ब्रह्म एक निर्गुणनिर्विशेष एवं भेदरहित सत्ता है। उससे भिन्न कोई ऐसी सत्ता नहीं है जिसे त्रिकाल में अबाधित सत्ता के रूप में सत्य माना जाय? परन्तु सांसारिक जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य यह अनुभव करता है कि नाना रुपात्मक प्रपंच जगत की जो प्रतीति होती है क्या इसे नितान्त असत् मान लिया जाय? आचार्य शंकर को पारमार्थिक दृष्टि से सत्य मानने के साथ–साथ व्यावहारिक सत्य और प्रतिभासिक सत्य की भी बात करते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार जगत् व्यावहारिक रूप में सत्य हैं। उन्होंने प्रतिभासिक सत्ता के अन्तर्गत स्वप्नए भ्रम इत्यादि को रखा है। जिसका बाध यथार्थ ज्ञान से हो जाता है। प्रायः सभी ईश्वरवादियों के लिए ईश्वर की पारमार्थिक सत्ता के साथ जगत् जीव प्रपंच का सामंजस्य स्थापित करना कोई समुचित समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं। आचार्य शंकर ने अपने अद्वैत वेदान्त में इस समस्या के समाधान के लिए 'माया' की अवधारणा को प्रस्तावित किया है।

2.2 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में माया

आचार्य शंकर ने माया की अवधारणा के धारा निर्गुण निर्विशेष एवं निर्विकार ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत एवं जीवों की अनेकता का प्रतिपादन करते हैं। आचार्य शंकर के पूर्व सबसे पहले माया शब्द का प्रयोग 'त्ररग्वैद' में मिलता हैए जहाँ यह कहा गया है कि ''एक ही इन्द्रिय माया के प्रभाव से नाना रुपों में प्रकट होती है श्वेता'वर उपनिषद में कहा गया है कि–'माया तु प्रकृतिं विद्यात–मयानि तु महे'वरम' अर्थात ब्रह्म की माया प्रकृति है।'' आचार्य शंकर ने ब्रह्म एवं जगत के

सम्बन्ध की समुचित व्याख्या के लिए 'माया' की अवधारणा का सहारा लेते हैं। आचार्य शंकर ने अपने अद्वैत वेदान्त में 'माया' और अविद्या को पयार्यवाची के रूप में प्रयोग किया था। आचार्य शंकर ने 'माया' के लिए अविद्याए अध्यासए अध्यारोपए भ्रान्तिए विर्वतए भ्रमए नामरुपए अव्यक्तए मूल प्रकृति आदि शब्दों से व्यवहृत किया है। परन्तु आचार्य शंकर परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों ने 'माया' और 'अविद्या' का प्रयोग एक ही अर्थ में न करते हुए 'माया' और अविद्या में भेद किया। आचार्य शंकर के परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि 'माया' भावात्मक है और अविद्या निषेधात्मक है। माया को भावात्मक इसलिए कहा जाता है कि माया के धारा ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व की रचना करता है। माया विश्व को प्रस्थापित करती है। 'अविद्या' माया के विपरीत ज्ञान के अभाव को संकेत करने के कारण निषेधात्मक है। 'माया' और 'अविद्या' में अन्य अन्तर यह है कि 'माया' ईश्वर को प्रभावित करती है जबकि अविद्या जीव को प्रभावित करती है। माया और अविद्या में यह भी अन्तर है कि माया का अर्विभाव मूलतः सत्व गुण से हुआ हैए जबकि सत्व रज और तम तीनों गुणों के सम्मिलित रूप से अविद्या का अर्विभाव हुआ हैए इसलिए माया का स्वरूप सात्विक है और अविद्या का स्वरूप त्रिगुणात्मक है। ब्रह्म

2.3 माया का निवास ब्रह्म है।

माया के सम्बन्ध में प्रायः यह प्रश्न उठता है कि माया का निवास स्थान कहाँ है? दूसरे शब्दों में माया रहती कहाँ है? शंकर का कहना है कि माया का निवास स्थान ब्रह्म है। आचार्य शंकर का कहना है कि चूँकि ब्रह्म अपरिवर्तनशील सत्ता हैए इसलिए ब्रह्म माया का आश्रय होते हुए भी माया से प्रभावित नहीं होता है। आचार्य शंकर अपनी बात को एक उदाहरण धारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार रुपहीन आकाश पर आरोपित नीले रंग का प्रभाव आकाश पर नहीं पड़ता तथा जिस प्रकार जादूगर के जादू की प्रवीणता का प्रभाव स्वयं जादूगर पर नहीं होता हैए उसी प्रकार माया का प्रभाव भी ब्रह्म पर नहीं पड़ता। 'माया' ब्रह्म की शक्ति है। माया ब्रह्म में उसी प्रकार वि।मान रहती है जिस प्रकार अग्नि की दाहकता अग्नि से अभिन्न है। इसी माया की शक्ति के धारा ब्रह्म नानारुपात्मक सृष्टि की अद्भुत लीला दिखलाते हैं। इस लीला को अज्ञानी सत्य समझने लगते हैंए किन्तु जो तत्वज्ञानी हैंए वे इस लीला को समझ जाते हैं और इस मायाभय संसार में केवल ब्रह्म ही उन्हें सत्य ज्ञान पड़ता है। इस प्रकार आचार्य शंकर यह स्पष्ट करते हैं कि माया ब्रह्म की शक्ति हैए जिसके धारा ब्रह्म नानारुपात्मक जगत को उपस्थित करता है।

2.4 माया, अविद्या और भ्रम

जीवन में साधारणतः किस प्रकार भ्रम होते हैंए इसे यदि हम समझने की कोi'ा करेंए तो यह देखने में आता है कि वास्तविक अधिष्ठान या आधार का ज्ञान नहीं रहने के कारण भ्रम उत्पन्न होता है। जैसे रस्सी का यथार्थ ज्ञान नहीं होने के कारण उसमें साँप का भ्रम उत्पन्न होता है। यदि हम रस्सी को रस्सी जानते तो उसके विषय में भ्रम नहीं होता। परन्तु रस्सी का ज्ञान मात्र भ्रम का कारण नहीं हैए क्योंकि वैसी स्थिति में जिसे रस्सी का ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ वह सदैव साँप ही साँ^प देखा करता। जिस अविद्या के कारण भ्रम उत्पन्न होता हैए वह केवल अधिष्ठान का आवरण ही नहीं करती उस पर विक्षेप भी कर देती है। आवरण का अर्थ है यथार्थ स्वरूप को ढक देना। विक्षेप का अर्थ है उस पर दूसरी

वस्तु का आरोप कर देना है। ये दोनों ही अविद्या या अज्ञान के कार्य हैंए जिनसे हमारे मन में भ्रम पैदा होता है।

आचार्य शंकर ने 'माया' और 'अविद्या' को एक ही प्रकार का मानते हुए यह दिखाते हैं कि जिस प्रकार कोई जादूगर जादू का खेल दिखाकर हमें भ्रम में डाल देता है (जैसे एक ही सिक्के को अनेक सा बनाकर दिखा देता है, तब दर्शक भ्रम में पड़ जाते हैं। किन्तु स्वयं बाजीगर उस भ्रम में नहीं पड़ता। हममें वह भ्रम या अविद्या अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है। जिसके कारण वस्तु का स्वरूप छिप जाता है और उसके स्थान पर दूसरी वस्तु दिखायी पड़ती है। यदि कोई दर्शक उस एक सिक्के का वास्तविक रूप ही देखता रहे तो जादू की जादूगरी उसे भ्रमित नहीं कर सकतीए यह तो हमारी दृष्टि के दोष के कारण हुआ। जादूगर की दृष्टि से वह भ्रम केवल माया करने की शक्ति हैए जिससे दर्शक भ्रम में पड़ जाते हैंए स्वयं जादूगर नही। इसी प्रकार से सृष्टि की माया भी दो प्रकार से समझी जा सकती है। माया ईश्वर के लिए केवल लीला की इच्छा है। ईश्वर स्वयं उस माया से प्रभावित नहीं होता। हम लोग अज्ञानी हैंए उसे देखकर भ्रम में पड़ जाते हैं और एक ब्रह्म के स्थान पर नाना प्रपंचात्मक जगत् को देखने लगते है। इस प्रकार माया हम लोगों के लिए भ्रम का कारण है। इस अर्थ मं 'माया' को अज्ञान या अविद्या भी कहते है। माया के भी दो कार्य हैं– जगत् आधारए ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप छिपा देना और उसे जगत् के रूप में आभासित करना। इस विशेष शक्ति के कारण 'माया' को भावरूप अज्ञान कहते हैं। सृष्टि का आरम्भ कभी किसी काल में हुआए ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतएव माया को अनादि कहा जाता है। माया को अनादि इसलिए भी कहा जाता है क्योंकि माया ब्रह्म के साथ ही शक्ति के रूप में उसी में अन्तनिर्हित है। इसलिए आचार्य शंकर कहते हैं कि जो ब्रह्म ज्ञानी हैं वे संसार के मिथ्यात्व को समझते हैंए वे संसार को ब्रह्म मय देखते हैंए उनके लिए न कोई भ्रम और न ही कोई माया है। ब्रह्म ज्ञानी के एिल ईश्वर भी मायावी नहीं हैए अपितु वह ही केवल पारमार्थिक दृष्टि से सत्य सत्ता के रूप में अनुभूत होता है।

2.5 शंकर एवं रामानुज के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण

रामानुज शंकर से भिन्न दृष्टिकोण रखते हुए श्वेता'वर उपनिषद् के दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुए 'माया' का उल्लेख तो करते हैंए किन्तु वे माया से ईश्वर की वास्तविक सृष्टि करने की शक्ति समझते हैं अथवा ब्रह्म में अवस्थित नित्य अचेतन तत्व को शंकर भी माया को ब्रह्म की शक्ति समझते हैंए किन्तु उनके अनुसार यह शक्ति ब्रह्म का नित्य स्वरूप नहीं है। यद्यपि शक्ति रूप में माया ब्रह्म से भिन्न नहीं हैए अपितु शक्ति रूप में माया ब्रह्म उसी प्रकार अभिन्न और अविच्छेद हैए जिस प्रकार दाहकता अग्नि से अभिन्न है और संकल्प मन से अविच्छिन तथा अभिन्न है। जब शंकर प्रकृति को 'माया' कहते हैं तब उनका अर्थ यही होता है कि यह रचनात्मिका शक्ति या माया ही उन लोगों के लिए संसार की प्रकृति (मूल कारण) हैए जो संसार को देख रहे हैं। अतएव शंकर एवं रामानुज का माया के सम्बन्ध में दृष्टिकोण सम्बन्धी भेद यह है कि रामानुज के अनुसार ब्रह्म के अवस्थित अचित् तत्व में (इसलिए ब्रह्म में भी) वास्तविक परिवर्तन होता है जबकि शंकर का मत है कि ब्रह्म अपरिवर्तनशील सत्ता है।

2.6 परिणामवाद और विवर्तवाद

किसी द्रव्य के विकार का आभास (जैसे रस्सी का साँप के रूप में दिखायी पड़ना) 'विवर्त' कहलाता है और वास्तविक विकार या परिणाम (दूध का दही बन जाना) है। अतएव सृष्टि के सम्बन्ध में शंकर के मायावाद के विचार की तार्किक परिणति विवर्तवाद है तथा इसके विपरीत सांख्य एवं रामानुज का मत एक प्रकार का परिणामवाद है। सांख्य सम्पूर्ण सृष्टि को प्रकृति का परिणाम मानता है और रामानुज ब्रह्म के अचित् अंश को ही संसार के रूप में सरुपान्तरण मानते हैं। यद्यपि विवर्तवाद और परिणामवाद दोनों ही इस बात से सहमत हैं कि कार्य पहले से ही अपने उपादान कारण में विद्यमान रहता है। अतएव दोनों ही सत्कार्यवाद (अर्थात कार्य पहले ही से अपने उपादान कारण में सत् या विद्यमान था वह कोई नई वस्तु नहीं है) इस मत का समर्थन करते हैं।

2.7 आचार्य शंकर माया को अध्यासरूप मानते हैं।

आचार्य शंकर के अनुसार 'माया' अध्यास रूप है। जहाँ जो वस्तु नहीं हैए उसे वहाँ कल्पित करना 'अध्यास' कहलाता है। वर्तमान मनोविज्ञान की भाषा में इसे एक प्रकार का प्रक्षेपण (Projection) कहते हैं। जहाँ–जहाँ भ्रान्त प्रत्यण होता हैए वहाँ–वहाँ ऐसा अध्यास होता है। जिस प्रकार रस्सी में सर्प अध्यस्त हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् अध्यस्त हो जाता है। इस प्रकार आचार्य शंकर सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया को ब्रह्म का विवर्त या अध्यास मात्र मानते हैं। आचार्य शंकर ने अपने अद्वैतवाद की स्थापना के लिए मायाए अविद्या तथा अध्यास विषयक अवधारणा का प्रतिपादन किये हैं। आचार्य शंकर का स्पष्ट मत है कि किसी वस्तु का आकार उससे भिन्न सत्ता नहीं है। इसलिए आकार की कल्पना द्रव्य से पृथक नहीं की जा सकती। यदि द्रव्य उसी रूप में वि|मान रहे तो केवल आकार परिवर्तन वास्तविक परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। आचार्य शंकर का कारण कार्य के रूप में हम जो परिवर्तन देखते हैं वह केवल मानसिक आरोप या विक्षेप मात्र है। इसी को आचार्य शंकर अध्यास कहते हैं। इस प्रकार की मिथ्या कल्पना का कारण 'अविद्या' है जो हमें भ्रम में डाल देती है और 'असत्' में सत् का आभास कराती है। यही कारण है कि आचार्य शंकर अज्ञानए अविद्या या माया के रूप में अध्यास को निरुपित करते हैं और यह विचार व्यक्त करते हैं कि 'माया' या 'अविद्या' के कारण ही संसार की प्रतीति होती है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि सांसारिक विषय शुद्ध सत् नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे विशेष विकारशील हैं किन्तु वे बन्ध्यापुत्र के समान सर्वथा असत्ए अलीक या तुच्छ भी नहीं कहे जा सकतेए क्योंकि उनकी भी सत्ता है जो उनके रूप में आभासित हो रही है। इस कारण वे न सत् कहे जा सकते हैं और न ही असत्। इसलिए वे अनिर्वचनीय है। यह समस्त विषय संसार और उनकी जननी 'माया' या 'अविद्या' भी सत्ए असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है।

2.8 आचार्य शंकर के अनुसार यथार्थ प्रत्यक्ष और भ्रम प्रत्यक्ष में भेद

अद्वैतवादी आचार्य शंकर यथार्थ प्रत्यक्ष और भ्रम प्रत्यक्ष में भेद करते हैं। इसलिए यथार्थ प्रत्यक्ष और भ्रम प्रत्यक्ष में भेद के कारण अज्ञान के भी दो प्रकार माने गये हैं। आचार्य शंकर का कहना है कि जिस मूल अविद्या के कारण

व्यावहारिक जगत् का प्रत्यक्ष अनुभव होता हैए वह 'मूलविद्या' कहलाती है। इसके अतिरिक्त जिस अविद्या के कारण सर्पादि का तात्कालिक भ्रम उत्पन्न होता हैए वह 'तूलावि॥' कहलाती है। इस प्रकार आचार्य शंकर का यह मानना है कि यदि जगत् से इसके सब विषयों के मूल व्याभिचारी अधिष्ठान या कारण तत्व को समझा जाय तो उनका यह स्पष्ट मत है कि जगत् अव'य सत्य है। उनका यह स्पष्ट कहना है कि जैसे कारण रुपी ब्रह्म की सत्ता त्रिकाल में रहती हैए वैसे ही (सत्ता रुपेण) जगत् भी त्रिकाल में सत्व नहीं खोता क्योंकि कारण– कार्य अभिन्न हैं। पुन'च नाना नाम रुपात्मक विषय रूप जगत् सत्तारुपेण सत्य हैं किन्तु ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सत्ता पारमार्थिक दृष्टि से सत्य न होने के कारण जगत् विशेष रूप में असत् है।

2.9 आचार्य शंकर के मायावाद की सामान्य विशेषताएं

अद्वैत वेदान्त में माया की अवधारणा विशिष्ट ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता के साथ जगत जीव प्रपंच का सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया है।

अद्वैत वेदान्त में माया की अवधारणा का प्रतिपादन निर्गुण निर्विशेष एवं भेदरहित ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत् एवं जीवों की विविधता की व्याख्या करने के लिए किया गया है। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्मह को ही एकमात्र पारमार्थिक दृष्टि से सत् माना है और यह कहा गया है कि– ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवों ब्रह्मैवनापरः अर्थात एक मात्र पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही सत्य हैए जगत् मिथ्या है और जीव तथा ब्रह्म एक दूसरे से भिन्न नही है। वास्तव में अद्वैत वेदान्त में माया की अवधारणा का प्रतिपादन ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता के साथ जगतए जीव प्रपंच का ही सामंन्जस्य स्थापित मान्यता है कि माया के कारण ही निर्गुण, निर्विवे'ाष एवं भेदरहित ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत एवं जीवों के विविधता का अनुभव होता है।

आचार्य शंकर ने 'माया' और अविद्या को एक ही अर्थ में व्यवहृत किया थाए किन्तु कालान्तर में शंकर के अनुयायियों ने 'माया' एवं अविद्या में भेद किया। शंकराचार्य के अनुयायियों ने माया को भावात्मक कहा है और अविद्या को अभावात्मक कहा है। माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म ईश्वर हैए किन्तु अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म जीव है। माया ब्रह्म की शक्ति है जबकि अविद्या के कारण जीव अपने वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है। माया का स्वरूप सात्विक हैए जबकि अविद्या त्रिगुणात्मक है। इस प्रकार यद्यपि आचार्य शंकर के अनुयायियों ने 'माया' एवं 'अविद्या' में भेद करने का प्रयास किया है, अद्वैत वेदान्त की माया के निम्नलिखित लक्षणों को स्वीकार किया जाता है–

1. आचार्य शंकर के अनुसार 'माया' अचेतन है और अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर आश्रित है।

2. शंकर का मानना हे कि माया अनादिस है, किंतु अनन्त नहीं है। माया का अस्तित्व तब तक है जब तक ब्रह्म की अनुभूति नही होती है इस लिए माया ब्रह्म ज्ञान की अनुभूति नहीं होती है। इसलिए माया ब्रह्म ज्ञान से निरसित होने के कारण सान्त है।

3. माया ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति है। ब्रह्म अपनी माया रुपी शक्ति के धारा ही नाना नाम– रुपमय प्रपंचात्मक जगत् को उत्पन्न करता है। माया ब्रह्म का

स्वरूप नहीं है, किन्तु माया ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति होने के कारण ब्रह्म के साथ तादात्म्य सम्बन्ध के रूप में वि।मान रहती है।

4. माया भावात्मक है, क्योंकि माया के कारण ही नाना रुपात्मक प्रपंचात्मक जगत् की उत्पत्ति सम्भव है।

5. माया अनिर्वचनीय है, क्योंकि माया न तो सत् है न असत् हैए न सदसत् दोनों है और न सत् एवं असत् दोनों नहीं है। माया अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर पूर्णतः आश्रित होने के कारण सत् नहीं है। माया अनुभव जगत का विषय होने के कारण असत् नही है। यह इसलिए भी असत् नही है, क्योंकि यह ब्रह्म पर जगत् को आरोपित करती है। यदि इसे सदसत् दोनों माना जाय तो यह आत्म विरोधी होगी। इसलिए तार्किक दृष्टि से माया (अनिर्वचनीय) या **'सद्सत्रिलक्षण'** है।

6. माया अध्यास है। अतत् में तत् की प्रतीप्ति अध्यास है। अतस्मिन् तद्बु)िरिति अध्यासः अर्थात जहाँ जो वस्तु नही है वहाँ उसका अनुभव जगत् का आरोप करती है जबकि ब्रह्म में नाना रुपात्मक जगत का आरोप करती है, जबकि ब्रह्म यथार्थ में प्रपंचातीत है।

7. माया विवर्तमात्र है और इसकी व्यावहारिक सत्ता (Empilical real) है। विर्वतवाद के अनुसार कार्य कारण का आभास मात्र है, वास्तविक रुपान्तरण नहीं। माया के कारण ही ब्रह्म का जगत के रूप में आभास होता है और जगत् व्यावहारिक रूप में सत्य प्रतीत होता है।

8. माया का आश्रय एवं विषय ब्रह्म है। माया ब्रह्म में ही निवास करती है और जगत की उत्पत्ति के लिए ब्रह्म को ही अपना विषय बनाती है। ब्रह्म माया का विषय एवं आश्रय होने पर भी उससे वैसे ही प्रभावित नहीं होता है, जैसे जादूगर अपनी जादूई शक्ति से प्रभावित नहीं होता है।

9. माया विज्ञान निरस्या है (त्मउवअंस इल तपहीज ावसमकहम)। ब्रह्म ज्ञान से प्रपंचात्मक जगत् का ज्ञान बाधित हो जाता है।

10. माया की दो शक्तियां है– आवरण (Concealment) एवं विक्षेप (Projection)। माया आवरण शक्ति के कारण ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को ढ़क लेती है। और विक्षेप शक्ति के धारा ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत् आरोप करके ब्रह्म से भिन्न सत्ता का अभ्यास कराती है।

इस प्रकार आचार्य शंकर अपने मायावाद के धारा यह स्पष्ट करते हैं कि माया के कारण ही ब्रह्म के पारमार्थिक सत्ता के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत् एवं नाना रुपात्मक जीवों की विविधता का आभास होता है। माया ही वह कड़ी है जो ब्रह्म से जगत के उत्पत्ति को तार्किक दृष्टि से संभव बनाती है।

2.10 रामानुज धारा शंकर के मायावाद की आलोचना

रामानुज शंकर के मायावाद की आलोचना करते हुए 'माया' को ब्रह्म की वास्तविक शक्ति मानते हैं। रामानुज शंकर धारा वर्णित माया की अवधारणा को तर्कतः अनुपन्न सिद्ध करते हैं, जिन्हें 'सप्तनुपपत्ति' कहते हैं। रामानुज शंकर के मायावाद के विरुद्ध दी गयी 'सप्तानुपत्ति निम्नलिखित है–

2.10.1 'आश्रयानुपत्ति'

रामानुज शंकर के मायावाद को तर्कतः असिद्ध मानते है, क्योंकि माया का आश्रय न तो ब्रह्म है और न ही जीव है। ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है और जीव अविद्या का कार्य है। इस प्रकार माया न तो ब्रह्म में रह सकती है और न जीव में। यह शंकर की कल्पनामात्र है। आचार्य शंकर माया का आश्रय वैसे ही ब्रह्म को मानते हैं, जैसे जादूगर का आश्रय होते हुए भी उससे प्रभावित नही होता है। माया से ब्रह्म इसलिए भी प्रभावित नही होता क्योंकि माया का विरोध वि॥ से है चैतन्य स्वरूप से नहीं।

2.10.2 'तिरोधानानुपपत्ति'

रामानुज का मानना है कि शंकर धारा वर्णित माया धारा ब्रह्म का तिरोधान तर्कतः असिद्ध है, क्योंकि यदि माया धारा ब्रह्म का तिरोधान संभव माना जाय तो ब्रह्म स्वंय प्रकाश एवं सर्वशक्तिमान नहीं रह जाता है। शंकर के अनुयायियों ने रामानुज के तर्क के प्रत्युत्तर में कहा है कि माया स्वंय मिथ्या हैए अतः उसके धारा ब्रह्म वैसे ही आवरण पड़ता है, जैसे सूर्य को मेघ ढक लेता है, तो सूर्य वस्तुतः मेघ से आच्छादित नहीं हो जाता, अपितु आवरण केवल हमारी दृष्टि पर पड़ जाता है।

2.10.3 'स्वरुपानुपपत्ति'

रामानुज शंकर के माया के सम्बन्ध में यह सवाल उठाया है कि यदि माया का अस्तित्व है, तो उसका स्वरूप क्या है? यदि माया भाव रूप है तो ब्रह्म अद्वैत सत्ता नहीं रह जाता तथा उसका निराकरण भी नही होगी। माया को भावाभावरूप मानने पर आत्मविरोध होगा। यह कहना कि माया न तो भावरूप है और न ही अभाव रूप ही है, तो ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण चिन्तन का ही परित्याग करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति मे यदि माया का अस्तित्व है तो वह विचार के परे है। शंकर के अनुयायियों का मानना है कि माया भाव रूप होते हुए भी अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर आश्रित है। माया को भाव रूप कहने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि वह अभावरूप नहीं है।

2.10.4 'अनिवर्चनीयानुपपात्ति'

रामानुज की आपत्ति शंकर की माया की अनिवर्चनीयता के सम्बन्ध में भी है। माया की अनिवर्चनीयता अनुप्पन्नम है। माया को अनिवर्चनीय कहने पर विचार का मध्यम परिहार नियम भी बाधित होता है। शंकर के अनुयायियों का कहना है कि जो न तो सत् और न ही असत् है, तो उसे अनिवर्चनीय ही कहा जाएगा तथा माया को 'अनिवचर्यचीय कहने में मध्यम परिहार विकल्प व्यापक नहीं है, क्योंकि सत् और असत् के विकल्प व्यापक नहीं है, अतः तृतीय विकल्प (अनिवर्चनीयता) सम्भव है।

2.10.5 'प्रमाणानुपपत्ति'

रामानुज के अनुसार माया के लिए कोई प्रमाण नही है। शास्त्र इसके केवल ब्रह्म की लीला कहते हैं। अतएव माया का प्रमाणत्व असिद्ध है। अद्वैत

वेदान्त के समर्थकों का कहना है कि माया के लिए प्रमाण है। माया का ज्ञान हमें अर्थापत्ति प्रमाण से होता है। अतएव शंकर के माया का प्रमाणत्व असद्धि नहीं है।

2.10.6 निवर्तकानुपपत्ति'

रामानुज के अनुसार यदि शंकर की माया की अवधारणा को स्वीकार भी किया जाए तो उसका कोई निवर्तक नहीं होगा। ब्रह्मज्ञान माया का निवर्तक है, किन्तु ब्रह्म निर्गुणनिर्विशेष एवं भेदरहित होने के कारण ज्ञान की किसी प)ति से नहीं ज्ञान जा सकता, क्योंकि ज्ञान किसी सविशेष वस्तु का ही संभव है। अतएव माया का निवर्तक अनुपपन्नम है। अद्वैत वेदान्त के समर्थकों को यह कहना है कि ब्रह्म ज्ञान सम्भव है और यही माया का निवर्तक ज्ञान है। अद्वैत वेदान्त के समर्थकों का यह कहना है कि ब्रह्म ज्ञान सम्भव है और यही माया का निवर्तक है। ब्रह्म का विषयी रूप ज्ञान सम्भव है और यही माया का निवर्तक ज्ञान है।

2.10.7 'निवृत्यानुपपत्ति'

रामानुज का कहना है कि यदि शंकर की माया भावरूप है, तो तर्कतः उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि माया भावरूप होते हुए भी अध्यासरूप भी है। अतएव ब्रह्म के ज्ञान से उसका निराकरण सम्भव है।

इस प्रकार शंकर के माया की अवधारणा पर रामानुज के आक्षेपों और शंकर के समर्थकों के उत्तर का निष्पक्ष मूल्यांकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि शंकर की माया के सम्बन्ध में रामानुज का आक्षेप दृष्टि विशेष का परिणाम है। वास्तविकता यह है कि रामानुज शंकर की माया को उनके दृष्टि से समझने का प्रयास ही नहीं किये हैं, जिसके कारण ही वे उनके मायावाद की आलोचना करते है।

2.11 निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर ने ब्रह्म को ही पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म को एकमात्र सत्य सिद्ध करने के लिए ब्रह्म में माया ब्रह्म मे माया शक्ति की कल्पना किया है। प्रायः सभी ईश्वरवादियों के समक्ष यह प्रमुख समस्या रही है कि यदि ईश्वर की ही अभिव्यक्ति जगत् है तो ईश्वर जगत् के दोषों से कैसे बच सकता है। यदि ईश्वर सृष्टिकर्ता है और अचेत्न प्रकृति जैसी किसी अन्य वस्तु को लेकर जगत् की रचना करते हैं, तो ईश्वर के अतिरिक्त उस दूसरी वस्तु को भ्झी सत्ता को स्वीकार करना पड़ेगा और इस प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से ईश्वर ही एकमात्र सर्वव्यापी सत्ता नहीं रह जायेगा और इस प्रकार ईश्वर की असीमता खण्डित हो जाती है। यदि अचेत्न तत्व के रूप में प्रकृति को सत्य मान लिया जाय और ईश्वर में आश्रित भी और इस संसार को उसका वास्तविक परिणाम माने तो ईश्वर का एक अंगमात्र है या सम्पूर्ण ईश्वर से अभिन्न है। यदि रामानुज की भॉति यह मान लिया जाय कि प्रकृति अचेत्न तत्व के रूप में ईश्वर का अंश है तो यह आपत्ति आ जाती है कि ईश्वर भी भौतिक द्रव्यों की भॉति सावयव है और उन्हीं की तरह नश्वर है। यदि यह मान लिया जाय कि सर्म्पूण प्रकृति ईश्वर से अभिन्न है तो यह बाधा उपस्थित होती है कि ऐसी स्थिति में प्राकृतिक विकास का अर्थ हो जाता हैए ईश्वर का सम्पूर्ण जगत् के रूप में परिणत हो जाना। वैसी अवस्था में यह मानना पड़ेगा कि सृष्टि होने के उपरान्त कोई

ईश्वर नहीं रहता। यदि ईश्वर में सचमुच विकार होता है तो वह विकार चाहे आंशिक हो या पूर्ण ईश्वर को किसी भी रूप में नित्य निर्विकार नहीं कहा जा सकता और ऐसा होने पर ईश्वर को वैसा कहा नहीं जा सकताए जिस रूप में उसे माना जाता है। अतएव आचार्य शंकर मायावाद के धारा ब्रह्म एवं जगत् के सम्बन्ध की व्याख्या को लेकर उत्पन्न कठिनाई का समुचित समाधान करने का प्रयास किया है।

2.12 सारांश

आचार्य शंकर ने 'माया' की अवधारणा के धारा निर्गुण निर्विशेष एवं निर्विकार ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत् एवं जीवों की अनेकता का प्रतिपादन किया है। यद्यपि आचार्य शंकर ने 'माया' और 'अविद्या' शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में किया हैए किन्तु आचार्य शंकर ने परवर्ती अद्वैत वेदान्त के अनुनायियों ने 'माया' और 'अविद्या' में भेद किया है और 'माया' को भावात्मक इसलिए कहा जाता है कि क्योंकि माया के धारा ही ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व की रचना करता है। माया विश्व को प्रस्थापित करती है। अविद्या माया के विपरीत ज्ञान के अभाव का संकेत करने के कारण निषेधात्मक है। माया अचेतन है और अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर आश्रित है। माया अनादि है क्योंकि यह ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति और ब्रह्म के साथ यह अनादि काल से विद्यमान है। माया अनादि होने के साथ ही अनन्त नहीं है। माया अनिर्वचनीय अध्यासरुपए विज्ञानए निरस्या है। आवरण एवं विक्षेप माया की दो शक्तियाँ। माया आवरण शक्ति के कारण ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को ढक लेती है और विक्षेप शक्ति के कारण ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत को प्रक्षेपित करती है। आचार्य शंकर के मायावाद का विशिष्टाद्वैत वादी रामानुज खण्डन करते हैं और माया की अवधारणा को तर्कतः अनुपन्न मानते हैं। रामानुज ने शंकर की माया के खण्डन के लिए सात तर्क दिये हैंए जिसे 'सप्तानुपपत्ति' कहा जाता है। रामानुज ने जिन सप्तानुपपत्ति का उल्लेख किया हैए वे आश्रयानुपपत्ति तिरोधानानुपपत्तिए स्वरुपापत्तिए अनिर्वचनीयानुपपत्तिए प्रमाणानुपपत्तिए निवर्तकानुपपत्ति एवं निवृत्यानुपपत्ति के रूप में जानी जाती हैं। परन्तु रामानुज ईश्वर एवं जगत् की व्याख्या करने में कठिनाई का अनुभव किये हैं।

2.13 बोध प्रश्न

1. आचार्य शंकर के माया की अवधारणा का समीक्षात्मक विवेचन कीजिए।
2. आचार्य शंकर किस प्रकार अपने मायावाद की अवधारणा धारा ब्रह्म एवं जगत् के सम्बन्ध का निरूपण करते हैं।
3. आचार्य शंकर के अनुसार जगत् ब्रह्म की लीला है– इस कथन को माया के संदर्भ में स्पष्ट कीजिए।
4. आचार्य शंकर के अनुसार मायावाद को स्पष्ट कीजिए तथा रामानुज के धारा उनके मायावाद के विरुद्ध उठायी गयी आपत्तियों का विवेचन कीजिए।

2.14 सहायक पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन – चटर्जी एवं दत्त
2. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण – डॉ. संगम लाल पाण्डेय

****

इकाई–3
(शंकराचार्य एवं रामानुज)

जगत एवं जीव (शंकराचार्य एवं रामानुज के अनुसार)

इकाई की रुपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 अद्वैत वेदान्त में जगत् मिथ्यात्व का सिद्धान्त

3.3 सामान्यो दृष्ट अनुमान के आधार पर जगत् मिथ्यात्व का प्रतिपादन

3.4 आचार्य शंकर के अनुसार जगत् सदसत्रिलक्षण

3.5 आचार्य शंकर के अनुसार प्रतीतिक सत्ता के दो रुप– प्रतिभास और व्यवहार

3.6 अद्वैत वेदान्त के जगत् मिथ्यात्व के विरु) आक्षेप

3.7 रामानुज का जगत् सम्बन्धी विचार

3.8 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में जीव का विचार

3.9 शंकर के परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों की जीव सम्बन्धी अवधारणा

3.9.1 प्रतिबिम्बवाद

3.9.2 अक्च्छेदवाद

3.9.3 आभासवाद

3.10 रामानुज के अनुसार जीव की अवधारणा

3.11 निष्कर्ष

3.12 सारांश

3.13 बोध प्रश्न

3.14 सहायक पुस्तकें

3.0 उद्देश्य

अद्वैत वेदान्त क प्रमुख दार्शनिक आचार्य शंकर ने पारमार्थिक स्तर पर ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता को स्वीकार करते हैं और उसे ही सत् मानते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार सत्य केवल वही होता हो सकता है जो त्रिकालाबाधित हो। इस दृष्टि से केवल ब्रह्म ही वह सत्ता है जिसका त्रिकाल में बाध नही होता है। ब्रह्म के अतिरिक्त जितने भी सत्ता के स्तर हैए उसे शंकर पारमार्थिक दृष्टि

से सत्य नहीं मानते हैं। आचार्य शंकर जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करते हैंए किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से वे जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं। आचार्य शंकर ब्रह्म को जगत् से अनन्य मानते हैं। तात्विक दृष्टि से ब्रह्म एवं जगत एक है। ब्रह्म जगत का अधिष्ठान है और जगत ब्रह्म का आभास मात्र है। माया अपनी आवरण शक्ति से ब्रह्म एवं जगत के एकता पर पर्दा डाल देती है और उसके वास्तविक स्वरूप को छिपा देती है तथा विक्षेप शक्ति से ब्रह्म के स्थान पर नाना रुपात्मक प्रपंचात्मक जगत् को आरोपित करती है। अतएव आचार्य शंकर के अनुसार जगत् ब्रह्म का ही विवर्त हैए इसकी वास्तविक सत्ता न होकर केवल व्यावहारिक सत्ता है।

आचार्य शंकर के वितरीत रामानुज का जगत् सम्बन्धी विचार ब्रह्म परिणामवाद पर आधारित है। रामानुज तत्वश्रय ईश्वर चित् एवं अचित् में विश्वास करते हैं इसलिए रामानुज के अनुसार ब्रह्म के वि'लेषण चित् एवं अचित् रुपी यह जगत् ब्रह्म का ही रुपान्तरण है। अतएव जहाँ आचार्य शंकर जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं वहीं रामानुज के अनुसार जगत उतना ही सत्य है जितना कि ब्रह्म।

आचार्य शंकर एवं रामानुज 'जीव' के स्वरूप को लेकर भी परस्पर भिन्न मत रखते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार 'माया' के कारण पर ब्रह्म ईश्वरए जीव और जगत् के रूप में प्रतीत होता है तथा माया के निरखन होने पर शुद्ध ब्रह्म (पर ब्रह्म) ही प्रकाशित होता है। शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्ती ईश्वर एवं जीव के विषय में प्रतिबिम्बवादए अच्छेदवाद एवं आभासवाद की अवधारणा के धारा ब्रह्म एवं ईश्वर तथा ब्रह्म एवं जीव के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किये हैं। रामानुज चित् या चेतन जीव को ब्रह्म का विशेषता या गुण मानते हैं। जीव अपने धर्म भूत ज्ञान का आश्रय है। जीवात्मा का ज्ञान वृद्धावस्था में कर्मों के कारण अवरुद्ध रहता है एवं उसका आनन्द भी सीमित रहता है। वस्तुतः रामानुज के अनुसार 'जीव' स्व संवे। 'अहं' हैए जो वृद्धावस्था के 'अंहकार ममकार' से भिन्न है। जीव ब्रह्माश्रित चेतन द्रव्य है।

3.1 प्रस्तावना

आचार्य शंकर ने अपने अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को ही एकमात्र पारमार्थिक दृष्टि से सत् माना है क्योंकि सत् वह है जिसका त्रिकाल में बाध न हो सके अर्थात जो कूटस्थ नित्य और सदा एक रस एवं अपरिणामी है। 'असत्' वह है जिसकी त्रिकाल में कोई सत्ता न हो और जिसमें कभी भी सत् के रूप में प्रतीत होने का सामर्थ्य भी न हो। इस अर्थ में बन्ध्यापुत्र और आकाशकुसुम असत् है। अद्वैत वेदान्त में सत् केवल ब्रह्म है और असत् बन्ध्यापुत्रादि हैं। अतएव हमारे लौकिक अनुभव का सम्पूर्ण क्षेत्र सद् असद् विलक्षण या मिथ्या पदार्थो तक सीमित है। आचार्य शंकर के अनुसार नाना रुपात्मक जगत् के जो भी पदार्थ हैंए वह ज्ञेयए दृ'य परिच्छिन और अचित् होने के कारण सद्–असद् विलक्षण और मिथ्या हैए जो मिथ्या वह अविद्या या माया या भ्रम है। आचार्य शंकर के अनुसा यह भ्रम या अविद्या दो प्रकार का है– एक तो व्यक्तिगत भ्रम को प्रतिभास और दूसरा समष्टिगत भ्रम। आचार्य शंकर पहले प्रकार के भ्रम को प्रतिभास और दूसरे प्रकार के भ्रम को व्यवहार कहते हैं। प्रतिभास के अन्तर्गत समस्त व्यक्गित भ्रम और स्वप्नादि आते हैं। व्यवहार के अन्तर्गत समस्त प्रपंच जगत् या लोक व्यवहार आता है। प्रतिभास व्यक्तिगत भ्रम और स्वप्न है जिसकी प्रतीति हमें न तो व्यक्तिगत भ्रम

के रूप में होती है और न ही जिसका बाध ही हमारे लौकिक ज्ञान से हो सकता है। ऐसी स्थिति में जगत् को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? आचार्य शंकर ने अत्यन्त तार्किक रूप से इसकी प्रतिपादन किया है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि यदि सभी प्रकार के प्रतीतियों का नाम जगत् है तथा जगत से इसके सब विषयों के मूल व्यभिचारी अधिष्ठान या कारण तत्व को समझा जाय तो शंकर बल देकर कहते हैं कि जगत् अव'य ही सत्य है। उनका कहना है कि जैसे कारणरुपी ब्रह्म की सत्ता त्रिकाल में रहती हैए वैसे ही सत्तारुपेण जगत् भी त्रिकाल में सत्व नही खोती हैए वैसे ही सत्तारुपेण जगत् भी त्रिकाल में सत्व नहीं खोती हैए क्यों कि कारण कार्य से अभिन्न है। पुन'च आचार्य शंकर का कहना है कि हमारा सारा बुद्धिविकल्पजन्य लौकिक ज्ञान अनिर्वचनीय और मिथ्या पदार्थो तक ही सीमित है। आचार्य शंकर के अनुसार जगत् प्रपंच का मिथ्यात्व ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर समाप्त हो जाता है। आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त मेंजगत् मिथ्यात्व के सिद्ध ान्त का विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज विरोध करते हैं और उनका कहना है कि जगत् सर्वथा सत्य है। अचित् और चित् ईश्वर पर आश्रित होने पर भी नित्य तत्व है। रामानुज सृष्टि के सम्बन्ध में ब्रह्मपरिणामवाद को स्वीकार करते हैं और यह प्रतिपादित करते हैं कि सम्पूर्ण चेतन अचेतन विश्व ईश्वर का शरीर है ईश्वर का शरीर का तात्विक परिणाम हैए ईश्वर की सत्य सृष्टि है। रामानुज आदि ईश्वरवादियों ईश्वर को लेकर जगत का कारण मानते हुए इस सृष्टि को ईश्वर की लीला बताया है तथा इसे ईश्वर के संकल्प से उत्पन्न माना है।

3.2 अद्वैत वेदान्त में जगत–मिथ्यात्व का सिद्धान्त

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता को स्वीकार करते हुए इस जगत को मिथ्या कहा गया है। अद्वैत वेदान्त सत् को त्रिकाल अबाधित माना गया है। जगत् अपनी सत्ता के लिए पूर्णतया ब्रह्म पर आश्रित है। ब्रह्म इस जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। निर्गुणएवं भेदरहित ब्रह्म प्रपंचात्मक जगत् के रूप में आभासित होता है। आचार्य शंकर के अनुसार जगत् माया रूप है, इसलिए यथार्थ नहीं है।

आचार्य शंकर का मानना है कि जगत् ब्रह्म से अनन्य है। तात्विक दृष्टि से ब्रह्म एवं जगत् एक है। ब्रह्म जगत का कारण लाक्षणिक अर्थ में ही है। ब्रह्म जगत का अधिष्ठाान है और जगत–ब्रह्म का आभास मात्र है। माया अपनी आवरण शक्ति से ब्रह्म एवं जगत् की एकता पर पर्दा डाल देती है और उसके वास्तविक स्वरूप को छिपा देती है तथा विक्षेप शक्ति से ब्रह्म के स्थान पर नानारुपात्मक प्रपंचात्मक जगत् को आरोपित कर देती है। जीव ब्रह्म की माया से प्रभावित होकर इसी प्रपंचात्मक जगत को सत्य मानने लगता है।

3.3 सामान्यो दृष्ट अनुमान के आधार पर जगत् मिथ्यात्व का प्रतिपादन

शंकर सामान्यतोदृष्ट अनुमान के आधार पर जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं। उनकी दृष्टि से ब्रह्म ही एकमात्र सत् है और ब्रह्म से भिन्न होने के कारण शुक्तिरजत के समान ब्रह्म से भिन्न सब कुछ मिथ्या है। इस प्रकार शुक्तिरजत एवं जगत में सादृ'य है। शुक्तिरजत एवं सादृ'य यह है कि दोनों विषय रूप है और दोनों की ही प्रतीति मिथ्या है।

शंकराचार्य अध्यासवाद के धारा ही जगत् की पारमार्थिक सत्ता का निषेध करते हैं। जगत् स्वरूप से ही ब्रह्म में अध्यस्त है जिसके कारण ही ब्रह्म के स्थान पर जगत का अनुभव होता है और जगत व्यावहारिक रूप में सत्य प्रतीत होता है।

आचार्य शंकर के अनुसार जगत ब्रह्म का ही विवर्त है। ब्रह्म त्रिकाल अबाधित एवं परिवर्तनरहित सत्ता है। अतएव ब्रह्म को अध्यस्त जगत में भी अतात्विक परिवर्तन होता है। इस प्रकार आचार्य शंकर ब्रह्मविवर्तवाद का प्रतिपादन करते हुए यह दिखाते हैं कि ब्रह्म की कारण रूप सत् है और जगत् पारमार्थिक रूप में असत् है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सत् के रूप में उसकी प्रतीति होती है।

3.4 आचार्य शंकर के अनुसार जगत् सदसद्विलक्षण

आचार्य शंकर के अनुसार जगत्–सत् नहीं है, क्योंकि यह ज्ञान का विषय होने के कारण ना'ावान् है। यह जगत् अन्तर्विरोधों के कारण भी सत् नहीं है। जगत् की सर्वकालिक सत्ता नहीं है। इसलिए भी सत् नहीं है। जगत की सत्ता प्रतीति पर्यन्त तक ही रहती हैए क्योंकि ब्रह्मज्ञान से वह बाधित हो जाती है। यदि जगत सत् नही है तो प्रश्न उठता है कि क्या जगत असत् है? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जगत् असत् भी नहीं है, क्योंकि जगत यदि बन्ध्यापुत्र के समान असत् होता है तो हमारे अनुभव का विषय भी नही बनता। वास्तविकता यह है कि जगत का अनुभव होता है इसलिए जगत सदसत्रिलक्षण होने के कारण मिथ्या है।

3.5 आचार्य शंकर के अनुसार प्रतीतिक सत्ता के दो रुप– प्रतिभास और व्यवहार

अद्वैत वेदान्त प्रतीति सत्ता के भी दो रूप मानता है– प्रतिभास और व्यवहार। प्रतिभास व्यक्तिगत स्तर का भ्रम है, जो व्यक्ति विशेष को अनुभव होता है। प्रतिभास में अधिष्ठान के ज्ञान से भ्रम का निराकरण हो जाता है। कुछ भी हो किन्तु प्रतीति पर्यन्त प्रतिभास भी सत् होता है। सम्पूर्ण प्रपंचात्मक जगत एवं लोक व्यवहार सत् के अन्तर्गत आता है। व्यावहारिक सत् भी पारमार्थिक सत् से बाधित होने के कारण एक प्रकार का भ्रम है। इस प्रकार प्रपंचात्मक जगत भी तब तक सत्य है, जब तक कि ब्रह्मज्ञान से उसका बाध नहीं हो जाता है। इस प्रकार शंकराचार्य यह प्रतिपादित करते हैं कि यद्यपि तात्विक दृष्टि से जगत असत् है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सत है।

शंकराचार्य जगत को मिथ्या कहते समय सत्ता के तीन स्तर को स्पष्ट रूप से मान्यता प्रदान किये है– पारमार्थिकए प्रतिभासिक और व्यावहारिक। पारमार्थिक सत्ता तात्विक सत्ता है, जो कभी भी बाधित नहीं होती है। पारमार्थिक सत्ता के रूप में ब्रह्म ही एकमात्र सत् है। प्रतिभासिक सत्ता के अन्तर्गत स्वप्न पदार्थ एवं भ्रम पदार्थ आते है, जिनका निरास अधिष्ठान वस्तु के ज्ञान से हो जाता है। व्यावहारिक सत् के अन्तर्गत वे पदार्थ आते हैं जो हमारे अनुभव के विषय होते हैं। व्यावहारिक सत् भी पारमार्थिक सत् से बाधित हो जाता है। इसलिए व्यावहारिक सत् भी ब्रह्मज्ञान न होने तक ही स्वीकार्य है।

3.6 अद्वैत वेदान्त के जगत् मिथ्यात्व के विरुद्ध आक्षेप

अद्वैत वेदान्त के जगत सम्बन्धी विचार के विषय अनेक आपात्तियाँ की गयी है और यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि शंकर का जगत विषयक दृष्टिकोण अश्रुतिसम्मतए अग्राह्य तथा नैतिक जीवन को निरुत्साहित करने वाला है। कुछ आलोचक तो शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहते हैं और उनका यह स्पष्ट मानना है कि शंकराचार्य बौद्ध विचारधारा का ही तार्किक विकास करके उसे एक सुव्यवस्थित विचारधारा का रूप प्रदान किया है।

परन्तु आचार्य शंकर पर लगाये गये सभी आरोप उनके विचारधारा के साथ न्याय नहीं कर पाता है, क्योंकि उनके दर्शन में सत्ता सम्बन्धी विचार अत्यन्त व्यापक है। आचार्य शंकर अद्वैतवाद की स्थापना में जगत् को मिथ्या कहकर ब्रह्म को ही एकमात्र पारमार्थिक दृष्टि से सत् को भी तब तक स्वीकार्य माना है, जबतक कि अधिष्ठान ज्ञान से उसका बाध नही हो जाता है। इसके अतिरिक्त महत्ता प्रदान की गयी है, क्योंकि नैतिक जीवन के बिना ब्रह्मज्ञान भी नही हो सकता है और मनुष्य अपने परम लक्ष्य की प्राप्ति में असमर्थ बना रहेगा।

3.7 रामानुज का जगत् सम्बन्धी विचार

रामानुज की जगत सम्बन्धी विचार ब्रह्म परिणामवाद पर आधारित है। उनके अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म का ही परिणाम है। रामानुज तत्वमय– ईश्वरए चित् एवं अचित् में विश्वास करते हैं। इनमें ईश्वर विशेष्य है और चित् एवं अचित रुपी यह जगत ब्रह्म के विशेषताांश हैं। इस प्रकार आचार्य शंकर जहाँ ब्रह्मविर्वतवाद का समर्थन करते हुए जगत को ब्रह्म का आभास कहते हैं वहीं रामानुज ब्रह्मपरिणामवाद का समर्थन करते हुए जगत को ब्रह्म का रुपान्तरण मानते हैं।

रामानुज के अनुसार अचित जड़ एवं परिणामी द्रव्य है। रामानुज अचित् को तीन प्रकार माना है– शुद्धए सत्वए नित्य विभूति एवं मिश्र सत्व। रामानुज मिश्र सत्व को 'प्रकृति' या 'माया' कहते हैं और इससे ही सृष्टि के विकास क्रम की व्याख्या करते हैं। रामानुज ब्रह्म को ही ईश्वर के अंशभूत तत्व जीव (चित्) एवं प्रकृति (अचित्) जगत् के उपादान कारण हैं। ईश्वर के संकल्प से ही सृष्टि का प्रारम्भ होता है। रामानुज सृष्टि को ब्रह्म की लीला मानते हैं। अतएव रामानुज का ब्रह्म परिणामवाद लीलावाद है।

रामानुज के अनुसार सृष्टि ब्रह्म का ही यथार्थ रुपान्तरण है। इसलिए यह सृष्टि उतनी ही सत्य है, जितना सत्य ब्रह्म है, क्योंकि प्रलयकाल में ब्रह्माण्ड अव्यक्त रूप से ब्रह्म में ही अन्तर्निहित रहता है। सृष्टि की स्थिति में अव्यक्तरूप ब्रह्माण्ड व्यक्त होता है। सृष्टि की अवस्था में सूक्ष्मभूत स्थूल हो जाते हैं और जीवन का धर्मभूत ज्ञान विस्तृत होकर अतीत कर्मो के अनुसार उसे भौतिक शरीरों से संयुक्त कर देता है। इस प्रकार ब्रह्म ही इस परिवर्त'ीील जगत् का अपरिवर्तन'ीील केन्द्र हे। रामानुज के अनुसार सत् कारण से उत्पन्न होने के कारण जगत् भी सत् है। रामानुज के अनुसार सविशेष ब्रह्म की विभूति के कारण जगत की भी पारमार्थिक है।

रामानुज शंकर के इस दृष्टिकोण को अस्वीकार करते हैं कि जगत् केवल व्यावहारिक दृष्टि से सत् है और परमार्थतः असत् है। रामानुज शंकर पर यह

आरोप लगाते हैं कि शंकर का जगत सम्बन्धित विचार श्रुतिविरोधी है। रामानुज यह विचार व्यक्त करते हैं कि नानात्व का निषेध करने वाले 'नेह नानास्ति किञ्चन' को स्वीकार करते हैं, जिसके कारण वर्णित– 'पंचीकरण सिद्धान्त' को स्वीकार करते हैं जिसके अनुसार आकाश ए वायुए अग्निए जल एवं पृथ्वी जैसे प्रत्येक स्थूल महाभूत में आधा भाग (1/2) इस महाभूत का अपना होता है और शेष आधे भाग पर अन्य महाभूतो के बराबर भाग होते हैं। सभी सांसारिक पदार्थ जिसमें जीव का शरीर भी शामिल है, इन्हीं महाभूतों से उत्पन्न होते हैं। रामानुज ब्रह्म एवं जगत के सम्बन्ध को आत्मा एवं शरीर के सम्बन्ध के समान मानते हैं।

रामानुज सृष्टि रचना को ईश्वर की लीला कहते हैं। वे यह भी कहते हैं कि ईश्वर सृष्टि रचना का संकल्प करता हैए किन्तु प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर सृष्टि रचना का संकल्प क्यों करता है? सृष्टि रचना में उसका क्या प्रयोजन है? ये सभी प्रश्न रामानुज के दर्शन में अनुत्तरित रह जाते हैं। इसके अतिरिक्त रामानुज का लीलावाद एक प्रकार रहस्यवाद बनकर रह जाता है। रामानुज जगत को ईश्वर के विशेषणांश का परिणाम मानते हैं, किन्तु क्या विशेषणांश केक परिवर्तन से ईश्वर अप्रभावित रह सकता है। प्रश्न यह भी उठता है कि क्या जगत दोष अंश है, तो जगत के दोषों से ब्रह्म अप्रभवित कैसे रह सकता है। इस प्रकार रामानुज का सृष्टि सम्बन्धी विचार तार्किक दृष्टि से संतोषजनक नहीं है।

3.8 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में जीव का विचार

आचार्य शंकर का यह मानना है कि 'माया' शक्ति से सम्पन्न पर ब्रह्म का ईश्वर जीव और जगत् के रूप में प्रतीत होना ईश्वर जीव और जगत् के व्यावहारिक सत्ता का ।ोतक है और ये तीनों (ईश्वरए जीव और जगत) ही एक साथ प्रतीत होते हैं। एक साथ निवृत्त होते हैं तथापि जीव की दृष्टि से ईश्वर ही सब कुछ है। हम यह भी कह सकते हैं कि माया के कारण परब्रह्म ईश्वर के रूप में प्रतीत होता है तथा ईश्वर जीव एवं जगत् के रूप में प्रतीत होते हैं। माया के हटते ही ईश्वरए जीव और जगत् तीनों आभास एक साथ निवृत्त हो जाते हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि आचार्य शंकर का यह मानना है कि ईश्वर सृष्टि में है। वास्तविकता यह है कि जीव औश्र जगत् ईश्वर के सूक्ष्म और स्थूल शरीर हैं तथा ईश्वर जीवों की ओर जगत् की आत्मा है। शंकराचार्य के पश्चात् विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज ने ब्रह्म का जो निरूपण किया है वह सब शंकराचार्य के ईश्वर में घटित होता है तथा उसी का विस्तृत निरूपण लगता है।

3.9 शंकर के परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों की जीव सम्बन्धी अवधारणा

आचार्य शंकर के परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों ने ईश्वर और जीव के विषय में यह स्वीकार किया है कि उपाधि रहित शुद्ध सत्ता जीव एवं जगत दोनों में वि।मान रहता है। जीव में व्यक्त रूप से और जगत् में अव्यक्त रूप से। अतएव जीव एवं जगत् दोनों तत्व एक ही है। यदि जीव और जगत् दोनों को एक सामान्य आधार नहीं होता तो जीव को जगत् का ज्ञान संभव नही होता और बाह्य विषयों के साथ उसका तादात्म्य ज्ञान और भी असंभव होता। दूसरे शब्दों में अनन्त सत्–चित् या ब्रह्म ही एकमात्र मूलतत्व हैए जिससे जीव एवं जगत् दोनो ही बनते हैं। ब्रह्म आनन्द स्वरूप भी हैए क्योंकि सषुप्तावस्था में आत्मा का जो यथार्थ स्वरूप

निर्विषयक शुद्ध चैतन्य प्रकट होता हैए वह आनन्द रूप भी है। आत्मा का जीव विशेष के रूप में अहंभाव (मै का भाव) 'अविद्या' के कारण होता हैए जिससे वह कभी अपने को शरीरए और कभी इन्द्रिय और कभी और कुछ समझ लेता है।

आचार्य शंकर के अनुसार सर्वव्यापी निराकार चैतन्य (जो आत्मा का वास्तविक रूप है, विशेष आकार कैसे धारण कर लेता है अर्थात शुद्ध सत्ता विशेष विषयों का आकार कैसे धारण कर लेती है? कोई भी परिवर्तन'ील सविशेष विषय वास्तविक नहीं माना जा सकता। अतएव एक दुरुह समस्या सामने आ जाती है अर्थात् आपाततः सत् और विचार करने पर असत्। आचार्य शंकर इस गूढ़ पहेली को सुलझाने के लिए यह दिखाया है कि प्रत्यक्षए अनुभव और युक्ति में विरोध मिटाने के लिए बुद्धिको एक रहस्यमयी शक्ति का आश्रय लेना पड़ता है जिसके धारा अनन्त आत्मा अपने को प्रकटः जीवों में सीमित करता है। इसप्रकार अद्वैत वेदान्ती आभासन स्वल्पत्व और अनेकत्व की व्याख्या करने के लिए 'माया' का सहारा लेते हैं। अद्वैतवादी इस 'माया' की कल्पना समष्टि रूप में भी करते हैं और यष्टि रूप में भी करते हैं।

अद्वैत वेदान्तियों का यह मानना है कि शुद्ध अनन्त सत् चित आनन्द ब्रह्मू सर्व'ाक्तिमती माया के प्रभाव से अपने को उपाधियुक्त कर नाना जीव विषयों से युक्त जगत् के रूप में अपने को प्रकट करते हैं। यह समष्टि माया की कल्पना है अथवा इम यह कल्पना कर सकते हैं कि प्रत्येक 'जीव' अविद्या से ग्रस्त होने के कारण एक ब्रह्म के स्थान पर नाना विषय और जीव देखता है। यह व्यक्तिगत माया या अविद्या की कल्पना है। जब इस प्रकार का भेद किया जाता है तब मुख्यतः पहले अर्थ में 'माया' और दूसरे अर्थ में 'अविद्या' को व्यवहार कहा जाता है। आचार्य शंकर के परवर्ती वेदान्तियों ने आलंकारिक भाषा ब्रह्मए जीव और जगत् से सम्बन्धित 'माया' और 'अविद्या' से जुड़ी इस समस्या के समाधान के लिए तीन प्रकार की अवधारणा को प्रस्तावित किया है– प्रतिबिम्बवादए अवच्छेदवाद और आभासवाद।

3.9.1 प्रतिबिम्बवाद

प्रतिबिम्बवाद के अनुसार अनन्त चैतन्य का अविद्या के दर्पण पर जो प्रतिबिम्ब पड़ता हैए वही 'जीव' है। इस प्रकार के दृष्टिकोण का समर्थन करने वाले अद्वैत वेदान्तियों का यह मानना है कि जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा के नाना प्रतिबिम्ब भिन्न–भिन्न जला'ायों पर पड़ते हैं और जल की स्वच्छता या मलिनता के अनुरूप प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ या मलिन दिखायी पड़ते हैंए जल की स्थिरता या चंचलता के अनुसार प्रतिबिम्ब भी स्थिर या चंचल दिखायी पड़ता हैए उसी प्रकार अविद्या की प्रकृति के अनुसार अनन्त के प्रतिबिम्ब स्वरूप जीव भी भिन्न–भिन्न आकर–प्रकार का दिखायी पड़ता है। आचार्य शंकर और उनके परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों का यह मानना है कि स्थूल और सूक्ष्म शरीर दोनो ही अविद्या के कार्य है और अन्तः करण सूक्ष्म शरीर का एक अंग है। इस प्रकार अन्तःकरण निर्मल या मलिनए क्षुब्ध या शान्त हो सकता है। इन्हीं विभेदों को लेकर जीवगत अविद्याएं भी भिन्न–भिन्न होती हैं। प्रतिबिम्ब की उपमा से यह बात समझ में आ जाती है कि एक ही जीव कैसे भिन्न–भिन्न जीवों में प्रतिभासित होता है और फिर भी एक ही रहता है। केवल भिन्न–भिन्न अविद्याओं के फलस्वरूप भिन्न–भिन्न अन्तःकरणों से भिन्न–भिन्न प्रकार से प्रतिबिम्बित होता है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि अन्तः करण जितना ही निर्मल बनाया जायेगा उतना ही स्पष्ट रूप से ब्रह्म का प्रतिबिम्ब उसमें उतरेगा। अन्तःकरण अधिक शान्त बनाया जा सकता है। इसकी संभावना सुषुप्तावस्था के अनुभव से भी होती हैए जिसमें सभी विषयों से विरत हो

जाने के कारण आत्मा को कुछ काल के लिए शान्ति मिल जाती है। इस प्रकार आचार्य शंकर एवं परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि ब्रह्म माया में प्रतिबिम्ब जीव है। परन्तु 'ब्रह्म' और 'माया' दोनों ही निराकार हैंए अतः निराकार का निराकर में प्रतिबिम्ब कैसे संभव है? इसलिए कुछ अद्वैत वेदान्ती ईश्वर को बिम्ब और जीवों को ईश्वर का प्रतिबिम्ब मानते हैं। परन्तु यदि जीवों को प्रतिबिम्बवत् मान लिया जाय तो मुक्ति का अर्थ हो जायेगा जीवों का ना'ा क्योंकि अविद्यारुपी दर्पण के नष्ट हो जाने पर उसके प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जायेगें।

3.9.2 अवच्छेदवाद

प्रतिबिम्बवाद मे उत्पन्न दोष का परिहार करने के लिए अर्थात् जीव की सत्ता को बचाने के लिए कुछ अद्वैतवादी एक दूसरी उपमा का सहारा लेते हैंए जिसे 'अवच्छेदवाद' कहा जाता है। 'अवच्छेवाद' के अनुसार जैसे आकाश वस्तुतः सर्वव्यापी और एक ही हैए फिर भी घट मठादि उपाधिभेद से वह घटाकाश ए मठाका'ा आदि नाना रुपों में आभासित होता है और व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से हम आकाश का काल्पनिक विभाग करते हैं उसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म सर्वव्यापी और एक ही है, तथापि वह अविद्या के कारण उपाधि भेद से नाना जीवों और विषयों के रूप में प्रतीत होता है। वस्तुतः विषय–विषय मेंए जीव–जीव में कोई भेद नहीं है क्योंकि मूलतः वे एक ही शुद्ध सत्तामात्र हैं। यहाँ भ्रम है– केवल सर्वव्यापी का सीमित रूप में अनन्त का शान्त रूप में आभासित होना। वास्तविकता यह है कि 'जीव' सीमित शान्त रूप में दृष्टिगोचर होते हुए भी ब्रह्म से अभिन्न है। इस मत समर्थक अद्वैतवेदान्ती यह मानते हैं कि मायावच्छिन्न (माया से सीमित) ब्रहम ईश्वर और अविद्या अथवा अन्तः करवावच्छिन्न ब्रह्म जीव' है। अतएव 'जीव' से मुक्ति का अर्थ है– अविद्यामूलक उपाधियों को समाप्त कर निरुपाधिक ब्रह्मस्वरूप हो जाना है। परन्तु इस मत के विरुद्ध यह आश्रय लगाया जाता है कि 'माया' या 'अविद्या' अनन्त ब्रह्म को सीमित कैसे कर सकती है?

3.9.3 आभासवाद

प्रतिबिम्बवाद एवं 'अवच्छेदवाद' ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध की समुचित व्याख्या करने में सफल नहीं हुए। इसलिए अद्वैत वेदान्ती सुरे'वर ने 'आभासवाद' के धारा ब्रह्म एवं जीव के अभेद का समर्थन करते हैं। आभासवाद के अनुसार ब्रह्म का 'माया' में 'आभास' ईश्वर है और 'अविद्या' या अन्तःकरण में आभास जीव है। 'माया' या 'अविद्या' के सद्–असद् अनिर्वचनीय और मिथ्या और मिथ्या होने के कारण आभास भी सद्–असद् अनिर्वचनीय और मिथ्या हैं।

आचार्य शंकर ब्रह्म एवं जीव के सम्बन्ध की व्याख्या के लिए आभासवाद का ही सहारा लिये थेए यद्यपि उन्होंने प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद की भी उपमाएं और दृष्टान्त दिये हैं। आचार्य शंकर ने प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद को 'वाद' के रूप में ग्रहण नहीं किया हैए केवल उपमा के रूप में अपनाया है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि प्रतिबिम्ब और अवच्छेद भी आभास के अन्तर्गत आ जाते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार 'माया' या अविद्या ब्रह्म को वस्तुतः न तो प्रतिबिम्बित कर सकती है और न ही सीमित कर सकती है। 'माया' या 'अविद्या' भ्रान्ति है। अतएव उसके आभास भी मिथ्या है। आभास ब्रह्म के विवर्त हैंए परिणाम नहीं। ईश्वर माया के स्वामी है। वे 'माया' की विक्षेप शक्ति का प्रयोग करते हैं। उनपर माया या अविद्या का आवरण नहीं हैए क्योंकि 'माया' और 'अविद्या' उन्हें आवृत्त नहीं कर सकती। अतः ईश्वर स्वयं को ईश्वर के रूप में नहींए अपितु

परब्रह्म के रूप में अनुभव करते हैंए जीव उन्हें ईश्वर मानता है और 'जीव' अविद्या के कारण 'ब्रह्म' को ईश्वर मानता है।

3.10 रामानुज के अनुसार जीव की अवधारणा

रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद मं सृष्टि को सर्वथा सत्य माना गया है। रामानुज चित्ए अचित् एवं ईश्वर तीनों को ही सत्य मानते हैं। उनके अनुसार चित्–अचित् चेतन भोक्त जीव है और अचित् अचेतन भोग्य जड़ जगत् है। ईश्वर ही चित् एवं अचित् का अन्तर्यामी अधिष्ठाान है। रामानुज के अनुसार चित् एवं अचित् ईश्वर के विशेषता हैं। अचित् एवं चित्–ईश्वर पर आश्रित रहने के कारण नित्य सत्य हैं। इसलिए सृष्टि नित्य होने से उत्पत्ति–विनाश या जन्म मरण से रहित है। रामानुज 'ब्रह्म परिणामवाद' को स्वीकार करते हैंए इसलिए रामानुज सम्पूर्ण चेतन–अचतेन विश्व को ईश्वर का शरीर मानते हैं। रामानुज के अनुसार जगत् ईश्वर का तात्विक परिणाम हैए ईश्वर की सत्य सृष्टि है। रामानुज के अनुसार चित् और अचित् जीव और जगत् ईश्वर के विशेषता अंग या शरीर हैं तथा ईश्वर उनसे विशिष्ट अगों एवं उनका अन्तर्यामी आत्मा है। रामानुज के अनुसार ईश्वर के धर्मो के रूप में चित्–अचित् ईश्वर के गुण मात्र हैंए और उनसे स्वतंत्र न होकर उनपर सर्वथा आश्रित हैं। तथापि स्वयं चित् एवं अचित् द्रव्य हैंए तत्व हैंए नित्य हैं तथा परस्पर स्वतंत्र हैं किन्तु ईश्वर के जीवित अंग होने के कारण ईश्वर को ही जगत् का कारण मानते हुए इस सृष्टि को ईश्वर के बाहर नहीं हैं। वस्तुतः रामानुज आदि ईश्वरवादियों ने ईश्वर को ही जगत् का कारण मानते हुए इस सृष्टि को ईश्वर की लीला बताया है तथा इसे ईश्वर के संकल्प से उत्पन्न माना है। इस प्रकार रामानुज ईश्वर जीव और अचेत्न जगत तीनों को ही सत्य मानते हैं। किन्तु आचार्य शंकर ब्रह्म को ही एकमात्र पारमार्थिक सत्ता को मानते हैं। आचार्य शंकर का यह मानना है कि ब्रह्म ज्ञानी संसार के भूल–भूलैया में न पड़कर जगत् को ब्रह्म्मय देखते हैं। अतएव उनके लिए न कोई भ्रम है और न माया।

3.11 निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में जिस प्रकार ईश्वर वस्तुतः ब्रह्म ही हैए उसी प्रकार जीव भी वस्तुतः ब्रह्म ही है। 'माया' या 'अविद्या' के कारण ब्रह्म की प्रतीति ईश्वर और जीवों के रूप में होती है और ईश्वर की प्रतीति 'जीव' की दृष्टि से ही है। यद्यपि शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्तियों में ईश्वर एवं जीव के सम्बन्ध में मतभेद है जो प्रतिबिम्बवादए अवच्छेदवाद तथा आभासवाद के रूप में प्रतिपादित हुए हैं तथापि निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म 'माया' या 'अविद्या' की उपाधि के कारण 'ईश्वर' और 'जीव' के रूप में प्रतीत होता है। ईश्वर मायापति है और जीव उसकी माया या अविद्या शक्ति का प्रदर्शन है। ईश्वर में माया या अविद्या की केवल विक्षेप शक्ति उसके अधीन रहकर कार्य करती है। ईश्वर में 'माया' या अविद्या की आवरण शक्ति या अज्ञान का सर्वथा अभाव हैए जिस कारण ईश्वर स्वंय को अखण्ड चिदानन्द परब्रह्म के रूप में ही अनुभव करते हैं। जीव 'माया' या 'अविद्या' की आवरण (अज्ञान) और विक्षेप (मिथ्या ज्ञान) दोनों शक्तियों से आबद्ध है। ईश्वर माया का शुद्ध सत्व मात्र है और 'जीव' त्रिगुणात्मक है। आचार्य शंकर के अनुसार जीव कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व से युक्त होने के कारण अंहकार और ममकार से ग्रस्त है। परन्तु वास्तविकता यह है कि अद्वैत वेदान्त में जीवए ब्रह्म और ईश्वर एक ही है। जीव 'सत्यानृतमिथुनीकरण' है। 'जीव' में सत्य का अंश साक्षि चैतन्य का है और अनृत

अंश अविद्याकृत जीवत्व का है। अविद्या निवृत्व होते ही जीव साक्षी और ईश्वर एक साथ पर ब्रह्म के रूप में प्रकाशित होते हैं। वास्तविकता यह है कि आचार्य शंकर एवं रामानुज दोनों ही ब्रह्म की 'माया' शक्ति को सृष्टि की व्याख्या के लिए स्वीकार करते हैं किन्तु जहाँ रामानुज 'माया' कोई ईश्वर के लिए सृष्टि को करने की वास्तविक शक्ति को मानते हैं अथवा ब्रह्म में अवस्थित नित्य अचेत्न तत्व को वहीं शंकर भी माया को ब्रह्म में जगत् उत्पत्ति के समय भी कोई परिवर्तन नहीं होता है जबकि रामानुज के अनुसार ब्रह्म अवस्थित अचित् तत्व में वास्तविक में परिर्वन होता है।

3.12 सारांश

अद्वैत वेदान्त के प्रमुख दार्शनिक आचार्य शंकर ने परमार्थिक स्तर पर ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता का प्रतिपादन करते हुए जगत् एवं जीव की सत्ता के व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य माना है। आचार्य शंकर जगत को मिथ्या माना है। उनके अनुसार जगत ब्रह्म की भॉति नितान्त असत् भी नहीं है। इसलिए जगत सदसद्विलक्षण है। आचार्य शंकर के अनुसार जगत ब्रह्म से अनन्य है। जगत ब्रह्म का विवर्त है। प्रतीतिक सत्ता के रूप में जगत् व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है। आचार्य रामानुज ने शंकर के जगत् को ब्रह्म का परिणाम बताया है। इसलिए रामानुज का जगत् सम्बन्धी विचार ब्रह्म परिणामवाद के रूप में जाना जाता है। रामानुज के अनुसार सृष्टि उतनी ही सत्य है जितना कि ब्रह्म। इसके अतिरिक्त शंकर एवं रामानुज 'जीव' की अवधारणा को लेकर भी परस्तपर भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हैं। आचार्य शंकर तथा अद्वैत वेदान्त के उनके परतर्वी समर्थकों ने ब्रह्म एवं जगत् तथा जीव को तात्विक दृष्टि से एक माना है और ब्रह्म तथा जीव एवं जगत् तात्विक अभेद की सिद्धि के लिए प्रतिबिम्बवादए अच्छेदवाद और आभासवाद का प्रतिपादन किया है। आचार्य शंकर जीव और जगत की केवल व्यावहारिक सत्यता को स्वीकार किया हैए किन्तु रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद चित् और अचित् ब्रह्म के विशेषता होने के कारण ब्रह्म के समान ही सत्य हैं।

3.14 बोध प्रश्न

1. आचार्य शंकर के जगत् मिथ्यात्व का समीक्षात्मक विवेचन कीजिये।
4 आचार्य शंकर एवं रामानुज के जगत् विषयक दृष्टिकोण का विवेचन कीजिये।
5 आचार्य शंकर एवं रामानुज ने ब्रह्म जगत एवं जीव के बीच अन्तः सम्बन्धों को किस प्रकार निरुपित किया है।
6 आचार्य शंकर के ब्रह्मविर्वतवाद एवं रामानुज के ब्रह्म परिणामवाद के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

3.14 सहायक पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन – चटर्जी एवं दत्त
2. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण – डॉ. संगम लाल पाण्डेय

****

इकाई—4
(शंकराचार्य एवं रामानुज)

शंकराचार्य एवं रामानुज के दर्शन में 'आत्मा' एवं 'जीव'

इकाई की रुपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 आचार्य शंकर के आत्म विचार समर्थक युक्तियाँ

4.3 आचार्य शंकर के अनुसार ब्रहम ही 'जीव' और 'जगत' का आधार

4.4 आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा चेतन स्वरूप है।

4.5 आत्मा और प्रपंचात्मक जगत्

4.6 आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा ही सम्पूर्ण अनुभव का आधार है।

4.7 आचार्य शंकर के अनुसार 'जीव सम्बन्धी विचार'

- **4.7.1** प्रतिबिम्बवाद
- **4.7.2** अवच्छेदवाद
- **4.7.3** आभासवाद

4.8 आचार्य शंकर के अनुसार 'जीव' और ब्रह्म का एकत्व

4.9 रामानुज के विषिश्टाद्वैतमें 'आत्मा' और 'जीव' की अवधारणा

4.10 रामानुज के अनुसार 'जीव' और 'ब्रह्म' का अपृथकसिद्ध सम्बन्ध

4.11 निष्कर्ष

4.12 सारांश

4.13 बोध प्रश्न

4.14 उपयोगी पुस्तकें

4.0 उद्देश्य

आचार्य शंकर अपने अद्वैत वेदान्त में विशुद्ध अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं। आचार्य शंकर ने आत्मा को ही ब्रह्म कहा है और प्रतिपादन किया है कि जो सभी अवस्थाओं में वि।मान रहेए वही आत्मततव है। इस दृष्टि से उनका यह मानना है कि आत्मा का मौलिक तत्व चैतन्य हैए क्योंकि वह सभी अवस्थाओं में वि।मान रहता है। इसलिए चैतन्य आत्मा का स्वरूप है। शुद्ध चैतन्य होने के कारण आत्मा ज्ञानात्मक है। आत्मा स्वयं प्रकाश है तथा विभिन्न विषयों को प्रकाशित करता है। आत्मा ज्ञाताए ज्ञान और ज्ञेय की व्यावहारिक त्रिपुटी से अतीत है।

वस्तुतः वह ज्ञाता–ज्ञेय ज्ञान त्रिपुटी का आधार है। आत्मा ही ब्रह्म होने के कारण त्रिकाल अबाधित सत्ता है तथा सभी प्रकार के भेदों से रहित है। आचार्य शंकर ने एक ही तत्व को आत्मनिष्ठ दृष्टि से आत्मा कहा है तथा वस्तुनिष्ठ दृष्टि से ब्रह्म कहा है। उन्होंने उपनिषदों के तत्वमसिए अयमात्मा ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि तथा प्रज्ञानं ब्रह्म इत्यादि महावाक्यों के धारा आत्मा और ब्रह्म के अद्वैत अवस्था का निरूपण किया है।

आचार्य शंकर के अद्वैतवाद को रामानुज ने विशिष्टाद्वैतवाद में परिवर्तित कर दिया है और यह प्रतिपादित किया है कि जीवात्मा ब्रह्म का ही अंग है। ब्रह्म वि'ाष्य है और चित् तथा अचित् ब्रह्म के विशेषता हैं। चित् एवं अचित् विशेषता होने के कारण ब्रह्म पर ही आश्रित हैं। अतएव ब्रह्म में ही अन्तनिर्हित चित् जीवात्मा है। ईश्वर चित् और अचित् संचालक है। रामानुज के अनुसार ईश्वर का शरीर है। इस प्रकार रामानुज का ब्रह्म चित् और अचित की समष्टि है। फिर भी वह अद्वैत है। वस्तुतः रामानुज के ब्रह्म को विषिश्टाद्वैत अर्थात विशिष्ट अर्थ में ही अद्वैत कहा जाता है। रामानुज के अनुसार अद्वैत विशेषता है और अद्वैत वि'ाष्य है तथा विशेषता युक्त वि'ाष्य को अद्वैत कहते हैं। अतएव रामानुज के अनुसार विशेषता विशिष्ट विशेष्य ही विशिष्ट है और यह अद्वैत के सम्बन्ध को अपृथक सिद्धि रहता है। रामानुज द्वैत और अद्वैत के सम्बन्ध मानते हैंए क्योंकि इन्हें एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता है। यद्यपि रामानुज द्वैत और अद्वैत दोनों को ही अपृथक और सत्य माना हैए तथापि वे दोनों को ही समान स्तर का नहीं मानते हैं।

4.1 प्रस्तावना

आचार्य शंकर मत विशुद्ध 'अद्वैतवाद' का है। इसलिए उन्होंने आत्मा को ही ब्रह्म कहा है तथा आत्मा को ब्रह्म के रूप में नित्य सतए शुद्ध चैतन्य और अखण्ड आनन्द बताया गया है। उनका यह कहना है कि जो सत् है वही चित् हैए वही आनन्द है और वही ब्रह्म है। ब्रह्म इन्द्रियए बुद्धि–विकल्प और वाणी धारा ग्राह्य न होने के कारण अगोचर या अतीन्द्रिय निर्विकल्प तथा अनिर्वचनीय कहा जाता है। समस्तय अनुभव का अधिष्ठान होने के कारण ब्रह्म स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाश आत्म चैतन्य है। आचार्य शंकर याज्ञवल्क्य के इस उद्घोष को स्वीकार करते हैं कि "द्रष्टा का दर्शनए विज्ञाता का विज्ञान असंभव हैए क्योंकि जिसके धारा यह सब दृ'य प्रपंच जाना जाता है, उस विज्ञाता को विज्ञेय या विषय के रूप में कैसे जाना जा सकता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बुद्धिविकल्पातीत विज्ञाता या द्रष्टा सर्वथा अज्ञेय है। इसी को स्पष्ट करने के लिए याज्ञवल्क्य ने पुनः उद्घोष किया कि स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाश विज्ञाता के विज्ञान का या दृष्टा के दृष्टि का कभी लोप नहीं हो सकता है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि इन्द्रिय– संवेदन बुद्धि–विकल्प और वाणी के शब्दों के धारा अग्राह्य निर्विशेष आत्मचैतन्य अपरोक्षानुभूतिगम्य है। सापेक्ष बुद्धिज्ञाता ज्ञेय ज्ञान की त्रिपुटी के अन्तर्गत कार्य करती है और अपनी चार कोटियों की सहायता से विश्व का निरूपण करती है। आचार्य शंकर का यह स्पष्ट कहना है कि आत्मतत्व इस त्रिपुटी के और बुद्धिकी कोटियों से ऊपर हैए उनका अधिष्ठान है। अतएव अद्वैत और निर्विकल्प आत्मा बुद्धिग्राह्य नहीं हो सकता। सविकल्प बुद्धिविषयों और विषयों में ज्ञाता और ज्ञेय में प्रमाता और प्रमेय में भेद करके ज्ञान को इन दोनों का सम्बन्ध मानती हैए किन्तु यह ज्ञान खण्डित सविकल्प और मिथ्या है। अतएव आचार्य शंकर का यह मानना है कि विशुद्ध नित्य चैतन्य ही शुद्ध ज्ञानए शुद्ध ज्ञाता और शुद्ध ज्ञेय है। आत्म

चैतन्य में त्रिपुटी प्रत्यक्ष नहीं है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि एक विषय का दूसरे विष में भेदए ज्ञाता–ज्ञेय का भेद तथा जीव और ईश्वर का भेद ये सब माया की सृष्टि हैं। आचार्य शंकर का मानना है कि वस्तुतः एक ही तत्व है और अनेकत्व मिथ्या है। इस प्रकार आचार्य शंकर उपनिषदों में अन्तनिर्हित इस दृष्टिकोण का ही पूर्णतः समर्थन करते हुए दिखायी पड़ती हैं कि आत्मा एवं ब्रह्म में स्वरुपतः कोई भेद नहीं है।

4.2 आचार्य शंकर के आत्म विचार समर्थक युक्तियाँ

आचार्य शंकर श्रुतियों के आधार पर आत्मा एवं ब्रह्म के अभेद अवस्था का वर्णन किये हैं। आचार्य शंकर का यह मानना है कि उपनिषदों के 'अयमात्मा ब्रह्म' प्रज्ञानं ब्रह्मए तत्वमसिए अहं ब्रह्मास्मि तथा सर्व खल्विदं ब्रह्म जैसे महावाक्य आत्मा और ब्रह्म के अद्वैत अवस्था का ही वर्णन करते हैं। आचार्य शंकर का यह मानना है कि आत्मा ही ब्रह्म है। अतएव आत्मा और ब्रह्म तात्विक दृष्टि से एक ही हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि आत्मा वह सत्ता है जो शुद्ध चैतन्य रूप में सभी प्रकार के ज्ञानों में विद्यमान रहता है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि आत्मा का सारभूत चैतन्य दैनिक जीवन की जाग्रतए स्वप्न एवं सुषुष्टि इन तीन अवस्थाओं में सर्वदा वि।मान रहता है। इसलिए जो तत्व स्थीाय है, वह चैतन्य है। आत्मा का यथार्थ स्वरूप निर्विषयक ज्ञान या शुद्ध चैतन्य है। शुद्ध चैतन्य आनन्द स्वरूप है क्योंकि जाग्रत एवं स्वप्नावस्था के क्षणिक आनन्द ब्रह्म के ही सत्–चित्–आनन्द के अंश हैं। आत्मा ही प्रत्येक आनन्द का मूल स्रोत है। विषयानन्द क्षुद्र और क्षणिक होता है क्योंकि आत्मा क्षुद्र और क्षणिक विषय में अपने को सीमित करने से संकुचित हो जाता है। जब आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप (निर्विशेष शुद्ध चैतन्य जो सम्पूर्ण विश्व मं व्याप्त है) का ज्ञान हो जाता है तब उसे किसी विषय की आशंका नहीं रहती और वह केवल आनन्दरूप हो जाता है।

4.3 आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म ही जीव और जगत का आधार

आचार्य शंकर का यह मानना है कि उपाधिरहित शुद्ध सत्ता ही जीव और जगत् दोनों का ही अधिष्ठान है। चैतन्य ही जीव और जगत् दोनों में ही अभिव्यक्ति हो रहा हैए जीव में व्यक्त रूप से वाह्य जगत में अव्यक्त रूप से। अतएव जीव और जगत दोनों का ही तत्व एक ही है। यदि जगत औश्र जीव का एक सामान्य आधार नहीं होता तो जगत् को जगत का ज्ञान संभव नहीं होता और वाह्य विषयों के साथ उसका तादात्म्य का ज्ञान तो और भी असंभव होता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अनन्त सत्–चित् या ब्रह्म ही एकमात्र मूलतत्व है जिससे जीव और जगत् दोनों ही बनते हैं। ब्रह्म ही आत्मा होने के कारण आत्मा आनन्द स्वरूप भी हैए क्योंकि सुषुप्तावस्था में आत्मा का जो यथार्थ स्वरूप है निर्विषयक शुद्ध चैतन्य प्रकट होता हैए वह आनन्द रूप भी है।

4.4 आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा चेतन स्वरूप है

आचार्य शंकर आत्मा को चेतन स्वरूप माना हैए इसलिए उन्होंने आत्मा की किसी अन्य रूप में सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका यह मानना है कि शरीर एवं इन्द्रियों के साथ आत्मा का तादात्म्य नहीं हो सकताए क्योंकि शरीर

विकारवान् और इन्द्रियाँ विकल हैं। यदि शरीर एवं इन्द्रियों को आत्मा स्वीकार करें तो आत्मा को शरीर एवं इन्द्रियों के दोष से दूषित होना पड़ेगा। मन भी आत्मा नहीं है क्योंकि वह भी विकारवान है। आत्मा को क्षणिक विज्ञानों का प्रवाह मानने पर आत्मा की इकाई खण्डित होती हैए परिणामतः स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा की व्याख्या नहीं हो पाती। आत्मा को 'शून्य' भी कहना असंगत है क्योंकि यदि सम्पूर्ण जगत् को शून्य कहे तो भी शून्यता अपने बोध को ग्रहण करने वाली प्राक्कलपना कर लेती है। दूसरे शब्दों में आत्मा की सत्ता निषेध के परे है। शंकर के अनुसार आत्मा और चेतना में द्रव्य गुण सम्बन्ध भी संभव नहीं हैए क्योंकि यह भेद दृष्टि पर आधारित है। आत्मा और चेतना में द्रव्य गुण सम्बन्ध तभी हो सकता है जब वे परस्पर भिन्न हों। यदि दोनों को एक समान स्वीकार करें तो यह स्पष्ट है कि उनमें क्या सम्बन्ध है। या तो इनमे संयोग सम्बन्ध है या समवाय। दोनों में संयोग समबन्ध नहीं हो सकताए क्योंकि यह सम्बन्ध दो भौतिक पदार्थो में होता है और आत्मा और चेतना भौतिक पदार्थ नहीं है। इनमें समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा होने के लिए इस सम्बन्ध को आत्मा से सम्बद्ध होना चाहिए और इसका कहीं अन्त नहीं होगा। इस प्रकार आत्मा और चेतना से परस्पर भिन्न होने पर द्रव्य गुण सम्बन्ध के परे हैं। इस प्रकार शंकराचार्य य विचार व्यक्त करते हैं कि वास्तव में आत्मा चेतन स्वरूप है।

आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा का यथार्थ स्वरूप निर्विषयक ज्ञान या शुद्ध चैतन्य है। इस प्रसंग में दो बातें विचारणीय हैं एक तो यह है कि आत्मा का स्वरूप चैतन्य विषयों पर निर्भर नहीं है। अतएव यह समझना उचित नहीं है कि ज्ञाता का किसी माध्यम के धारा विषय के साथ सम्पर्क होने से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान नित्य नहीं है, उसकी उत्पत्ति होती हैए इस साधारण मत को हमें बदलना पड़ेगा। यदि आत्मा स्वतः स्थित और स्वतः प्रकाश चैतन्य है और प्रत्येक विषय भी स्वप्रकाश सत्–चित का एक रुपमात्र है तो किसी वि।मान विषय की अनुपलब्धि का एक ही कारण समझ में आ सकता है– कोई आवरण जो उस विषय के रूप को आच्छादित करता है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियादि के धारा आत्मा का विषय के साथ जो सम्पर्क होता है वह इसी आवरण या बाधा हटाने के लिए आव'यक होता है जैसे आवृत्त दीप को देखने के लिए उसका ढँकना दूर कर दिया जाता है। दूसरी बात यह विचारणीय है कि आत्मा निर्लिप्त भाव से स्वाभाविक रूप में रहता है, जिसके कारण आत्मा शुद्ध चैतन्य आनन्द स्वरूप है।

4.5 आत्मा और प्रपंचात्मक जगत्

अद्वैत वेदान्त में आत्मा को ब्रह्म का ही रूप माना गया है। शंकराचार्य के अनुसार 'सर्वस्यात्मत्वाच्यब्रह्मानास्तित्व' प्रसिद्धिः अर्थात सबके आत्मतत्व में ब्रह्म का अस्तित्व प्रसिद्ध है। शंकराचार्य का यह भी मानना है कि 'आत्मव्यतिरेकेण अग्रहणात आत्मैव सर्वम्' अर्थात आत्मा के बिना सभी वस्तुएं अग्रहीत होने के कारण आत्मा ही सब कुछ है। शंकराचार्य का स्पष्ट रूप से यह मानना है कि एक ही तत्व है जो सम्पूर्ण सृष्टि के केन्द्र में है और वह तत्व ब्रह्म या आत्मा है। प्रपंचात्मक जगत में दिखायी पड़ने वाला विषयी–विषयए ज्ञाता–ज्ञेय एवं जीव तथा ईश्वर का भेद मायाजनित होने के कारण मिथ्या है। वास्तविकता यह है कि जीव के सारतत्व की दृष्टि से विचार करने पर जिस एकमात्र तत्व को आत्मा कहते है, उसे ही प्रपंचात्मक जगत के आधारभूत तत्व के रूप में ब्रह्म कहते हैं।

4.6 आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा ही सम्पूर्ण अनुभव का आधार है।

शंकराचार्य चैतन्यस्वरूप आत्मरूप को ही सम्पूर्ण अनुभव का आधार मानते हैं और सच्चिदानन्द कहते है। शंकराचार्य का आत्मा सम्बन्धी विचार सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में विशिष्ट स्थान रखता है। क्योंकि उन्होनें ब्रह्म एवं आत्मा में किसी प्रकार का द्वैत नही माना है। शंकराचार्य आत्मा के चैतन्य स्वरूप होने को स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि मनुष्य के जाग्रत स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा सारभूत चैतन्य वि।मान अवश्य रहता है। इसी सारभूत चैतन्य के कारण जाग्रत अवस्था में बाह्य एवं आन्तरिक विषयों का ज्ञान संभव है। सुषप्ति अवस्था में भी आन्तरिक विषयों का ज्ञान संभव है। सुषप्ति अवस्था में भी चैतन्य का लोप नही होता है, क्योंकि मै सुखपूर्वक सोया इस प्रकार की अनुभूति चैतन्य के कारण ही संभव है। इस प्रकार आचार्य शंकर यह दिखाते हैं कि तीनों अवस्थाओं जो अपरिवतशील एवं स्थायी तत्व है। वह चैतन्य स्वरूप है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप तुरीयावस्था में उभरता है जो आन्तरिक एवं वाह्य विषयों के अभाव की अवस्था है एवं जाग्रतए स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से अतीत अवस्था है। आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप होने के साथ–साथ आनन्द स्वरूप भी है। यह नित्यए कूटस्थ एवं अजर–अमर है। आचार्य शंकर आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के लिए निम्न तर्क दिये हैं–

1. आत्मा का निराकरण नहीं किया जा सकता है। आत्मा के विषय में यह कहा गया है कि– य एव निराकर्त्ता तदैव तस्य स्वरुपम्। पाश्चात्य दर्शन में डेकार्ट ने भी आत्मा के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है कि सन्देह कर्त्ता स्वयं आत्मा ही है।

2. आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा स्वयंसिद्ध है, क्योंकि ज्ञान के सभी साधन (प्रमाण) आत्मा के अस्तित्व पर निर्भर है। प्रमाणादि व्यापारों का आश्रय होने के कारण आत्मा का अस्तित्व इसके पूर्व ही सिद्ध है।

3. आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि अपरोक्षानुभूति से भी होती है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने होने का अपरोक्ष अनुभव होता है। यदि आत्मा का अस्तित्व न होता, तो सभी लोग इसके अनास्तित्व का अनुभव करते। अतएव आत्मा अस्तित्व सिद्ध है।

4.7 आचार्य शंकर के अनुसार जीव सम्बन्धी विचार

आचार्य शंकर आत्मा की सत्ता को सिद्ध करने के पश्चात् जीव के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार जीव ब्रह्म या आत्मा का व्यावहारिक रूप है। यह चेतन एवं भौतिक तत्वों की समष्टि है। जीव का चेतन स्वरूप साक्षी (निष्क्रिय द्रष्टा) रूप है। जीव का चेतन रूप अन्तः करण की वृत्तियों का तटस्थ द्रष्टा है। जीव के चेतन स्वरूप का प्रत्यक्ष शरीर रुपी माध्यम से होता है। जीव का अचेतन तत्व अन्तःकरण है, जो अविद्या का परिणाम जीव के जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में सदैव सक्रिय रहता है, यह केवल सुषुप्ति में ही निष्क्रिय होता है। अतएव अद्वैत वेदान्त में जिसे साक्षी जीव कहते हैं वह अंन्तःकरण में व्याप्त चैतन्य है– 'अन्तःकरणविशिष्टो जीवः'। जीव आत्म–अनात्म रूप या सत् आभास रूप है। वास्तविकता यह है कि जीव निष्क्रिय साक्षी एवं सक्रिय अन्तकरणः का संयुक्त रूप

है। जीव ही अहं प्रत्यय का विषय है। जीव ज्ञाताए कर्त्ता एवं भोक्ता है। जीव अनेक हैं और प्रत्येक जीव की अपनी विशेषता है।

आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में जीव की ब्रह्म से पृथक कोई सत्ता स्वीकार नहीं की गयी है। जीव अनादि अविद्या के कारण ब्रह्म से भिन्न अपने अस्तित्व का अनुभव करता है। जीव को जब ब्रह्मज्ञान या आत्म ज्ञान हो जाता है, त बवह ब्रह्म से अपनी अनन्यता का अनुभव करता है। जीव और ब्रह्म की एकता को आचार्य शंकर के अनुयायियों ने निम्नलिखित सिद्धान्तों धारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है–

4.7.1 प्रतिबिम्बवाद

विवरण प्रस्थान के अनुयायी ब्रह्म एवं जीव कके सम्बन्ध में प्रतिबिम्बवाद का समर्थन करते है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार ब्रह्म का अविद्या में प्रतिबिम्ब जीव है। ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होने के कारण जीव ब्रह्म से अभिन्न है। अविद्या के दूर होने पर प्रतिबिम्ब स्वरूप जीव का ब्रह्म से एकत्व हो जाता है और जीव ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है।

4.7.2 अवच्छेदवाद

अद्वैत वेदान्त में 'भामती–प्रस्थान' के अनुयायी ब्रह्म जीवैकत्व के विषय में अवच्छेद का समर्थन करते हैं। भामती–प्रस्थान के समर्थक घटाकाश की उपमा धारा ब्रह्म एवं जीव की अनन्यता को समझाते हैं। उनके अनुसार यद्यपि आकाश सर्वव्यापी एवं एक हैए तथापि वह घट, मठ आदि भेद से घटाकाश एवं मठाकाश आदि रुपों में आभासित होता है। इसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म सर्वव्यापी एवं एक है, तथापि वह अविद्या के कारण उपाधि भेद से नाना जीवों के रूप में प्रतीत होता है। इस प्रकार अविद्या के कारण अनन्त एवं सर्वव्यापी ब्रह्म सीमित एवं शान्त जीवों के रूप में आभासित होता है। अविद्या के दूर होते ही सीमित चैतन्य रूप जीव ब्रह्म चैतन्य से अभिन्न हो जाता है।

4.7.3 आभासवाद

सुरेश्वर आभासवाद के आधार पर ब्रह्म एवं जीव के अभेद का समर्थन करते हैं। सुरेश्वर के अनुसार प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद सम्बन्धी विचार कोई तात्विक सिद्धान्त नहीं हैए ये उपमा मात्र हैं। वास्तविकता यह है कि अविद्या न तो ब्रह्म को प्रतिबिम्बित कर सकती है और नही सीमित, अविद्या भ्रान्ति है। अतएव उसका आभास ही मिथ्या है।

4.8 आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म और जीव का एकत्व

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म जी वैकत्व का प्रतिपादन किया गया है। आचार्य उपनिषद महावाक्यों अहं ब्रह्मास्मिए अयमात्मा ब्रह्मए तत्वमसि एवं प्रज्ञानं ब्रह्म की व्याख्या के धारा भी जीव एवं ब्रह्म के एकतत्व को ही सिद्ध किया है। परन्तु विषिश्टाद्वैत वादी रामानुज शंकर के आत्मा एवं जीव सम्बन्धी विचार से सहमत नहीं है। रामानुज शंकर के अभेत्रवाद का खण्डन करते हुए जीवात्मा को ब्रह्म का अंश माना है। रामानुज के अनुसार जीवात्मा द्रव्य की दृष्टि से आणविक होते हुए ज्ञान की दृष्टि से असीम है। यह शरीरए मनए बुत्रि एवं प्राण से भिन्न होते हुए भी ईश्वर से भी भिन्न है। यह मानवीय स्तर पर शरीर एवं प्राण से युक्त

है, जो ज्ञानेन्द्रियों के समान मात्र साधन रूप है। जीव का आकार अणु होने पर वह अपने ज्ञानरुपी गुण के धारा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है और सुख–दुःख का अनुभव कहते हैं जो द्रव्य एवं गुण दोनों है और वह जीव का नित्य लक्षण है।

4.9 रामानुज के विषिश्टाद्वैतमें 'आत्मा' और 'जीव' की अवधारणा

रामानुज के अनुसार जीवात्मा का विशिष्ट सारतत्व 'अहं' है। जीवात्मा ज्ञाताए कर्त्ताए एवं भोक्ता है। जीवात्मा स्वभावतः आनन्द से युक्त है, किन्तु अविद्या एवं कर्म के कारण बन्धनग्रस्त हो जाने के कारण उसका आनन्द सीमित हो जाता है। आत्माएं विशेषता के रूप में ब्रह्म का अंश है। जीव में यद्यपि ईश्वर बिना ही उसका नियंत्रण करता है। जीवों के तीन वर्ग हैं– नित्यए भुक्तए एवं बद्ध। नित्य जीव बैकुण्ठ में निवास करते हैं और कर्म तथा प्रकृति से स्वतंत्र होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं। भुक्त जीव वे है जो ज्ञान पुण्य तथा भक्ति धारा मोक्ष प्राप्त कर चुकें हैं। बद्ध जीव वे हैं जो अपने अज्ञान एवं स्वार्थपरता के कारण संसार –चक्र में परिभ्रमण कर रहें हैं। बद्ध जीवों के भी चार वर्ग हैं– आकाशीय (अति मानव), मानवए प'ु एवं स्थावर। यद्यपि सभी जीवात्माएं एक ही कोटि के हैं, तथापि उनके कर्मज शरीरों के कारण उनमें भेद किये जाते हैं। इस प्रकार रामानुज जीवबहुत्ववाद का प्रतिपादन करते हैं।

4.10 रामानुज के अनुसार 'जीव' और 'ब्रह्म' का अपृथकसिद्ध सम्बन्ध

रामानुज के अनुसार यद्यपि जीवए ब्रह्म से स्वरुपतः भिन्न है, तथापि ब्रह्म से उसका सम्बन्ध अविच्छेद है। रामानुज ब्रह्म एवं जीव के सम्बन्ध अपृथक सम्बन्ध मानते हैं। रामानुज चिर्द्विशिष्ट ब्रह्म को द्वैत विशिष्ट अद्वैत कहते हैं। रामानुज के विषिश्टाद्वैत में चित् एवं अचित् ब्रह्म के बिना नहीं रह सकते, किंतु ब्रह्म एवं जीव जगत् (चित् एवं अचित्) के बिना रह सकता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि ब्रह्म एवं जीव के विशिष्ट अभेद की स्थापना 'तत्वमसि' महावाक्य धारा भी करते हैं। परन्तु रामानुज का भेद विशिष्ट अभेद तार्किक बुद्धिधारा समर्थित नहीं है, क्योंकि भेद एवं अभेद दो परस्पर विरुद्ध विचारधाराएं है और उनके बीच समन्वय संभव नहीं है।

रामानुज ब्रह्म एवं जीव के बीच सम्बन्ध को 'अपृथकसिद्ध' सम्बन्ध मानते हैं और ब्रह्म एवं जीव के बीच 'आंगिक एकता' को मानते हैं। परन्तु यदि आंगिक एकता सम्बन्ध को माना जाय तो ब्रह्म का पारमार्थिक स्वरूप में दोष उत्पन्न हो जाएग और यदि अपृथकसिद्ध सम्बन्ध माना जाए तो उस सत्ता में भेद करने का प्रयास किया गया है, जो अभेदस्वरूप है।

4.11 निष्कर्ष

इस प्रकार शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता को माना गया है और जीव को ब्रह्म का ही आभास माना गया है। जब तक कि अविद्या का नाश नहीं कर पाता है और उसे आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता है। जीव को ज्यों ही आत्मज्ञान हो जाता है। त्योंही वह ब्रह्म हो जाता है। अतएव ब्रह्म एवं आत्मा एक ही है। परन्तु रामानुज

शंकराचार्य से भिन्न मत प्रस्तावित करते हुए जीव को ब्रह्म का अंश मानते हैं और ब्रह्म को अंशी मानते है। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण वे भेद विशिष्ट अभेद का प्रतिपादन करते हैं, जिसे विषिश्टाद्वैत वाद कहा जाता है। परन्तु रामानुज का विषिश्टाद्वैत वाद तार्किक दृष्टि से उचित नही माना गया है। शंकर एवं रामानुज के आत्मा एवं जीव के निरूपण में अंतर का प्रमुख कारण उनके दृष्टिकोण सम्बन्धी भेद पर आधारित है, क्योंकि शंकर अद्वैतवाद के समर्थक हैं और रामानुज विषिश्टाद्वैत वाद के समर्थक हैं।

4.12 सारांश

आचार्य शंकर का मत विशुद्ध अद्वैतवाद का है। इसलिए उन्होंने आत्मा को ही ब्रह्म कहा है तथा आत्मा को ब्रह्म के रूप में नित्य सत्ए चित् और अखण्ड आनन्द बताया है। आचार्य शंकर आत्मा एवं ब्रह्मैकत्व का प्रतिपादन किया है। शंकर का यह मानना है कि आत्मा का यथार्थ स्वरूप निर्विषयक ज्ञान या विशुद्ध चैतन्य है। आचार्य शंकर के अनुसार जीव ब्रह्म या आत्मा का व्यावहारिक रूप है। 'जीव' का चेतन स्वरूप 'साक्षी' रूप है। जीव के चेतन स्वरूप का प्रत्यक्ष शरीररुपी माध्यम से होता है। 'जीव' ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है। जीव अनेक हैं और प्रत्येक 'जीव' की अपनी विशेषता है। आचार्य शंकर क परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों ने 'जीव' और 'ब्रह्म' के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए 'प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद एवं आभासवाद का सहारा लिया है।

रामानुज के विषिश्टाद्वैतमें चित् तत्व को ही आत्मा माना गया है। रामानुज के अनुसार जीवात्मा विशिष्ट सार तत्व अहं है। रामानुज के अनुसार ब्रह्म विशेष्य है और आत्माएं विशेषता के रूप में ब्रह्म का अंश है। रामानुज के अनुसार यद्यपि सभी जीवात्माएँ एक ही कोटि के हैं किन्तु उनमे कर्मज शरीरों के कारण भेद किये जाते हैं। इस प्रकार रामानुज 'जीवबहुत्वाद' का प्रतिपादन करते हैं। रामानुज 'ब्रह्म और जीव' के सम्बन्ध को अपृथकसिद्ध सम्बन्ध मानते हैं। रामानुज 'जीव' औश्र 'ब्रह्म' के बीच आंगिक एकता को मानते हैं।

4.13 बोध प्रश्न

1. शंकर एवं रामानुज के आत्मा की अवधारणा का विवेचन कीजिये।
2. शंकर एवं रामानुज के अनुसार 'ब्रह्म'ए 'आत्मा' एवं 'जीव' के सम्बन्ध का विवेचन कीजिए।
3. शंकर एवं रामानुज के अनुसार आत्मा और जीव की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

4.14 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन – चटर्जी एवं दत्त
2. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण – डॉ. संगम लाल पाण्डेय

****

इकाई–5
(शंकराचार्य एवं रामानुज)

शंकर एवं रामानुज के दर्शन में प्रमाण–विचार

प्रमाण–विचार

प्रमाण मीमांसा– भारतीय प्राणमीमांसा का मुख्य विवेच्य विषय प्रभाए प्रमाण एवं प्रमाण्य है। भारतीय दर्शन में ज्ञान के स्वरूप के अन्तर्गत ज्ञान की यथार्थता एवं उसकी प्रामाणिकता के विषय में विमर्श किया गया। प्रत्येक ज्ञान अपने–अपने अनुरूप किसी बाह्य–वस्तु की ओर संकेत करता है। अद्वैत वेदान्त में प्रत्येक ज्ञान को स्वतः सत्य स्वीकार किया जाता है। और उसके परीक्षण की आव"यकता तभी अनुभव की जाती है जब उसकी सत्यता के विषय में संशय उत्पन्न होता है। भारतीय दर्शन में किसी विशय के यथार्थ ज्ञान को 'प्रभा' और अयथार्थ ज्ञान को 'अप्रभा' कहते हैं। अनाधिगत से तात्पर्य नवीनता से है और अबाधितत्व से तात्पर्य निश्चितता से है। प्रभा के साधन को ही 'प्रमाण' कहते हैं। कोई ही ज्ञान प्रामाण्य के कारण 'प्रभा' एवं अप्रमाण्य के कारण अप्रभा होता है। प्रामाण्य के विशय में ज्ञप्ति एवं उत्पत्ति दो दृष्टि से विचार किया जाता है। ज्ञप्ति का अर्थ है ज्ञान की दृष्टि और उत्पत्ति का अर्थ है उत्पत्ति की दृष्टि से। जो दार्शनिक यह मानते हैं कि ज्ञान का प्रामाण्यीकरण किसी अन्य ज्ञान से नहीं हो सकता है, वे स्वतः प्रामाण्यवादी कहलाते हैं और दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञन के प्रामाण्य का ज्ञान किसी अन्य ज्ञान से होता हैए वह परतः प्रामाण्य को ही मान्यता प्रदान करता है और यह स्वीकार करता है कि ज्ञान का प्रामाण्य अलग से उत्पन्न नहीं होता हैंए अपितु स्वतः उत्पन्न होता है।

–: स्वतः प्रामाण्यवादियों का मानना है कि ज्ञान के उत्पन्न होते ही उसे प्रामाण्य का भी ज्ञान हो जाता है। पा"चात्य दर्शन का सत्य का सुसंगति सिद्धान्त स्वतः प्रामाण्य के निकट है, क्योंकि स्वतः प्रामाण्यवादी एवं सत्यता के सुसंगति सिद्धान्त के समर्थक दोनों ही यह मानते हैं कि ज्ञान यदि स्वतः प्रमाणित नहीं है, तो अन्य ज्ञान यदि उसे प्रमाणित नही कर सकता है। स्वतः प्रामाण्यवादी एवं सत्यता का सुसंगति सिद्धान्त दोनों ही यह मानते हैं कि ज्ञान विसंगतिरहित होना चाहिए। ज्ञान की मूल समस्या सं'ाय की नहीं, अपितु विश्वास की है। यही कारण है कि अद्वैत वेदान्त का स्वतः प्रामाण्यवाद अधिक युक्तिसंगत माना जाता है, क्योंकि यह स्वीकार करता है कि ज्ञान उत्पन्न होने के साथ ही प्रभा रूप होने के लिए विश्वास भी लिए रहता है।

–: प्रभा की उत्पत्ति जिन कारणों से होती है वे प्रमाण कहलाते हैं। अद्वैत वेदान्त में व्यवहारिक सत्ता के क्षेत्र में छः प्रमाणों को स्वीकार किया गया है, जिन्हें भाट्ट मीमांसा में भी स्वीकार किया गया है। ये प्रमाण हैं– प्रत्यक्षए अनुमानए उपमानए शब्दए अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि। इनमें शब्द को वैदिक प्रमाण या श्रुति–प्रमाण तथा अन्य को लौकिक प्रमाण कहा जाता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण– सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में ज्ञान के साधन के रूप में प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार किया गया है। इन्द्रियों के धारा साक्षात् रूप से प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। मीमांसा के प्रमुख दार्शनिक कुमारिल भट्ट ने प्रत्यक्ष को परिभाषित

करते हुए कहा है कि ज्ञानेन्द्रियों के साथ वि'ायों का साक्षात् सम्बन्ध होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है।

—: इस प्रकार अद्वैत वेदान्त भी मीमांसा की ही भांति यह स्वीकार करता है कि प्रत्यक्ष एक प्रकार की साक्षात् प्रतीति है, जो इन्द्रियार्थ सन्निकर्श से उत्पन्न होता है। किसी भी प्रत्यक्ष में विशय तथा तद्‌गुणों का इन्द्रिय सेए इन्द्रिय का मन से तथा मन का आत्मा से, इन तीन प्रकारों से सन्निकर्ष होता है, जिससे ज्ञान की उपलब्धि होती है। मीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त में भी मन की कल्पना न्याय दर्शन के समान एक प्रकार के इन्द्रिय के रूप में की गयी है।

—: न्याय वैशेषिक के समान मीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त में भी प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक एवं सविकल्पक दो भेद माने गये हैं। इन्द्रिय का किसी विशय के साथ संयोग होने पर पहले मात्र उसकी सत्ता मात्र का बोध होता है और फिर उसके गुणों के साथ उसके पूर्ण रूप का ज्ञान होता है। निर्विशेष ज्ञान को निर्विकल्पक अथवा आलोचन– ज्ञान कहते हैं। ज्ञान की इस अवस्था में विशयों की एक अस्पष्ट अनुभूति मात्र होती है। इस प्रकार मीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त का निर्विकल्पक ज्ञान न्याय वैशेशिक के निर्विकल्पक ज्ञान से भिन्न है। न्याय वैशेशिक दर्शन में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को केवल तर्क के आधार पर सविर्किल्पक की प्राग अवस्था के रूप में माना जाता है, मीमांसा एवं अद्वैत विशेष प्रत्यक्ष को मनुश्य के अनुभव की एक अवस्था विशेश माना जाता है। यही कारण है कि मीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त पशुओं एवं शिशुओं के प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की कोटि में रखा जाता है।

—: सविकल्पक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में बीजरूप में गर्भित अस्पष्ट गुणों का स्पश्टीकरण है। उदाहरण के लिए जब हम दूर से दिखायी देने वाली वस्तु के पास जाकर उसे 'यह नील का घर है' इस प्रकार जानते हैं तो उस वस्तु के घटत्व एवं नीलत्व से विशिष्ट यह ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है। उसका गतिशील होना है। यद्यपि चन्द्रमा के गति का हम प्रत्यक्ष नहीं करते हैं, तथापि वास्तविकता यह है कि समान्यतोदृश्ष्ट अनुमान के धाराा अन्यान्य वस्तुओं के स्थान परिवर्तन के प्रत्यक्ष के आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि गति के कारण ही ऐसा होता है। नव्य नैयायिकों ने व्याप्ति–स्थापन प्रणाली के प्रकार भेद के आधार पर केवलान्वयी कवेल व्यतिरेकी एवं अननय–व्यतिरकी अनुमान के भेद को स्वीकार करते हैं। अद्वैत वेदान्त नव्य नैयायिकों केवलान्वयी अनुमान तो स्वीकार करता है, किन्तु केवल व्यतिरेकी एवं अन्वय व्यतिरेकी को अस्वीकार करता हैं

—: भौतिकवादी चावार्क दार्शनिकों ने अनुमान का सशक्त खण्डन किया है। चार्वाक दार्शनिकों का मानना है कि उपाधिशून्य हेतु का मिलना असंभव है, क्योंकि देशान्तर एवं कालान्तर में उसके उपाधियुक्त होने की संभावना है। इसके अतिरिक्त व्याप्ति को ही अनुमान का आधार माना जाता है और यदि व्याप्ति की स्थापना ही संभव नही है, तो अनुमान प्रमाण के रूप में कैसे स्वीकार किया जा सकता है। यदि व्याप्ति को सामान्य माना जाए, तो इसे उचित नहीं माना जा सकता है, क्योंकि सामान्य की सत्ता ही नहीं है।

—: यदि व्याप्ति का आधार सामान्य न मानकर व्यक्ति माना जाए, तो भी अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि व्यक्ति अनन्त हैं। उदाहरणार्थ हम सभी कालों के सभी धूमों और अग्नियों का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। इस प्रकार चार्वाक

दार्शनिकों का यह मानना है कि यदि व्याप्ति सम्बन्ध की स्थापना ही नहीं संभव है, तो अनुमान को प्रमाण के रूप में कैसे स्वीकार किया जा सकता है, अतएव अनुमान निर्दोष होने के कारण स्वीकार्य नहीं है।

–: परन्तु चार्वाक दार्शनिकों धारा यह कहना किए ''सदैव निर्दोष न होने के कारण अनुमान को प्रमाण नहीं माना जा सकता है'' युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि भ्रान्ति तो प्रत्यक्ष ज्ञान में भी होती है।

–: निश्कर्श के रूप में कहा जा सकता है कि मानव की समस्त ज्ञान प्रक्रियाएं किसी न किसी प्रत्यक्ष पर आधारित हैं। दर्शन जगत् में प्रत्यक्ष ही एक ऐसा प्रमाण है, जिसे सभी एक मत से स्वीकार करते हैं। इसकी महत्ता केवल दार्शनिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी है।

अनुमान–प्रमाण– भौतिकवादी चावार्क को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में अनुमान को ज्ञान का साधन माना गया है। अनुमान 'अनु' उपसर्ग एवं 'मान' शब्द के मेल से निष्पन्न होता हैं। 'अनु' उपसर्ग पश्चात् एवं 'मान' शब्द ज्ञान का घेतक है। अतएव अनुमान शब्द का सामान्य अर्थ पश्चात् ज्ञान हैं। यदि हम ज्ञात वि'ाय से सम्बन्धित अथवा इसके आधार पर दूसरा ज्ञान प्राप्त करें, तो यह अनुमान कहलाएगा। वस्तुतः अनुमान साधन (कारण) से साध्य (कार्य) का लिंग से लिंगी, प्रत्यक्ष से परोक्ष का दृष्ट से अदृष्ट काए धर्म से धर्मी का ज्ञान है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि– ''अनुमान उस विचार प्रणाली को कहते है, जिसमें हम किसी लिंग के धारा किसी अन्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं, क्योंकि उन दोनों में व्याप्ति सम्बन्ध वर्तमान रहता है।''

–: अनुमान का ज्ञान व्याप्ति ज्ञान एवं पक्ष धर्मता ज्ञान के अनुसार होने वाला ज्ञान है। 'पर्वतो बुद्धिमान धूमनवत्वात्' जब हम ऐसा कहतें है तो यहाँ हम पहले से ही यह जानते हैं कि जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि होती है। जब अनुमान कर 'अनुमीयत इति अनुमानम' अथवा 'अनुमितत' अनुमानमः' ऐसा विग्रह किया जाता है, तो यह अनुमिति प्रभा का बोधक होता है और जब 'अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्' ऐसा विग्रह किया जाता है तो यह अनुमति प्रभा के करण का वाचक होता है इसीलिए अनुमिति के करण को अनुमान कहा जाता है।

–: महर्शि गौतम ने अनुमान को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि– 'तत्वपूर्वकम त्रिविधानुमानम्'। यहाँ 'तत' शब्द से 'लिङग्लिङ्गिग्दर्शन' और 'लिङग्दर्शन' दोनों ही अभिप्रेत है। लिङग्ी के साथ लिङ् का सम्बन्ध ग्रहण हो जाने के पश्चात् 'लिङग्दर्शन' से व्याप्ति स्मरण हो जाता हैए जिसे अनुमान कहते हैं।

–: मीमांसक शाबरस्वामी अनुमान को पारिभाषित करते हुए कहते हैं कि 'अनुमानं ज्ञत सम्बन्धस्य एक दशदर्शनात्–देशान्तरे असन्निकृष्टे अर्थे बुद्धिः' अर्थात समान अधिकरण में आश्रित रहने वाले एक दे'ाों (हेतु और साध्य) के अधिगत सम्बन्ध निय (महानस या रसोईघर आदि अधिकरण में आश्रित रहने वाला हेतु 'धूम' और साध्य 'अग्नि' में अवधारित किया हुआ व्याप्ति सम्बन्ध धारा एक देश दर्शन पर्वत शिखर पर दिखायी देने वाले हेतु धूम का ज्ञान) से अन्य देश (साध्य–अग्नि) रूप असन्निकृष्ट अर्थ में जो अबाधित ज्ञान होता है वही अनुमान।

—: अनुमान के सम्बन्ध में दी गयी परिभा'ाा से यह स्पष्ट है कि अनुमान पक्ष में हेतु के धारा साध्य के सिद्धि का ज्ञान हे, जो हेतु के प्रत्यक्ष ज्ञान से होता है। अब प्रश्न उठता है कि व्याप्ति क्या है? इस प्रश्न के सम्बन्ध में नैयायिक का कहना है कि हेतु और साध्य के बीच नियत एवं अनौपाधिक सम्बन्ध 'व्याप्ति' है। भाट्ट मीमांसा के अनुसार व्याप्य गम्य और व्यापक गमक होता हे, जो सामान्य अथवा न्यून देश—काल की अपेक्षा रखता है, वह व्याप्य है तथा जो समान अथवा अधिक देश—काल की अपेक्षा रखता हैए वह व्यापक है। प्रभाकर के अनुसार नियत तथा अव्यभिचारित कार्य—करण भाव सम्बन्ध ही 'व्याप्ति' है।

अनुमान के लक्षण से यह स्पष्ट होता है कि किसी अनुमान में कम से कम तीन पद हांगे और कम से कम तीन वाक्य होंगे, जैसे—

पर्वत में धुआँ है।

जहाँ—जहाँ धुआँ है, वहाँ—वहाँ आग है।

अतः पर्वत पर आग है।

उपर्युक्त उदाहरण में पर्वत पक्ष है। इसे पक्ष इसलिए कहते है कि इस अनुमान में पर्वत के सम्बन्ध में ही यह विचार होता है कि वहाँ आग है कि नहीं। 'अग्नि' साध्य है, क्योंकि अनुमान के धारा पर्वत के सम्बन्ध में यही सिद्ध करना रहता है कि वहाँ आग है। 'धुआँ' हेतु है, क्योंकि 'धुआँ' के धारा ही यह सिद्ध होता है कि वहाँ आग है। मानसिक क्रम की दृष्टि से पहले हेतु सहित पक्ष का ज्ञान होता है और तत्पश्चात् हेतु और साध्य की व्याप्ति का ज्ञान होता है। अंत में यह निष्कर्ष निकलता है कि साध्य का सम्बन्ध पक्ष के साथ है। परन्तु अनुमान को जब वाक्यों धारा व्यक्त किया जाता हैए तो सबसे पहले पक्ष का सम्बन्ध साध्य के साथ स्थापित किया जाता है।, जैसे— 'पर्वत' बुद्धिमान है। इसके बाद यह बतलाया जाता है कि किस 'हेतु' के कारण 'पर्वत बुद्धिमान है'। जैसे— 'पर्वत धूमवान है'। अन्त में यह दिखाया जाता है कि साध्य के साथ हेतु का अविच्छेद सम्बन्ध है, जैसे 'जहाँ—जहाँ धुआँ हैए वहाँ—वहाँ आग है' जैसे महानस में।

—: पाश्चात्य तर्कशास्त्र में अनुमान की यह प्रक्रिया न्यायवाक्य (Syllogism) के रूप में पायी जाती है वहाँ साध्य के लिए डंरवतए पक्ष के लिए डपदवत तथा हेतु के लिए डपककसम पद प्रयुक्त होते हैं। परन्तु पाश्चात्य तर्कशास्त्र का न्यायवाक्य (Syllogism) एवं भारतीय तर्कशास्त्र का न्यायवाक्य एक दूसरे मिलते—जुलते होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र केवल निगमात्मक एवं आकारिक है, जबकि भारतीय न्यायवाक्य (परामर्श) आगमन एवं निगमन की संयुक्त प्रक्रिया है तथा आकारिक सत्य के साथ ही वस्तुगत सत्य भी है।

न्याय दर्शन में अनुमान के दो भेद माने गये हैं, जिसे मीमांसा अद्वैत वेदान्त एवं विषिश्टाद्वैत में भी स्वीकार किया गया है। यह भेद स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। स्वार्थानुमान स्वतः संशय निवृत्ति के लिए किया जाता है। किसी दूसरों के संशय के निवृत्ति के लिए किया जाता है। किसी अन्य को अनुमान को समझाने के लिए इसे क्रमब) तथा श्रृखंलित रूप में प्रकट करने की आवश्यकता होती है। मीमांसा और अद्वैत वेदान्त में पंचावयवों के स्थान पर तीन अवयव ही स्वीकार किये गये हैं— परार्थानुमान का उदाहरण इस प्रकार है—

पर्वत पर आग है (प्रतिज्ञा)

क्योंकि वहाँ धुआँ है (हेतु)

अतः पर्वत पर आग है (निगमन)

न्याय दर्शन के अनुमान के तीन भेद को मीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त में भी स्वीकार किया गया है। ये भेद व्याप्ति के प्रकार भेद पर आधारित हैं। ये भेद निम्नलिखित हैं–

1. पूर्ववत अनुमान–पूर्ववत अनुमान उसे कहते हैं, जिसमें भवि'य कार्य का अनुमान वर्तमान कारण से होता है, जैसे– 'मेघों को देखकर व'ाा होने का अनुमान करना'।

2. शो'ावत् अनुमान– शो'ावत् अनुमान उसे कहते हैं जिसमें वर्तमान कार्य से विगत कारण का अनुमान किया जाता है, जैसे– 'नदी की गँदली एवं वेगवती धारा को देखकर विगत वृष्टि का अनुमान करना। इस प्रकार पूर्ववत तथा शोशवत् अनुमान में साधन एवं साध्य के बीच कार्य कारण सम्बन्ध विद्यमान होता है।

3. सामान्यतोदृष्ट अनुमान–सामान्यतोदृष्ट अनुमान केवल इस आधार पर किया जाता है कि दो घटनाएं बराबर एक दूसरे के साथ पायी जाती है, जैसे– 'चन्द्रमा के स्थान्तरित होने का कारण'

–: इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य समस्त क्रियाकलाप केवल प्रत्यक्ष पर ही निर्भर नहीं रह सकता। अतएव ज्ञान के साधन के रूप में अनुमान प्रमाण तो समर्थनीय तो है ही साथ ही व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी उसका निषेध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि लौकिक जीवन के साथ–साथ वैज्ञानिक प्रगति भी अनुमान पर आधारित है।

शब्द प्रमाण–अद्वैत वेदान्त और विषिश्टाद्वैत में शब्द (शास्त्र) प्रमाण को स्वतंत्र रूप में ज्ञान का साान माना गया है। कोई भी कथन उसके धारा उपलक्षित अर्थो में निर्दोश प्रमाण हैए यदि किसी अन्य प्रमाण धारा यह असत्य सित्र न कर दिया जाए। शंकर शब्दों के स्फोट–सम्बन्धी सिद्धान्त की समीक्षा करते हैं और उपवर्श से सहमत होकर कहते हैं कि– ''अक्षर ही शब्द हैं।' ये अक्षर नष्ट नहीं होते क्योंकि प्रत्येक बार जब–जब उन्हें नये सिरे से प्रकट किया जाता है, तो ये वही अक्षर हैं, इस प्रकार उनकों पहचान लिया जाता है।

–: 'शब्द जाति अथवा आकृति का बोध कराते हैंए व्यक्तियों का नहींए क्योंकि वे संख्या में अनेक हैं। चूँकि व्यक्तियों की ही उत्पत्ति एवं विनाश होते हैं, वर्गों (जातियों) की नहीं, शब्दों तथा उनसे जिन वर्गों का बोध होता है उन वर्गों के मध्य जो सम्बन्ध है उसे अपेक्षाकृत नित्य कहा गया है। एक शब्द का अर्थ दो प्रकार का होता है– साक्षात् (शाक्य) और उपलक्षित (लक्ष्य)। जातिगत व्याप्तियों को शंकर ने स्वीकार किया है और उन्हें अजन्मा बताया है, किन्तु व्यक्ति उत्पन्न होते हैं। जो कुछ हमें दिखायी पड़ता है और अनुभव होता हैए उस सब के मूल में या पृष्ठभूमि में सार्वभौम (व्याप्ति के) सिद्धान्त रहते हैं। वे इस लोक के पदार्थो के परलोकगत आदिमरूप हैं। वे ऐसे आदर्शरूप नमूने हैं, जिनके अनुरूप ईश्वर इस विश्व की रचना के लिए ढाँचे गढ़ता है।

–: अद्वैत वेदान्त वेद की नित्य ज्ञान मानता है और इसे सृष्टि के समस्त जीवों के लिए त्रिकालाबाधित नियमों का भण्डार है। वेद अपौरुषेय हैं और वे ईश्वर के

विचारों को प्रकट करते हैं। वे पदार्थ तो अवश्य नित्य है, किंतु स्वयं उसके मंत्र नित्य नहीं हैं, क्योंकि ईश्वर प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में फिर से उनका उच्चारण करता है। अद्वैतवादी यह स्वीकार करता है कि– ''वेद अक्षरोंए शब्दों तथा वाक्यों के संग्रह हैं और उनके अस्तित्व का प्रारम्भ सृष्टि से प्रारम्भ होता है और उनका विलोप प्रलय के साथ ही हो जाता है। उसी प्रकार जिस प्रकार की आकाश एवं अन्य तत्व उदय होते है और नष्ट होते हैं। संसार के क्रम में बार–बार निरन्तर विघ्न पड़ने पर भी अनादि संसार के अन्दर एक सारभूत नित्यत्व है।''

–: ऐसा माना जाता है कि वेदों में विश्व के आदर्श रूप का विधान है और चूँकि संसार प्रवाह स्वरूप से नित्य है वेद भी नित्य है। इसके अतिरिक्त क्रमागत संसारो की एक नित्य आकृति होने के कारण वेदोंए की प्रामाणिकता में किसी भी सृष्टियुग में कोई अन्तर नहीं आता है। जिन अर्थो में परम यथार्थ सत्ता नित्य हैं, मूल आदर्श आकृतियाँ उन अर्थो में नित्य नहीं हैं, चूँकि वे सब अविद्या से उत्पन्न हैं।

–: शंकराचार्य के अनुसार शब्द से संसार के उत्पत्ति का तात्पर्य यह नहीं है कि शब्द संसार का ब्रह्म के समान उपादान कारण है। शंकर कहते है कि यद्यपि सदा रहने वाले शब्दों का अस्तित्व है, जिनका सारतत्व उनके अपने नित्य स्थायी महत्वों (अर्थात वे आकृतियाँ जिनका बोध उनसे होता है) से सम्बद्ध बोध कराने की क्षमता हैए ऐसे व्यक्तिरूप पदार्थो को जिनके ऊपर वे शब्द लागू हो सकते हैए उक्त शब्दों से निर्मित कहा जाता है। ईश्वर जिसे नित्य रूप से बुद्धिए स्वातंत्र्य प्राप्त है और संकल्प शक्ति भी स्वतंत्र रूप से उसमें हैए इन शब्दों को स्मरण रखता तथा प्रत्येक सृष्टि युग में इन्हें व्यक्त करता है। उन शब्दों को वास्तविक रूप में प्रकट करना ही सृष्टि रचना हैए अथवा विशयनिष्ठ कारण है जो त्रिकालाबाधित है। शंकर ने वेदों की प्रामाणिकता को न्याय एवं मीमांसा के विचारकों धारा दी गयी युक्तियों से भिन्न युक्तियों के आधार पर सिद्ध किया है।

–: वेद नित्य हैं और स्वतः प्रकाश हैं, क्योंकि वे ईश्वर के स्वरूप का प्रकाश करते हैं, जिसके विचार उनके अन्दर दिये गये हैं। उनकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध तथा साक्षात् है, वैसे ही जैसे कि सूर्य का प्रकाश हमारे आकृति सम्बन्धी ज्ञान का साक्षात् साधन है।

–: स्मृति अथवा परम्परा का प्रामाण्य निरपेक्ष नहीं है। इसे तभी स्वीकार किया जाता हैए जबकि यह श्रुति के अनुकूल हो, क्योंकि श्रुति ही हमें ऐसा ज्ञान प्रदान करती है जो इन्द्रियों अथवा विचार शक्ति के धारा प्राप्त नहीं हो सकता। प्रकृति तथा उसके गुणों से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञान का श्रुति भी उल्लघंन नहीं कर सकती। किन्तु धर्म एवं अधर्म सम्बन्धी विशयों पर श्रुति एकमात्र प्रमाण है। यथार्थ सत्ता को जानने के लिए अनुमान तथा अन्तर्दृष्टि का भी प्रयोग किया जा सकता है।

–: शब्द प्रमाण को पौरुषेय और अपौरुषेय भेद से दो प्रकार का होता है। पौरुषेय वाक्य में 'प्रमाण्य वक्ता की आप्तता के कारण अनुमति होता है। इसमें संशय एवं विपर्यय की संभावना रहती है तथा अन्य ज्ञान से कभी भी इसका बाध हो सकता है। परन्तु अपौरुषेय वाक्य स्वतः प्रामाण्य हैं, नित्य और अपौरुषेय हैं। वेद किसी पुरुष की कृति नहीं हैए इसका रचयिता कोई नहीं हैए न जीव और न ईश्वर। वेद में न तो आन्तर विरोध हो सकते हैं और न अन्य ज्ञान से इसके बाधित होने की संभावना हो सकती है। प्रभाकर ने न केवल अपौरुषेय अन्तर्भाव कर यिा है। पुनश्च शब्द या तो सिद्धार्थ वाक्य हो सकते हैंए जो हमें सत्य पदार्थो का ज्ञान

कराते हैं या विधायक वाक्य हो सकते हैं। जो हमें किसी कर्म को करने या ना करने का आदेश देते है (अभिहितान्वयवाद)। वेद के विधिवाद तथा अर्थवाद नामक दो भेद किये जा सकते हैं इनमें मुख्य भाग विधिवाद हैए जो कर्मपरक आदेश देता है। अर्थवाद वर्णनात्मक है। प्रभाकर के अनुसार अर्थवाद भी कर्म का सहायक बनकर ही प्रामाणिक हो सकता है (आन्विताभिधानवाद)।

–: वेद की नित्यता एवं अपौरुशेय को सिद्ध करने के लिए मीमांसा ने शब्दए अर्थ और शब्दार्थ सम्बन्ध तीनों को नित्य माना है। शब्दए दो या अधिक वर्णो का समूह होता है। वर्ण को नित्यए सर्वगत और निखयव स्वीकार किया गया है। उच्चारित वर्ण उसकी ध्वनि से भिन्न है और लिखित वर्ण उसके रूप से भिन्न है। वर्ण नित्य और अपरिणामी है, किन्तु उसकी उच्चरित ध्वनि या लिखित रूप अनित्य तथा परिवर्तनशील होते हैं। किसी वर्ण की अनित्य एवं विभिन्न ध्वनियाँ या लेखन रूप उस नित्य तथा अपरिणामी वर्ण की अभिव्यक्ति के साधन हैं। नित्य वर्णो का समूह होने के कारण शब्द भी नित्य हैं। शब्द का अर्थ भी नित्य होता है, अपितु नित्य सामान्य होता है जो व्यक्तियों में पदार्थ नहीं होताए अपितु नित्य सामान्य होता है, जो व्यक्तियों में अनुगत रहता है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य होता है, यह न ईश्वर संकेत से आता है और न रुढ़िगत व्यवहार से। मीमांसा के अनुसार जब सभी ''ाब्दए अर्थ और शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य हैं तो फिर सभी साहित्यिक या सार्थक ग्रन्थ नित्य हो जावेंगे। तब केवल वेद को ही नित्य मानने का क्या कारण है? इसका उत्तर मीमांसक इस प्रकार देते हैं– अन्य ग्रन्थों या प्रबन्धों में या भाषणों में शब्दों के प्रयोग का क्रम या आनुपूर्ती रचयिता या वक्ता के ऊपर निर्भर रहती हैए अतः ग्रन्थों आदि का भेद प्रसिद्ध है। इसलिए ये ग्रन्थादि पौरुषेय होते हैं और इनमें संशयए विपर्यय आदि दोषों की संभावना रहती है। किन्तु वेद अपौरुषेय है और उनमें शब्दों का क्रम या आनुपूर्वी भी नित्य तथा स्वतः निर्धारित है। अतएव वेद की नित्यताए अपौरुषेयता और स्वतः सिद्ध है।

–: आचार्य शंकर का कहना है कि ब्रह्म का ज्ञान श्रुति (शब्द) प्रमाण या वैदिक प्रमाण से ही हो सकता है। आचार्य ''ांकर 'माण्डूक्यकारिका' के भाष्य में कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान तर्क से भी हो सकता है– 'शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम'। शारीरिक भाष्य में भी वे कहते हैं कि श्रुति एवं अनुभवादि दोनों यथासंभव ब्रह्मवि।ा में प्रमाण है। अनुभव के अन्दर अपरोक्ष अनुभूति तथा परोक्ष ज्ञान दोनों का समावेश है। अतः कहा जा सकता है कि सभी प्रमाण ब्रह्मवि।ा में प्रमाण मानते हैं। आचार्य शंकर का यह स्पष्ट कहना है कि सर्वप्रथम ब्रह्म का ज्ञान शब्द या अपरोक्ष अनुभव से ही होता है और उसके बाद अन्य प्रमाणों से उसे दृढ़ किया जाता हैं।

–: श्रुति प्रमाण का ब्रह्मविद्या की सिद्धि में साधक मानने के कारण कुछ लोगों की आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त के विरुद्ध कुछ लोगों ने आपत्ति की है कि वे श्रुतिवादी हैं और तर्क की उपेक्षा करते हैं। परन्तु शंकराचार्य पर उपर्युक्त आरोप लगाने वाले लोग शंकराचार्य के इस कथन की उपेक्षा करते हैं कि श्रुति वही बताती है जो उसका अपना अपरोक्ष अनुभव कहता है। यदि श्रुति तर्क विरुद्ध कथन करे तो वेदान्ती उसको मानने के लिए तैयार नहीं है। अतएव वेदान्त में श्रुति युक्तियुक्त ज्ञान है। श्रुति या श्रवण सर्वथा मनन पूर्वक है। मननरहित श्रुति या श्रवण का कोई महत्व नही है।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि वेदान्त में ब्रह्मविद्या के सिद्धि में अन्य प्रमाण भी सहायक है, किन्तु वह श्रुति प्रमाण को ही दृढ़ बनाते हैं।

उपमान–प्रमाण–भारतीय दर्शन में न्यायए मीमांसा एवं वेदान्त में उपमान को एक स्वतंत्र प्रमाण रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु इनके स्वीकरण के रुपों में भेद वि।मान है। महर्षि गौतम के अनुसार– ''प्रसिद्ध साधर्म्यात साध्यसाधनमुपामानम्'' अर्थात प्रसिद्ध वस्तु (जैसे गाय) के साधर्म्य से अप्रसिद्ध (जैसे गवय) वस्तु ज्ञान उपमिति है और इसका करण या साधन उपमान है।''

–: वात्स्यायन के अनुसार उपमान के धारा नाम और नामी पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध अर्थात संज्ञा–संज्ञि सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

–: केशवमित्र के अनुसार ''अतिदेशवाक्य के स्मरण के बाद ज्ञात वस्तु के सादृश्य से युक्त अज्ञात वस्तु ज्ञान कराने वाला प्रमाण उपमान है''

–: नैयायिक उदाहरण के धारा उपमान को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। वे कहते हैं कि मान लीजिए आप नहीं जानते है कि 'गवय' या नीलगाय क्या है? कोई जंगल का रहने वाला आप से बतलाता है कि यह गाय आकार–प्रकार की होती है और गाय से बहुत मिलती–जुलती है। अब आप किसी जंगल में बतलाये हुए आकार–प्रकार का कोई पशु देखते हैं और समझते हैं कि इसीप्रकार का पशु नीलगाय है, तो आपका यह ज्ञान उपमान के धारा प्राप्त होता है।

–: मीमांसक नैयायिकों के उपमान का खण्डन करते हैं। मीमांसको का यह मानना है कि 'यह जन्तु विशेष गाय के सदृश है' ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष के धारा होता है और 'गाय के सदृश जन्तु गवय है' ऐसा ज्ञान शब्द प्रमाण के स्मृति के धारा होता है। फलतः 'यह जन्तु गवय है' ऐसा ज्ञान अनुमान के धारा प्राप्त हो जाता है। अतएव नैयायिक उपमान को जिस रूप में स्वतंत्र प्रमाण मानते हैंए वह यथार्थतः स्वतंत्र नहीं हैं

–: मीमांसा के अनुसार उपमानजन्य ज्ञान तब होता है जब हम पहले देखी हुई वस्तु के सदृश किसी वस्तु को देखकर समझते हैं कि स्मृति वस्तु प्रत्यक्ष के सदृश है। शाबर स्वामी के अनुसार– ''ज्ञात वस्तु के सादृश्य के आधार पर अज्ञात वस्तु का ज्ञान उपमान है।''

–: नैयायिकों का कहना है कि मीमांसा के उपमान में हमें ज्ञान होता है कि 'गो गवय सदृश है।' अतएव यदि मीमांसा का उपमान सत्य है तो स्मृतिरूप है स्मृतिरूप होने से अप्रमाण होगा। यदि इसे स्मृतिरूप माना जाय तो अनुमान में अन्तर्भूत होगा और स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना जा सकता।

–: न्याय एवं मीमांसा का उपमान पाश्चात्य तर्कशास्त्र के सादृश्यात्मक ज्ञान (Analogy) से मिलता–जुलता है।

–: परन्तु न्याय एवं मीमांसा धारा स्वीकृत उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मानने से अनेक भारतीय दार्शनिक इनकार करते हैं। चावार्क कहते हैं कि– ''उपमान प्रमाण नहीं है क्योंकि इससे नाम का यथार्थ ज्ञान नहीं मिला।''

–: बौद्ध एवं सांख्य दर्शन में उपमान का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव माना गया है। बौद्ध दार्शनिकों का कहना है कि–''नागरिक को ज्ञान होता है कि दृश्यमान पशु गोसदृश है। यह ज्ञान सादृश्य विशिष्ट–वस्तु का ज्ञान है। यह साक्षात् ज्ञान है। नागरिक को गो और गवय को समानता का प्रत्यक्ष होता है।''

–: सांख्य दर्शन का यह मानना है कि जब नीलगाय के साथ चक्षु सन्निकर्ष होता हैए तभी हमें प्रत्यक्ष होता कि नीलगाय गोसदृश है।

–: परन्तु नैयायिकों को चावार्कए बौद्ध एवं सांख्य की आलोचना मान्य नहीं है। नैयायिकों का यह स्पष्ट मान्यता है कि सादृश्य का ज्ञान दो वस्तुओं में होता है। जो लोग उपमान का प्रत्यक्ष में अर्न्तभाव करते हैं वे केवल एक वस्तु के प्रत्यक्ष के आधार पर ऐसा करते हैं, क्योंकि 'नीलगाय गोसदृश है' में गवय का प्रत्यक्ष तो हो रहा है, किन्तु गाय का नहीं। यह प्रत्यक्ष अतिदेशवाक्य के स्मरण पर आधारित होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि वेदान्त में उपमान प्रमाण के सम्बन्ध में मीमासां के ही मत समर्थन किया है और उपमान को भी ज्ञान का प्रमुख साधन माना है।

अर्थापत्ति प्रमाण–मीमांसा में सर्वप्रथम अर्थापत्ति नामक एक विशेष प्रमाण की चर्चा की गयी है, जिसे आगे चलकर वेदान्त में भी मान्यता प्रदान की गयी हैं। अर्थापत्ति की अपेक्षा उस स्थल पर होती है, जब किसी विशेष परिस्थिति में एक निर्धारित तथ्य की सत्यता को अबाधित रखने के लिए किसी दूसरे अदृष्ट विशय की कल्पना की जाती है। इस प्रकार दृष्ट या श्रुत अर्थ की उपपत्ति जिस अर्थ के अभाव में न हो सकेए उस अर्थ की कल्पना अर्थापत्ति कहते हैं। शाबरभाष्य में कहा गया है कि– 'अर्थापत्तिरपि दृष्टः वाडर्थोडन्यथा नोपद्यतेइत्यर्थकल्पना' अर्थात किसी अर्थ की उपपत्ति के लिए जो अर्थान्तर की कल्पना की जाती हैए उसे अर्थापत्ति कहते हैं। दूसरे शब्दों दो तथ्यों के विरोधाभास को दूर करने के लिए जिस अर्थ की कल्पना की जाय वह अर्थापत्ति कहलाता है।

–: मीमांसा दर्शन के प्रमुख दार्शनिक प्रभाकर और कुमारिल दोनों ही अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण माना है। उदाहरण के लिए 'देवदत्त घर में ही नहीं है'– इस वाक्य में दो तथ्यों अर्थात देवदत्त के जीवित होने में और उसके घर में न होने में जो असंगति या विरोधाभास प्रतीत हो रहा हैए उसका निराकरण देवदत्त के घर से बाहर होने का अर्थ कल्पना से हो जाता है। इस प्रकार दो विरुद्ध कोटिक सत्य विशयों अथवा अनुभवों के समन्वय के लिए जब किसी तीसरे अदृश्य विषय की कल्पना की जाती है तब इस प्रकार कल्पना को अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं।

–: मीमांसा के विपक्षी दर्शनों की धारणा है कि अर्थापत्ति को एक विशेष प्रमाण के रूप में ग्रहण करना उचित नहीं है, क्योंकि अर्थापत्ति के जितने भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। उनका प्रत्यक्षए अनुमान या शब्द प्रमाणों में से किसी एक में समावेश हो जाता है। परन्तु मीमांसक अर्थापत्ति धारा ज्ञान की उपलब्धि में विरुद्ध कोटिकए अनुभवों के समन्वयार्थ एक नवीन प्रणाली का अनुभव करते हैं जो प्रत्यक्ष अनुमान एवं शब्द में नही पायी जाती । 'देवदत्त का घर से बाहर होना।' प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, क्योंकि इसमें देवदत्त के बर्हिभाव का इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं होता। इसका ज्ञान अनुमानजन्य भी नहीं है, क्योंकि इसमें व्याप्ति सम्बन्ध का अभाव है। इसे आगम पर भी आधारित मानना अनुचित होगाए क्योंकि देवदत्त का बाहर होना किसी भी आप्त पुरुश से नहीं सुना गया है। अतएव उपर्युक्त प्रकार के ज्ञान को एक विशिष्ट प्रमाण के फल मानना न्यायसंगत है।

–: मीमासा में दो प्रकार के अर्थापत्ति का वर्णन मिलता हैं– दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति। दृश्यार्थापत्ति में किसी दृश्टार्थ अथवा घटना की उपपत्ति होती है और श्रुतार्थापत्ति में किसी श्रुतार्थ अथवा सुनी हुई बात का समन्वय होता है। दृष्टार्थापत्ति का एक उदाहरण इस प्रकार है।– देवदत्त दिन में भोजन नहीं करताए फिर भी वह मोटा है। अतएव वह रात्रि में खूब भोजन करता है।

—: उपर्युक्त उदाहरण में देवदत्त का मोटा होना दृष्टार्थ है अर्थात दिखलायी पड़ता है। 'देवदत्त घर में नही 'है' यह श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण है, क्योंकि देवदत्त परोक्ष है, इसलिए दृष्ट नहीं है। अतएव इस स्थल पर श्रुतार्थपत्ति है।

—: अद्वैत वेदान्ती भी मीमांसा विचारकों के समान अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं। वेदान्त परिभाषा के अनुसार यदि अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में करने का प्रयास किया जाएगए तो साध्य वाक्य अन्वय व्याप्ति (एक ऐसा सामान्य कथन जो हेतु और साध्य के नियत साहचर्य सम्बन्ध का कथन करता है) न होकर व्यतिरेक व्याप्ति (एक ऐसा सामान्य कथन जो साध्याभाव और हेत्वाभाव के नियत सम्बन्ध का कथन है) होगा। वेदान्त परिभाषा के अनुसार व्यतिरेक व्याप्ति सीधे अनुमान की ओर अग्रसर नहीं करती। अतएव अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत व्यतिरेकी अनुमान का अन्तर्भाव अर्थापत्ति में होता है।

—: निश्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मीमांसक एवं वेदान्ती पृथक–पृथक प्रयोजन से अर्थापत्ति की आव"कता को स्वीकार करते हैं। मीमांसक वैदिक वाक्यों की व्याख्या के लिए अर्थापत्ति प्रमाण की आवश्यकता को स्वीकार करते है। वे अप्राप्त शब्दों और उनके अर्थो की कल्पना धारा वैदिक ग्रन्थों की व्याख्या करना चाहते है। इसके विपरीतए अद्वैत वेदान्ती वेदान्त ग्रन्थों की व्याख्या के लिए अर्थापत्ति का प्रयोग करते हैं। उपनिषद् कभी–कभी यह कहते हैं। उदाहरण के लिए उपनिशद् कभी–कभी ब्रह्म धारा ब्रह्म के बाहर जगत के सृष्टि की बात करते हैं। उपनिशद् कभी–कभी यह कहते हैं कि ब्रह्म ही एकमात्र सत् है और जगत का नानात्व मिथ्या है। सृष्टि ब्रहम का यथार्थ रुपान्तर नहीं हैए वरन् विवर्तमात्र है। अद्वैती अर्थापत्ति की सहायता से इस असंगति की व्याख्या करते हैं। अद्वैत वेदान्त धारा माया की कल्पना एक प्रकार की अर्थापत्ति ही हैए जिसके अभाव में ब्रह्म के निरपेक्ष सत्ता एवं जगत के नानात्व में संगति नहीं स्थापित की जा सकती है।

अनुपलब्धि प्रमाण—मीमांसा दर्शन के कुमारिल भट्ट एवं उनके अनुयायियों ने सर्वप्रथम अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण मानते हुए उसे अनुपलब्धि प्रमा के ज्ञान का साधन माना जाता है। कालान्तर में अद्वैत वेदान्त में भी अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान की गयी। अनुपलब्धि प्रमाण धारा किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए जब हम यह कहते हैं कि 'इस कमरे में घड़ा नहीं हे' तब हम घड़े के अभाव का ज्ञान प्राप्त होता है। अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष धारा नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें एक अनुपस्थित पदार्थ के साथ इन्द्रिय सम्पर्क होना आवश्यक है जो अभाव के ज्ञान में संभव नहीं है। अन्य प्रमाणों धारा भी अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता। अनुपलब्धि प्रमाण एक ऐसे पदार्थ के सम्बन्ध में अभाव का बोध कराता है, जिसका ज्ञान अन्य साधनों से नहीं होता है। हम खाली कमरे का प्रत्यक्ष करते हैं। हम कह सकते हैं कि घड़े के अभाव का भी प्रत्यक्ष उसी प्रकार हुआए जिस प्रकार खाली कमरे का हुआ। तो भी हम अनुपलब्धि की क्रिया तथा प्रत्यक्ष ज्ञान को एक ही स्वीकार कर सकतेए क्योंकि प्रत्यक्ष में किसी वास्तविक पदार्थ का इन्द्रियों के साथ सम्पर्क निहित है। हम खाली जगह को प्रत्यक्ष देखते हैं। उस घड़े का स्मरण करते हैं जो अनुपस्थित है और तब हमें घड़े के अभाव का ज्ञान होता हैए जिसका प्रत्यक्ष की क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण धारा होता है। अभाव को ज्ञान प्रत्यक्ष की क्रिया से सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार अभाव का ज्ञान का एक

विध्यात्मक विशय कहा जाता है। जिसे हम 'खाली कमरा' कहते हैं वह एक ऐसा स्थान हैए जिसे किसी पदार्थ ने घर नहीं रखा है।

–: प्रभाकर कुमारिल भट्ट के उपर्युक्त मत से सहमत नहीं है। उनके अनुसार भूतल पर घट के अभाव में केवल भूमि का ही ज्ञान होता है जो प्रत्यक्ष से सम्भव है। अतएव इसके निमित्त अनुपलब्धि नामक एक प्रमाण–विशेष को ही स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके मत से वस्तुतः अभाव का अपना कोई स्वरूप नहीं है। अभाव तो तदाश्रय मात्र हैए जिसके प्रत्यक्ष से अभाव का ज्ञान उत्पन्न होता है।

–: प्रभाकर धारा कुमारिल भट्ट के अनुपलब्धि प्रमाण पर किये गये आक्षेप का। कुमारिल भट्ट सम्प्रदाय के समर्थकों ने प्रत्युत्तर देते हुए यह कहा है कि तो क्या जब भूमि पर घट वर्तमान रहता हैए तब भूमि के प्रत्यक्ष से घटाभाव की उपलब्धि हो सकती है, यदि वे इस विरोध के निराकरण के लिए यह कहें कि घटाभाव के ज्ञान में सर्वप्रथम भूमि का प्रत्यक्ष होता है और तदुपरान्त त्रितीय क्षण में घटाभाव की उपलब्धि होती है तब उन्हें किसी न किसी रूप में अभाव का अस्तित्व अधिकरण से पृथक स्वीकार करना पड़ेगा। अभाव के प्रतियागी के ज्ञान के बिना केवल अभावरूप में अभाव का ज्ञान होना असंभव है। अभाव सदैव सिकी वस्तु का होता है। जैसे घट का अभाव घटाभाव है। पट का अभाव पटाभाव इत्यादि। इस प्रकार अभाव के साक्षात् ज्ञान में प्रतियोगी का भी ज्ञान अपेक्षित होता है। इसके अतिरिक्त केवल अनुपलब्धि मात्र से किसी वस्तु के अभाव का प्रसंग उपस्थित नहीं होता। उदाहरण के लिए अंधकार में रखे हुए ?ाड़े की अनुपलब्धि को घटाभाव नहीं कहते। अभाव का प्रसंग उसी समय उपस्थित होता है जब किसी वस्तु को प्रकट करने वाली उन सभी सामग्रीयों के होते हुए भी वस्तु की उपलब्धि नहीं होतीए जिन्हें शास्त्र में योग्यानुपलब्धि कहा गया है। इस योग्यानुपलब्धि का वस्तु के प्रतियोगी के ज्ञान के साथ–साथ साक्षात् ज्ञान कराने के लिए बुद्धिमें एक विशेष प्रकार की प्रक्रिया होती है जिसे अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कुमारिल भट्ट सम्प्रदाय के मीमांसक एवं अद्वैत वेदान्ती ने अनुपलब्धि को एक स्वतंत्र प्रमाण माना है।

बोध प्रश्न

1. प्रत्यक्ष प्रमाण क्या है? स्पष्ट करें।
2. अनुमान प्रमाण है? स्पष्ट करें।
3. अर्थापत्रि प्रमाण की व्यख्या करें।

उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन – चटर्जी एवं दत्त
2. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण – डॉ. संगम लाल पाण्डेय

****

इकाई—6

(शंकराचार्य एवं रामानुज)

शंकरए रामानुज एवं मध्व के वेदान्त दर्शन में मोक्ष की अवधारणा

<u>इकाई की रुपरेखा</u>

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में मोक्ष की अवधारणा

6.3 आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष पारमार्थिक दृष्टि से सत् और नित्य है।

6.4 आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष न तो कर्म का फल है और न उपासना का फल है।

6.5 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में मोक्ष प्राप्ति के साधन।

6.6 श्रवण मनन और निदिध्यासन

6.7 आचार्य शंकर के अनुसार 'जीव' के मोक्ष की अवस्था

6.8 आचार्य शंकर के जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति की अवधारणा

6.9 विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज का मोक्ष विषयक विचार

6.10 रामानुज के अनुसार मोक्ष का साधन

6.11 आचार्य शंकर एवं रामानुज के मोक्ष सम्बन्धी विचार में अन्तर

6.12 निष्कर्ष

6.13 बोध प्रश्न

6.14 उपयागी पुस्तकें

6.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में भारतीय दर्शन में जिन चार पुरुषार्थों (धर्मए अर्थए काम और मोक्ष) का विवेचन किया गयाहै। उसमे 'मोक्ष' को मानव जीवन के चरम लक्ष्य माना गयाहै। जिसका यहाँ आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त और रामानुज के विषिश्टाद्वैत के अनुसार विवेचन किया जा रहा है। प्रस्तुत इकाई में आचार्य शंकर एवं रामानुज के अनुसार मोक्ष के स्वरुपए मोक्ष का मानव जीवन में महत्व तथा मनुष्य का मोक्ष के प्रति आकर्षण का निरूपण करने के साथ—साथ उसकी प्राप्ति के साधनों का भी वर्णन किया जा रहा है। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन का उद्देश्य मनुष्य को सांसारिक कष्टों से छुटकारा दिलाना है और यह तब तक संभव नहीं

हैए जब तक वह सांसारिक जीवन के बंधनों से छुटकारा न प्राप्त करे। आचार्य शंकर एवं रामानुज ने अपने वेदान्त में अज्ञान एवं अविद्या को ही मनुष्य के दुःखों का मूल कारण माना हैए किन्तु अविद्या के निवृत्ति के लिए जहाँ आचार्य शंकर ज्ञान–मार्ग को प्रस्तावित किया हैए वहीं रामानुज भक्ति मार्ग को प्रस्तावित करते हैं।

6.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन में भौतिकवादी चार्वाक को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दर्शनों में मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। भौतिकवादी दर्शन होने के कारण चार्वाक आत्मा में अविश्वास करता है और सम्पूर्ण भौतिक जगत् में किसी भी तत्व की नित्य सत्ता नहीं मानता है। चार्वाक दर्शन में आत्मा की सत्ता को भी नित्य नही माना गयाहै तथा नित्य आत्मा में अविश्वास प्रकट किया गया है। चार्वाक दर्शन में जब आत्मा के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर दिया गया है तो ऐसी स्थिति में 'मोक्ष' की प्राप्ति किसे होगी? अतएव आत्मा के खण्डन के साथ ही चार्वाक दर्शन में 'मोक्ष' का भी खण्डन हो जाता है। चावार्क दर्शन के अतिरिक्त जितने भी भारतीय दर्शन हैंए उसमें मोक्ष को मानव के दुःखों से निवृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। सभी भारतीय दर्शन यद्यपि मोक्ष के स्वरूप को लेकर भिन्न–भिन्न विचार व्यक्त करते हैं किन्तु सभी ने मोक्ष की अवस्था को दुःखों से मुक्ति की अवस्था माना है। भारतीय दर्शन में मोक्ष के स्वरूप की केवल चर्चा नहीं की गयी है अपितु मोक्ष के लिए मानव जीवन में पायी जाने वाली उत्कट अभिलाषा का भी विवेचन मिलता है। इसीलिए प्रो0 मैक्समूलर भारतीय दर्शन के विषय में टिप्पणी करते हुए कहतें हैं कि– ''भारत में दर्शन ज्ञान के लिए नहीं बल्कि सर्वोच्च लक्ष्य के लिए थाए जिसके लिए मनुष्य इस जीवन में प्रयत्न'ील रह सकता है।''

विभिन्न भारतीय दर्शन में मोक्ष के स्वरूप का जो निरूपण हुआ हैए उसमें अद्वैत वेदान्त एवं विषिश्टाद्वैत वेदान्त के मोक्ष की अवधारणा का विशेष महत्व है क्योंकि ये दोनों ही विचारधाराएं प्रस्थानत्रयी के आधार पर विकसित होते हुए भी 'मोक्ष' के स्वरूप को लेकर परस्पर भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं। आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में 'मोक्ष' का अर्थ आत्मा एवं ब्रह्म का एकत्व भाव है। अद्वैत वेदान्त में यह माना गया है कि आत्मा का यथार्थ स्वरूप ब्रह्म हैए किन्तु अज्ञान से प्रभावित जीव अपने को ब्रह्म से भिन्न समझने लगता है। जीव को अपने वास्तविक स्वरूप को न समझना ही उसका अज्ञान है और यही जीव के बन्धन का कारण है। इसलिए आचार्य शंकर का यह मानना है कि मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान की प्राप्ति एवं अज्ञान के निरन्तर से ही संभव है। मोक्ष को आचार्य शंकर ने आनन्द की अवस्था कहा हैए क्योंकि जब आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता हैए तब वह ब्रह्म स्वरूप होकर सच्चिदानन्द के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और आत्मा को अखण्ड आनन्द की चरम अनुभूति होती है। आचार्य शंकर आत्मा को स्वभावतः शुद्ध चैतन्य माना हैए जिसमें आत्मा निर्विकार होने के कारण मुक्त होती है। अतएव आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष का अर्थ किसी नयी वस्तु की प्राप्ति नहीं है अपितु प्राप्त को ही प्राप्त करना है। वस्तुतः आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष का अर्थ है– आत्मा का अपने यथार्थ स्वरूप से अभिज्ञ होना। रामानुज के विषिश्टाद्वैत में मोक्ष अर्थ आत्मा एवं ब्रह्म का एकत्व नहीं हैए अपितु ब्रह्म से सादृ'य प्राप्त कर लेना है। यद्यपि रामानुज यह मानते है कि मोक्ष दुःखाभाव की अवस्था है किन्तु मोक्ष की अवस्था में आत्मा ब्रह्म या ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त कर उसके सान्निध्य का सुख सुख प्राप्त करता है। इसलिए रामानुज का यह मानना है कि ईश्वर की

कृपा के बिना 'मोक्ष' असंभव है। रामानुज के अनुसार मोक्ष भक्ति के धारा संभव होता हैए जो ज्ञान और कर्म से उदय होता है। भारतीय दर्शन में मोक्ष के दो रुपों का वर्णन मिलता है।– जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति में मनुष्य जीवन के रहते हुए 'मोक्ष' को प्राप्त कर लेता है और विदेह–मुक्ति में मनुष्य मृत्यु के उपरान्त शरीर से आत्मा का छुटकारा पाने पर मोक्ष को प्राप्त करता है। जीवन्मुक्ति को 'स'ारीर–मुक्ति' भी कहा जाता हैए क्योंकि इस मुक्ति में आत्मा का शरीर से सम्पर्क रहता है, किन्तु विदेह–मुक्ति में आत्मा का शरीर से सम्पर्क समाप्त हो जाता है। अद्वैत वेदान्ती आचार्य शंकर ने जीवन्मुक्ति एवं विदेह–मुक्ति दोनों को ही मान्यता प्रदान की है। रामानुज के अनुसार 'मोक्ष' की प्राप्ति मृत्यु के उपरान्त ही संभव हैए क्योंकि जब तक शरीर वि।मान हैए तब तक जीव मुक्त नहीं हो सकता।

6.2 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में मोक्ष की अवधारणा

आचार्य शंकर ने अपने अद्वैत वेदान्त में 'मोक्ष' को आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति माना है। आत्मा या ब्रह्म नित्य शुद्ध चैतन्य एवं अखण्ड आनन्द स्वरूप है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है और मोक्ष आत्मा का स्वरूप ज्ञान है। आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म एवं मोक्ष एक ही क्योंकि मोक्ष की अवस्था आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप से अभिज्ञ होना है। आचार्य शंकर कहते हैं कि जो ब्रह्म को जानता हैए वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है– 'ब्रह्मवेद ब्रह्मवैद भवति'। आचार्य शंकर का यह मानना है कि ब्रह्म ज्ञान और ब्रह्म भाव एक है। आचार्य शंकर का यह स्पष्ट अभिमत है कि वस्तुतः 'जीव' ब्रह्म होता या बनता नहीं हैए ब्रह्म ज्ञान में कोई क्रिया नहीं हैए क्योंकि 'जीव' मूल रूप से ब्रह्म ही है। आचार्य शंकर के मोक्ष सम्बन्धी विचार का मूलाधार उनका अद्वैतवादी दृष्टिकोण है। उनका यह मानना है कि 'जीव' का जीवत्व अविद्याजन्य है। अविद्या के कारण 'जीव' देहान्द्रियान्तःकरणादि से तादात्म्य कर लेता है और अंहकार–ममकार युक्त होकर स्वयं को शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ताए सुख– दुःख रुपी कर्म फूल का भोक्ता मानकर जन्म मरण चक्र में संसरण करता है। यही 'जीव' का बन्धन है। जब आत्मज्ञान धारा अविद्या की निवृत्ति हो जाती हैए तो 'जीव' नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त ब्रह्म भाव को प्राप्त कर लेता है। यह 'जीव' की बंधन से मुक्ति है। परन्तु ब्रहमात्मैक्य के त्रिकाल सिद्ध और नित्य होने के कारण जीव न तो बन्धन होता है और न ही मोक्ष। वास्तविकता यह है कि केवल 'जीव' को अविद्या से ही मुक्ति मिलती हैए अविद्या का ही निरसन होता है। अविद्या भ्रान्ति हैए अतएव अविद्या का आवागमन उसकी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों भ्रान्ति रूप है। बन्धन एवं 'मोक्ष' दोनों ही व्यावहारिक हैए इसलिए पारमार्थिक दृष्टि से दोनों ही मिथ्या है। यही कारण है कि आचार्य शंकर ब्रह्म साक्षात्कार, अविद्या–निवृत्तिए प्रपंच्च विलय और मोक्ष प्राप्ति ये सब एक हैं। आचार्य शंकर के अनुसार अविद्या–निवृत्ति और ब्रह्मभाव या मोक्ष मे कार्यान्तर नहीं है। आत्मज्ञान मोक्ष को फल या कार्य के रूप में उत्पन्न नहीं करता। 'मोक्ष' प्रतिबन्ध रूप अविद्या की निवृत्तिमात्र ही आत्मज्ञान ब्रह्म का प्रकाशक या ज्ञापक होता हैए कारक नहीं क्योंकि ज्ञान क्रिया नही है। अतएव ज्ञान का फल अज्ञान की निवृत्ति मात्र है जो ज्ञान के प्रकाश से स्वतः हो जाती है, जैसे प्रकाश से अंधकार की निवृत्ति होती है। मोक्ष नित्य सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म या आत्मा की अपरोक्षानुभूति है। मोक्ष किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं हैए मोक्ष आत्मभाव हैए जो सदा प्राप्त है। शंकर ने मोक्ष के तीन लक्षण बतलायें हैं।

1. 'अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः अर्थात मोक्ष अविद्या निवृत्ति है।
2. ब्रह्मभाव'च मोक्षः अर्थात ब्रह्मभाव या ब्रह्म साक्षात्कार मोक्ष है।

3. नित्यमशरीरत्वं मोक्षः अर्थात मोक्ष नित्य अशरीरत्व है।

आचार्य शंकर ने 'मोक्ष' में जिन तीन लक्षणों को सम्मिलित किया हैए उसमें इस बात का वर्णन किया जा चुका है कि 'मोक्ष' अविद्यानिवृत्ति और ब्रह्मभाव की अवस्था है। परन्तु 'मोक्ष' का एक और लक्षण बताया गया हैए जिसमें यह कहा गया है कि मोक्ष नित्य अ'ारीरत्व है। इस लक्षण के धारा आचार्य शंकर यह बताने का प्रयास किये हैं कि 'मोक्ष' स्थूलए सूक्ष्म एवं कारण इन तीनों प्रकार के शरीरों के सम्बन्ध से अत्यन्त रहित नित्य आत्म स्वरूप का अनुभव है। यहाँ आचार्य शंकर के धारा 'अशरीर' का अर्थ शरीर रहित होना नहीं है अपितु शरीर सम्बन्ध रहित होना है। यही कारण है कि आचार्य शंकर 'जीवन्मुक्ति' का साग्रह प्रतिपादन करते हैं।

6.3 आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष पारमार्थिक दृष्टि से सत् एवं नित्य है।

आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष परमार्थतः सत् हैए कूटस्थ नित्य है आकाश के समान सर्वव्यापी हैए सब प्रकार के विकार से रहित हैए नित्य वृत्त है, निरवयव हैए स्वंय ज्योति स्वभाव है यह धर्म और अधर्म नामक कर्मों से तथा (सुख–दुःख रुपी) उनके कार्यों से अस्पष्ट है और कालत्रयातीत है। यह मोक्ष की अशरीरत्व अवस्था है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि मोक्ष पारमार्थिक दृष्टि से सत् है, क्योंकि 'बन्धन' और 'मोक्ष' अविद्याकृत होने के कारण सापेक्ष और मिथ्या हैं, किन्तु परब्रह्म या परमात्मतत्व के रूप में मोक्ष पारमार्थिक सत् है। वास्तविकता यह है कि आचार्य शंकर को बन्धन सापेक्ष मोक्ष अभिप्रेत नहीं है। आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म ही 'मोक्ष' अर्थात नित्य मुक्त परमार्थ है। यह कूटस्थ नित्य है क्योंकि इसमें किसी प्रकार का परिवर्तनए परिणाम या विकार संभव नहीं है। मोक्ष आप्तकाम और नित्य अखण्ड आनन्द की अवस्था है। यह ज्ञाता ज्ञेय–ज्ञान की त्रिपुटी से परे की अवस्था है। मोक्ष का ज्ञान और आनन्द स्वसंवे। नहीं हैए अपितु यह स्वयं शुद्ध चैतन्य और आनन्द है। यह अद्वैतए निरवय और अखण्ड है। यह स्वयंज्योतिए स्वप्रकाश एवं स्वयंसिद्ध है। यह त्रिकालातीत होने के कारण अविद्या कर्म (धर्म और अधर्म) फल (सुख तथा दुःख) और शरीरेन्द्रियविषयादि से सर्वथा अस्पृष्ट है। यह लौकिक सुख–दुःख से अतीत है। यह अशरीर आत्मा है। आत्मा और शरीर का सम्बन्ध अविद्याजन्य है। यह शरीराध्यास के कारण हैए मिथ्याज्ञाननिमित्त है। अतः अविद्या निवृत्ति होने पर शरीराध्यास भी निवृत्त हो जाता है तथा शरीर के रहने पर भी अशरीर सम्बन्ध की अत्यान्तिक निवृत्ति के कारण अशरीरतत्व सिद्ध होता है एवं जीवन्मुक्ति सिद्ध होती है। इसीलिए मोक्ष को स्वातंत्रयए स्वराज्यए अभयपद तथा परम पुरुषार्थ कहा जाता है।

6.4 आचार्य शंकर के अनुसार 'मोक्ष' न तो कर्म का फल है और न ही उपासना का फल है

आचार्य शंकर यह मानना है कि यदि 'मोक्ष' को कार्य या फल के रूप में स्वीकार किया जाए तो यह निश्चित रूप से अनित्य होगा। इसलिए आचार्य शंकर मोक्ष को नित्य आनन्द मानते हैं और इसे लौकिक तथा पारलौकिक सुखों से भिन्न तथा अत्यन्त उत्कृष्ट मानते हैं। आचार्य शंकर का यह मानना है कि लौकिक एवं स्वर्गिक सुख कर्मजन्य हैं, वे सत्कर्म या धर्म की पुण्य नामक शक्ति से उत्पन्न होते हैं तथा पुण्य के समाप्त हो जाने पर वे सुख भी समाप्त हो जाते हैं। आचार्य शंकर

का यह कहना है कि स्वर्गिक सुख भले ही चिरस्थायी हों किन्तु वे विनाशशील और अनित्य हैं यदि मोक्ष को कर्म या उपासना धारा उत्पन्न माना जाये तो वह निश्चित ही नश्वर और अनित्य होगा भले ही उसे लौकिक या स्वर्गिक सुखों से अधिक चिरस्थायी और श्रेष्ठ माना जाय। पुनश्च मोक्ष को ब्रह्मज्ञान धारा उत्पन्न फल भी नहीं स्वीकार किया जा सकता। प्रथम कार्य होने से 'मोक्ष' अनित्य होगा और त्रितीय ज्ञान प्रकाशक होता है, कारक नहीं। ब्रह्मज्ञान केवल मोक्ष प्रतिबन्धभूत अविद्या को निवृत्त करता है, मोक्ष को उत्पन्न नहीं करता। वास्तविकता यह है कि ब्रह्मज्ञानए अविद्या–निवृत्त और मोक्ष एक ही है और एक साथ होते हैं एवं उनमें कार्यान्तर नहीं होता है। आचार्य शंकर का यह कहना है कि उपासना या ध्यान के समान शुद्ध ज्ञान मानसी क्रिया नहीं है। यह अपरोक्षानुभूति हैए क्योंकि अद्वैत वेदान्त स्वप्रकाश ब्रह्म को अविषय बताते हुए अविद्या कल्पित वेदक वेद्य–वेदना की त्रिपुटी से परे स्वानुभूतिगम्य बताता है। आत्म ज्ञान का फल मोक्ष प्रतिबन्धभूत अविद्या की निवृत्तिमात्र है।

6.5 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में मोक्ष प्राप्ति के साधन

आचार्य शंकर ने 'मोक्ष' के स्वरूप का विवेचन करने के साथ–साथ मोक्ष की प्राप्ति के लिए मुमुक्ष को किस प्रकार का आचरण करना होगाए इस प्रश्न पर भी विचार किया है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि यद्यपि ज्ञान के धारा अनादि अविद्या से आबद्ध जीव को अविद्याजन्य संस्कारों से मुक्त होने में सहायता मिलती है किन्तु यदि साधना से चित्त निर्मल न किया जाए तो केवल वेदान्त में बताये गये सत्य मात्र से 'मोक्ष' की प्राप्ति संभव नहीं हो सकती है तथा सम्पूर्ण वेदान्त की शिक्षा ही निष्फल हो सकती है। इसलिए आचार्य शंकर का कहना है कि वेदान्त अधिकारी हुए बिना कोई भी मनुष्य आत्म साक्षात्कार नहीं कर सकता। आचार्य शंकर वेदान्त अधिकारी होने के लिए मनुष्य के धारा साधन–चतुष्टय को अपने जीवन में अपनाने की आवश्यकता पर बल दिया है। वेदान्त को ज्ञान के इन चार साधनों को अपनाने के पश्चात् आत्मसाक्षात्कार हो सकता है। आचार्य शंकर ने जिन 'साधन–चतुष्क्ट्य' का उल्लेख किया हैए वे इस प्रकार हैं–

'नित्यानित्य–वस्तुविवेक' के धारा आचार्य शंकर यह स्पष्ट करते हैं कि साधक को पहले नित्य (आत्मा) और अनित्य (नश्वर सांसारिक वस्तुओं के भेद) पदार्थों की विवेचना करनी चाहिए और उनके बीच के भेद को समझना चाहिए।

'इहामुत्रार्थ फलभोग–विराग' के त्रार आचार्य शंकर का स्पष्ट करते हैं कि साधक को लौकिक एवं परालौकिक फल भोगों की कामना का परित्याग करके अपने कर्मों का सम्पादन करना चाहिए।

'शमदमादिशद्सम्पति' के धारा आचार्य शंकर यह स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के लिए साधक को 'शम' अर्थात् मानसिक संयम 'दम' अर्थात इन्द्रिय–निग्रह 'श्रद्धा' अर्थात वेदों एवं गुरुओं के प्रति अटूट निष्ठाए समाधान अर्थात् चित्त को ज्ञान के साधनों में लगानाए उपरित अर्थात मनोवृत्तियों का बर्हिर्मुखी न होना तथा दुष्ट कर्मों से सदा दूर रहना। दूसरे शब्दों में विक्षोपकारी कार्यों से विरत होने को उपरति कहते हैं। 'तितिक्षा' अर्थात सर्दी एवं गर्मी को सहन करने का अभ्यास कहना चाहिए।

'मुमुक्षत्व' अर्थात साधक को 'मोक्ष' प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प होना चाहिए।

आचार्य शंकर का यह मानना है कि उपर्युक्त चार साधनों से युक्त होने पर ही कोई भी साधक वेदान्त का अधिकारी बनता है।

6.6 श्रवण–मनन और निदिध्यासन

आचार्य शंकर का यह मानना है कि 'साधन–चतुष्टय' के धारा वह इन्द्रियए मन तथा वासनाओं पर विजय प्राप्त कर लेने वाले वेदान्त के साधक को यह चाहिए की वह ऐसे गुरु से शिक्षा ग्रहण करें जो स्वयं है कि मोक्ष की इच्छा रखने वाले साधक (मुमुक्षत्व) के लिए यह आवश्यक है कि वह श्रवण–मनन और निदिध्यासन के धारा ब्रह्भाव के साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करें। आचार्य शंकर के अनुसार श्रवण का अर्थ है गुरु केक उपदेश को श्रद्धापूर्वक सुनना 'मनन' का अर्थ है– गुरु के उपदेशों पर युक्तिपूर्वक विचार करना और निदिध्यासन' का अर्थ हैए गुरु उपदिष्ट सत्य पर निरन्तर ध्यान करनाद्यस इस प्रकार आचार्य शंकर का यह मानना है कि श्रवण मनन एवं निदिध्यासन के धारा वेदान्त के अधिकरी साधक में ब्रह्मज्ञान की स्थिति पैदा होती है उसके सारे अज्ञान का क्षय हो जाता है और वह 'अहंब्रह्स्मि' के बोध से युक्त हो जाता है। यह स्थिति ब्रह्म एवं आत्मा के पूर्ण तादात्म्य की स्थिति होती है।

6.7 आचार्य शंकर के अनुसार जीव के मोक्ष की अवस्था

आचार्य शंकर का यह मानना है कि पूर्व के संचित संस्कार इतने प्रबल होते है कि मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात् भी वेदान्त के अधिकारी साधक को ब्रह्मविद्या के अनुशीलन तथा तदनुकूल आचरण के अभ्यास से ही क्रमशः उन संस्कारों का भी क्षय हो जाता है जो आत्मा और ब्रह्म के अभेद की अवस्था का सदा अपरोक्षानुभूति कराते हैं। यह अवस्था मुमुक्ष के 'तत्वमसि' के रूप में गुरु से प्राप्त उपदेश का एकाग्र चित्त से सत्य की अनुभूति की अवस्था होती है और अन्ततः मुमुक्ष आत्म साक्षात्कार करके 'अहं ब्रह्मास्मि' (अर्थात मै ब्रह्म हूँ) की चेतना से युक्त हो जाता है। इस अवस्था में जीव और ब्रह्म का मिथ्या भेद पूर्णतया समाप्त हो जाता है और उसे सांसारिक बन्धनों से भी पूर्णतया मुक्ति मिल जाती है तथा 'मोक्ष' का साक्षात् अनुभव होता है।

6.8 आचार्य शंकर की जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति की अवधारणा

आचार्य शंकर मोक्ष के दो रुपों में स्वीकार करते हैं जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। आचार्य शंकर का यह मानना है कि मोक्ष के बाद भी शरीर रह सकता हैए क्योंकि यह प्रारब्ध कर्मो का फल है किन्तु 'मोक्ष' को प्राप्त मुक्तात्मा कभी उसके सामने रहता हैए किन्तु वह उससे ठगा नही जाता। सासांरिक विषयों के हेतु से उसे तृष्णा नहीं होती। अतएव उसे किसी प्रकार का दुःख नहीं होता है। वह संसार में रहते हुए भी उससे निर्लिप्त रहता है। शंकर यह विचार परवर्ती वेदान्त साहित्य में 'जीवन्मुक्ति' के नाम से विख्यात है। जीवन्मुक्ति का अर्थ है जीवन रहते हुए मुक्ति पा जाना। इस प्रकार आचार्य शंकर का यह दिखलाते हैं कि जब मुक्तात्मा को तत्वज्ञान होने पर उसके संचित कर्म का क्षय तथा क्रियामाण कर्म का निवारण हो जाता है तो वह पुर्नजन्म से छुटकारा पा जाती है किन्तु

प्रारब्ध कर्म का निवारण नहीं हो पाता है। उसका प्रारब्ध भोग करने के लिए यह शरीर (जो प्रारब्ध का फल है) रह जाता है और जब प्रारब्ध की शक्ति समाप्त हो जाती हैए तब उसका भी अन्त हो जाता है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि जब स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का अन्त हो जाता है तो मोक्ष की अवस्था होती हैए उसे विदेह मुक्ति कहते हैं। इस प्रकार आचार्य शंकर का यह स्पष्ट अभिमत है कि आध्यात्मिक साधना के फलस्वरूप जब मनुष्य संसार में रहते हुए इसी जीवन में ब्रहमज्ञान प्राप्त करके समस्त सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है तो इस मुक्तावस्था को शंकर के परवर्ती अद्वैतवेदान्ती 'जीवन्मुक्ति' की संज्ञा देते हैं। इस अवस्था में मनुष्य सांसारिक कर्म करते हुए उसमें आसक्त न होने के कारण उनके प्रभाव से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति मनुष्य अपने समस्त कर्मो को लोक संग्रह या लोककल्याण के लिए करता है। परन्तु जीवन्मुक्ति को शंकर मोक्ष का प्रथम सोपान मानते हैं उसकी अन्तिम अवस्था नहीं। वस्तुतः शंकर के अनुसार मोक्ष की अन्तिम अवस्था 'विदेह—मुक्ति' है। इस विदेह मुक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि —संचितए प्रारब्ध एवं संचीयमानए इन सभी प्रकार के कर्मो और स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर का अन्त हो जाने पर जब मुक्तात्मा जन्म—मरण के सांसारिक चक्र से मुक्त होकर सच्चिदानन्द अविनाशी ब्रह्म के एकाकार हो जाता है, तो इस अवस्था को विदेहमुक्ति कहा जाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि शंकर की मोक्ष विषयक अवधारणा कहाँ तक प्रासंगिक है? इस प्रश्न के उत्तर में कुछ आलोचकों का यह कहना है कि यद्यपि शंकर के धारा मुक्तावस्था को विशुद्ध चैतन्यस्वरूप तथा अखण्ड आनन्द से परिपूर्ण अवस्था मानना बड़ा ही आकर्षक लगता हैए किन्तु मोक्ष की अवस्था में आत्मा का ब्रह्म से एकाकार हो जाना उचित नहीं प्रतीत होता है। आचार्य शंकर ने मोक्ष के स्वरूप को जिस रूप में निरुपित किया है उसमें आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का ही लोप हो जाता है। ऐसी मुक्तावस्था मृत्यु से भिन्न नहीं होगी। अतएव कोई भी व्यक्ति इस प्रकार के मोक्ष को अपने जीवन का आदर्श नहीं बन सकता। परन्तु वास्तुविकता यह है कि इस प्रकार का आक्षेप वे ही लोग मानते हैं जो आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व के समर्थक हैं। शंकर आत्मा को ब्रह्म से भिन्न नहीं मानते हैं। उनका उद्देश्य ही रहा है। कि जीव को जन्म मरण के चक्र से मुक्ति दिलायी जाए। यह मुक्ति बिना जन्म—मरण के प्रवाह के रुके संभव नहीं है। यही कारण है कि शंकर के मोक्ष की अवधारणा भारतीय मनीशियों के लिए आकर्शण का विशय रही है और रहेगी।

6.9 विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज का मोक्ष विषयक विचार

शंकर की ही शांति विषिश्टाद्वैतवादी रामानुज भी 'मोक्ष' को मानव जीवन का परमलक्ष्य मानते हैं। रामानुज भी यह स्वीकार करते हैं कि अविद्या ही आत्मा या जीव के समस्त बन्धनों एवं दुःखों का मूल कारण है। इसी अविद्या के कारण जीव में अहंकार उत्पन्न होता है, जो उसे जन्म मरण के सांसारिक चक्र में आबद्ध कर देता है। सभी प्रकार के कर्मो तथा अविद्या के विनाश के धारा ही जन्म मरण के इस चक्र और समस्त सांसारिक बन्धनों तथा दुःखों से मुक्ति संभव है।

रामानुज के अनुसार बन्धन से छुटकारा पाने का नाम ही मोक्ष है। मोक्ष अप्राप्त की प्राप्ति है। रामानुज के अनुसार मोक्ष प्राप्त होने पर मुक्तात्मा ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त करता है, यद्यपि वह उसकी तदूपता को नहीं प्राप्त करता है। मुक्तात्मा ब्रह्मभाव को तो प्राप्त होता है, किन्तु उसका पृथक व्यक्तित्व बना रहता है। उसका व्यक्तित्व ब्रह्म में विलीन नहीं होता। रामानुज के अनुसार मुक्ति का

अर्थ जीवात्मा का शुद्ध निर्मल ज्ञान से युक्त होना तथा दोषरहित होकर ब्रह्म सदृश होना है। जीव मोक्ष की अवस्था में ब्रह्म सायुज्य लाभ करता है, सारुप्य लाभ नहीं जैसा कि अद्वैत वेदान्त में स्वीकार किया गया है।

रामानुज का यह मानना है कि मुक्ति वर्तमान देहपात के अनन्तर ही संभव हैं। यही कारण है कि रामानुज वेदान्त के सत्रन्मुक्ति को अस्वीकार कर देते हैं और क्रम मुक्ति को मानते हैं। उनका कहना है कि मरने के बाद पुण्यात्मा जीव देवयान मार्ग से ब्रह्म लोक को प्रयाण करता है और वहाँ वह बैकुण्ठ धाम में प्रवेश करता है और भगवान की नित्य लीला में भागीदार होकर ज्ञान तथा आनन्द प्राप्त करता है।

रामानुज का यह भी मानना है कि मुक्ति सभी कर्मो के क्षीण हो जाने पर तथा भौतिक शरीर के पात के अनन्तर ही संभव है। यह विदेह मुक्ति की अवस्था है। रामानुज के अनुसार विदेह मुक्ति में भी जीव यद्यपि दोष युक्त प्राकृतिक शरीर से मुक्त हो जाता है, वह एक निर्दोश शरीर को धारण करता है जो शुद्ध सत्व से निर्मित है।

रामानुज मुक्तात्माओं को दो वर्ग रखते हैं नित्य मुक्त एवं मुक्त। नित्य आत्माएं वे आत्माएं है जो कभी बन्धन में नहीं आती। मुक्तात्मा वे हैं जो कभी बन्धन में थे, किन्तु अब उनका बन्धन समाप्त हो चुका है। इसमें मुक्तात्मा को स्वराट् कहा जाता है।

परन्तु रामानुज के सम्मुख भी यह प्रमुख समस्या थी कि जीव को बन्धन में डालने वाली अविद्या का नाश कैसे हो? रामानुज अविद्या का विनाश के लिए 'भक्ति' को मोक्ष का प्रमुख साधन बतलाते हैं। रामानुज का मानना है कि शंकर का ज्ञानमार्ग जन सामान्य के लिए बड़ा ही दुर्बोध है। ऐसी स्थिति में भक्ति मार्ग एक ऐसा मार्ग है, जिसके धारा जनसामान्य भी इस भवसागर से त्राण् पा सकते हैं। रामानुज का मानना है कि भक्ति के अंग रूप में कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं ध्यानयोग हैं। कर्मयोग से सत्वशुद्धि होती है। सत्वशुद्धि से ज्ञानयोग होता है और ज्ञानयोग के बाद भक्ति का उदय होता है। भक्ति ईश्वर के प्रति अनुरक्ति है। वह साधनसप्तक से लभ्य है। ये साधन हैं– विवेकए विमोकए अभ्यासए क्रियाए कल्याणए अनवसादए तथा अनुद्धर्श। कार्यशुद्धि विवेक है। काम–क्रोधादि से मुक्त होना विमोक है। अन्तर्यामी का सतत् ध्यान करना अभ्यास है। कर्त्यव्य पालन करना क्रिया है। सत्यए दान और अहिंसा का पालन करना कल्याण है। दुःख से रहित होना 'अनवसाद' है। असन्तोष एवं अतिसंतोष के मध्य की वृत्ति रखना अनद्धर्ष है। इन साधनों से सम्पन्न जीव भगवान का नित्य ध्यान करता है और ईश्वर के कृपा का पात्र होता है।

6.10 रामानुज के अनुसार मोक्ष का साधन

रामानुज का मानना है कि मुक्ति ईश्वर की कृपा से संभव है। अतएव जीव ईश्वर के प्रति पूर्ण प्रेममय आत्म सर्म्पूण के धारा उनकी कृपा का पात्र हो सकता है। अराध्य ईश्वर के प्रति इसी पूर्ण शरणागति स्थिति के 'प्रपत्ति' की संज्ञा दी जाती है। प्रपत्ति के छः अंग हैं– (1) 'अनुकूलस्य संकल्पः' ईश्वरेच्छा का पालन है। (2) 'प्रतिकूलस्य वर्जनम्' ईश्वर को जो अप्रिय है, उसका त्याग है। (3) भगवान के अनग्रह में अटूट विश्वास रखना 'महाविश्वास' है। (4) कार्पण्य का अर्थ है– ज्ञानए कर्म एवं भक्ति करने की असमर्थता का भावोदय। (5) 'गोप्तत्व'–वरण' भगवान को

पाना या तारक के रूप में वरण करना तथा (6)'आत्मनिक्षेप' का अर्थ है भगवान के प्रति आत्मसमर्पण।

परन्तु रामानुज का मानना है कि भक्ति का यह रूप निष्काम होना चाहिए। निश्काम भक्ति एवं प्रपत्ति धारा प्रसन्न होकर ईश्वर जीव के समस्त क्लेशों एवं बन्धनों का नाश करता है तथा ईश्वर की कृपा के फलस्वरूप उसे मोक्ष प्राप्त होता है। यही कारण है कि रामानुज कहते हैं कि ईश्वर की भक्ति के लिए 'दास्यभाव' अनिवार्य हैं अर्थात भक्त को अपने को ईश्वर का दास मानकर ही उसकी भक्ति को करना चाहिए।

6.11 आचार्य शंकर एवं रामानुज के मोक्ष सम्बन्धी विचार में अंतर

'मोक्ष' के स्वरूप को लेकर शंकर एवं रामानुज परस्पर भिन्न–भिन्न विचारों का प्रतिपादन करते हैं। शंकर का यह मानना है कि 'मोक्ष' की प्राप्ति में ब्रह्म के साथ मुक्तात्मा का पूर्ण तादात्म्य या पूर्ण अभेद हो जाता है किन्तु शंकर के मत को रामानुज अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि – ''मोक्ष प्राप्ति के बाद जीव ईश्वर के स्वरूप एवं गुणों को प्राप्त करके उसके समान हो जाता हैए परन्तु उसका ईश्वर या ब्रह्म के साथ तादात्म्य नहीं होता। वह ईश्वर के गुणों से युक्त होकर उसके सदृश हो जाता है। आचार्य शंकर विदेह–मुक्ति और जीवन्मुक्ति दोनों को ही अपने दर्शन में मान्यता प्रदान करते हैं। तथा जीवन्मुक्ति को मोक्ष का प्रथम सोपान मानते हैं, जबकि रामानुज अपने विशिष्टाद्वैतवाद में 'विदेह–मुक्ति' को ही मान्यता प्रदान करते हैं। रामानुज एवं उनके समर्थक वैष्णव दार्शनिकों का यह मानना है कि मोक्ष प्राप्ति के फलस्वरूप जीव के समस्त बन्धनों एवं क्लेशों का आत्यान्तिक क्षय हो जाता है और वह सदैव ईश्वर के सान्निध्य का महान आनन्द प्राप्त करता है। इसे ही वैष्णव दर्शन में 'सायुज्य–मुक्ति' कहा जाता है।

रामानुज के विषिश्टाद्वैतमें वर्णित मोक्ष में मृत्यु अनिवार्य है। मोक्ष विषयक यह संकल्पना मनुष्य को उसके वर्तमान जीवन में दुःख से निवृत्ति का कोई आश्वासन नहीं देती है। ऐसी स्थिति में मोक्ष की यह संकल्पना भी मानव जीवन का उच्चतम आदर्श नहीं बन सकती। परन्तु इस प्रकार का आक्षेप लगाने वाले वही लोग है जिन्होंने जीवन की गहराईयों में उतर कर नहीं झाँका है। वास्तविकता यह है कि समकाल में भारत में ही नहीं अपितु पाश्चात्य जनमानस में भी मानवीय जीवन क्लेशों से त्राण का एक मात्र मार्ग आध्यात्मिक तृप्ति में ही दिखलायी पड़ रहा है। ऐसी स्थिति में कोई भी ऐसा तत्वज्ञानी नहीं होगा जो जन्म मरण के अत्यन्त दुःखदायी प्रवाह से मुक्ति नहीं प्राप्त करना चाहेगा।

आचार्य शंकर सद्यःमुक्ति का प्रतिपादन करते हैं और क्रममुक्ति को अस्वीकार करते हैं। आचार्य शंकर का मानना है कि ज्ञान होते ही मुक्ति 'स।ःमुक्ति' है। स।ःमुक्ति के विपरीत क्रममुक्ति शनैः–शनैः प्राप्त होती है। आचार्य शंकर के विपरीत रामानुज क्रममुक्ति में विश्वास करते हैं। 'क्रममुक्ति' में जीव देवयान मार्ग से ब्रह्म तक पहुँचने में अनेक आर्य स्थान से गुजरता है और तब वह अन्तिम सोपान तक पहुँचता है। क्रममुक्ति केवल प्रलयपर्यन्त तक रहती है। यह सापेक्षिक मुक्ति है। वास्तव में यह यथार्थ मुक्ति नहीं हैए बल्कि एक प्रकार से मुक्ति तक पहुँचने का एक लम्बा पड़ाव है। वास्तविक मुक्ति 'स।ःमुक्ति' है जो ज्ञानोदय के साथ हो जाती है। स।ःमुक्ति प्राप्त जीवात्मा पुनः भवचक्र में नहीं पड़ता है।

6.12 निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर अद्वैत वेदान्त एवं रामानुज के विषिश्टाद्वैतवेदान्त में मानव जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में 'मोक्ष' को मान्यता प्रदान किया गया है। आचार्य शंकर एवं रामानुज दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि सांसारिक विषय परस्पर विरोधी और अनित्य होने के कारण चरम सत्य और परमार्थ नहीं समझे जा सकते हैं। उनका वास्तविक तत्व वह परमार्थ है जिसके अनुरूप हमें अपने जीवन को बनाना है। वेदान्त जिस नैतिक और आध्यात्मिक साधनों को मानव जीवन में अपनाने को बल देता हैए उसका लक्षण है– आत्मदर्शन या ब्रह्म साक्षात्कार अर्थात सब विषयों में ब्रह्म की सत्ता को देखना। सभी जीव एक हैं, सभी भूतों में एक ही आत्मा या सत्ता हैए अद्वैत वेदान्त के ये आदर्श मानव जीवन के लिए एकता का संदेश देते हैं तथा उसे सद्गुणों के विकास के लिए सदैव प्रेरित करते हैं। वास्तविकता यह है कि यद्यपि शंकर एवं रामानुज के वेदान्त में मोक्ष के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के साधनों को लेकर मतभेद हैए किन्तु दोनों ही इस बात को लेकर एकमत हैं कि मोक्ष की अवस्था में जीवन–मरण का वह प्रवाह रुक जाता हैए जो जीव को प्रपंचात्मक जगत् में लिप्त रखता है तथा उसे बन्धनग्रस्त बनाता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि मोक्षावस्था एक ऐसी अवस्था हैए जिसमें जीव अखण्ड आनन्द का लाभ उठाता हैए मनुष्य के लिए मूल्यवान आदर्श है तथा स्वागत योग्य है।

6.13 बोध प्रश्न

1. आचार्य शंकर के मोक्ष विषयक अवधारणा का विवेचन कीजिए।
2. आचार्य रामानुज के मोक्ष विषये अवधारणा का विवेचन कीजिए।
3. आचार्य शंकर एवं रामानुज के मोक्ष विषयक अवधारणा का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।
4. आचार्य शंकर एवं रामानुज के अनुसार मोक्ष के स्वरूप तथा उसके प्राप्ति के साधनों का विवेचन कीजिए।

6.14 उपयोगी पुस्तकें

3. भारतीय दर्शन – चटर्जी एवं दत्त
4. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण – डॉ. संगम लाल पाण्डेय

****